स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

स्वर्णिम संग्रह 3

बिहार योग परम्परा के मौलिक प्रकाशनों का संकलन



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

स्वर्णिम संग्रह 3



WORLD YOGA CONVENTION 2013

GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA

23rd–27th October 2013

स्वर्णिम संग्रह 3

बिहार योग परम्परा के मौलिक प्रकाशनों का संकलन



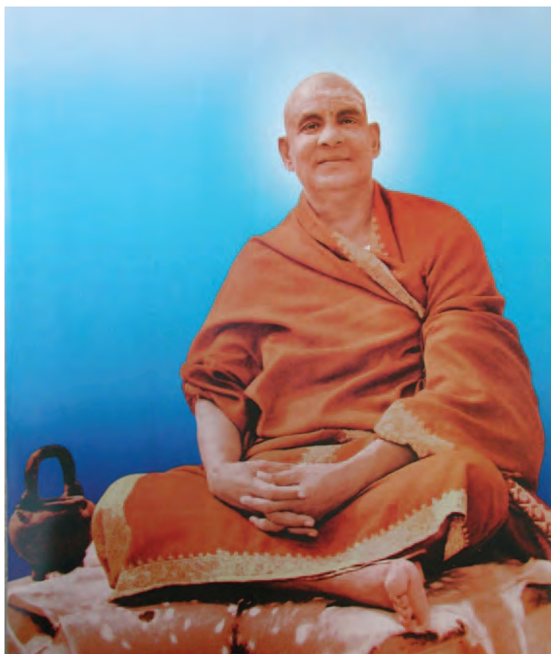
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रथम प्रकाशन 2013

ISBN: 978-93-81620-59-5

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

समाधि विद्या

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

अंतर्राष्ट्रीय योग मित्रमण्डल द्वारा प्रकाशन – 1962

बिहार योग विद्यालय द्वारा प्रकाशन – 2013

सम्पादिका – माँ योगशक्ति



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

समाधि विद्या

योग और समाधि पर
स्वामी सत्यानन्द जी का दिव्य-प्रसाद

सन् 1961 में स्वामी सत्यानन्द जी ने छपरा, बिहार में कुछ अंतरंग अनुयायियों को पातंजल योग सूत्रों का गहन अध्ययन कराया था। सन् 1962 में अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्रमण्डल, राजनाँदगाँव द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक उन्हीं सुबोध, सारगर्भित सत्संगों का क्रमबद्ध संकलन है। योग के सभी गंभीर साधकों के लिए यह योग-भाष्य गहन चिंतन, मनन और अनुशीलन के सर्वथा योग्य है।

– *सम्पादक*

आभार-प्रदर्शन

हमें इस अवसर पर दीवान बहादुर केदारनाथ गोयनका को हार्दिक धन्यवाद देते हुए प्रसन्नता हो रही है, जिनके सहयोग से 'मंगनीराम बैजनाथ गोयनका चैरिटेबुल ट्रस्ट सोसायटी' (मुंगेर) की निधि से समाधि-विद्या पर यह पुस्तक मुमुक्षओं को आप्यायित करने के लिए प्रकाशित की गई।

इस पुस्तक का मूल्य निर्धारित किया गया है –

प्रभु-भक्ति,
मानव-सेवा,
धर्मयज्ञ में आपकी सद्भावना।

इन्टरनैशनल योग फैलोशिप,
राजनाँदगाँव (दुर्ग) मध्यप्रदेश

सत्यव्रत ब्रह्मचारी,
जनरल सेक्रेटरी



दो शब्द

गत वर्ष (1961) सितम्बर में परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी ने रायबहादुर बृजबिहारी प्रसाद (छपरा) के घर पर अन्तरंग सभा में योगविद्या पर प्रवचन दिए और महर्षि पतंजलि के सुप्रसिद्ध योग-सूत्रों का अध्ययन कराया। पातंजल योग-सूत्रों पर विषय-क्रम से प्रकाश डालते हुए पूरी कोशिश की गई है कि प्रस्तुत संस्करण में कोई भी सूत्र न छूट पाए। अत: यह कहा जा सकता है कि इस पुस्तकाकार निबन्ध में योग-सूत्रों को ही बड़ी सावधानी से विषय-क्रम से समझाया गया है, जिससे विद्वान् पाठक योग-सूत्रों का अध्ययन नए ढंग से कर सकें।

हमारे परम सहयोगी दीवान बहादुर केदारनाथ गोयनका जी के अनुरोध से श्रीमाता जी ने यह पुस्तक प्रकाशन के लिए तैयार की तथा उन्हीं के सहयोग से 'मंगनीराम बैजनाथ गोयनका चैरिटेबुल ट्रस्ट सोसाइटी' (मुंगेर) की आर्थिक सहायता प्राप्त कर भक्तों के हेतु छपवाई है।

माँ योगशक्ति के सुपुत्र और स्वामी सत्यानन्दजी के दो प्रिय शिष्यों – रंजन और सुनील (जिन्हें स्वामी जी प्रेम से 'अमरूद और केला' कह कर पुकारते हैं) ने पुस्तक की प्रेस-प्रतिलिपि और ब्लॉक के डिजाइन तैयार करने में जो मदद दी, उसके लिए हम उनके आभारी हैं; उनका मंगल हो।

'समाधि विद्या' का यह संस्करण स्वामी जी के दो छोटे और प्रिय भक्तों – शिशिर कुमार और रंजन को समर्पित है कि यह उनके लिए गुरु का आशीर्वाद साबित हो।

– गिरधारी त्र्यम्बक पुरवार
प्रकाशक

पुस्तक की पृष्ठभूमि

वर्षों से राजनीति का अध्ययन करती और कराती आ रही हूँ, राजनीतिक दाँव भी खेले हैं, अपने को सामाजिक कहने वाली संस्थाओं की कुर्सियाँ तोड़ीं और साइन-बोर्ड चमकाए हैं और मार्क्सवाद के विषम और विषभरे रिमार्क्स भी उगले हैं। किन्तु कुछ समय से घटने वाली विचित्र और बेसिरपैर की घटनाओं और अलौकिक अनुभवों ने एक चुनौती छोड़ दी है और मैं एक नए ढंग से सोचने पर कटिबद्ध हो चुकी हूँ।

योगी एक ही काल में दो शरीर कैसे प्रकट करते हैं, भूमि से ऊपर कैसे उठते हैं, तिरोधान कैसे हो जाते हैं, हृदय की गति रोक कर भी कैसे जीवित रहते हैं, वायुवेग से कैसे चलते हैं और देवात्माओं से कैसे सम्पर्क स्थापित करते हैं – मेरे सामने यह तथा और अनेक प्रश्न तब खड़े हो गए जब मैं अपने सिर और पैरों के साथ ऐसी ही बेसिरपैर की घटनाओं के बीच में फँस गई।

थियोसौफी-साहित्य में पढ़ा था ऐसी बातों का होना, किन्तु टालती आ रही थी प्रत्यक्ष-प्रमाण के अभाव में। पर आँखों पर विश्वास न करूँ तो कब तक। अपने चित्त की normalcy पर सन्देह करूँ तो कब तक। 5 जनवरी 1961 से जो देखती आ रही हूँ तो देखती ही जा रही हूँ। मैं ही अकेली नही देखती, दर्जनों मेरे अनुभव के सहयोगी हैं।

समझने की कोशिश की तो समझी। जब करने की कोशिश पर कमर बाँधी तो हमारे अकामी, अभोगी भोले बाबा 'सत्यम्' ने एक लम्बा लेक्चर दे डाला। इस गोबर-गणेश ने जिस-किसी तरह उसे सार-रूप में रखने की कोशिश की है। यह तो नहीं कहूँगी कि मुझे समाधि का अनुभव हो गया है, किन्तु 'सरहद' पर बैठ कर जो मुझे लगता है, वह यही है कि 'समाधि पूर्ण-ज्ञान की स्थिति है।'

पुस्तक के सम्पादन-कार्य में मुझे जिस पवित्र आनन्द की अनुभूति हुई है, वही अनुभूति भाग्यवान् साधकों को होगी, ऐसा मेरा संकल्प है।

15 अगस्त 1962, छपरा (बिहार) — *– योगशक्ति*

स्वामी जी – एक महान् आत्मा

संघर्ष के इस युग में जबकि जल, स्थल और वायु, आकाश, पाताल और भूमि, दृश्य और अदृश्य सभी जगह केवल संघर्ष है और इन संघर्षों से संघर्ष करता हुआ मनुष्य भी संघर्ष का पुतलामात्र रह गया है, तब इसे यह सोचना पड़ रहा है कि आखिर इस परिवर्तनशील संसार में सुख और सन्तोष कहाँ है।

आप कहते हैं कि विज्ञान दिन दूनी और रात चौगुनी प्रगति कर रहा है, किन्तु मैं पूछती हूँ कि विज्ञान ने मानवता को क्या दिया सिवाय कलह, ईर्ष्या और द्वन्द्व के। विज्ञान के कठोर पैरों ने मानवता को रौंद डाला है और आज मानवता कराह-कराह कर चिल्ला रही है – 'मुझे शान्ति चाहिए!' किन्तु शान्ति का मार्ग दिखलाने के लिए एक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है और इसीलिए शान्ति के अग्रदूत बनाकर भेजे गए हैं हमारे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती।

मुझे याद है 1956 की वह बेला जब स्वामी जी पहली बार भागलपुर पधारे थे। उन्होंने अपनी अमृतवाणी से सबों को आकर्षित कर लिया। पहले तो मैंने इन्हें अन्य साधुओं की तरह समझा, किन्तु मेरी यह धारणा शीघ्र ही बदल गई। आज वे मेरे लिए सिर्फ साधु ही नहीं, बल्कि एक उद्भट विद्वान्, वाक्पटु, जननायक एवं देवपुरुष भी हैं, जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

स्वामी जी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य है सेवा द्वारा मानवीय उत्थान और इसकी पूर्ति के लिए इन्होंने अपना तन-मन-धन सभी कुछ अर्पण कर दिया है। इन्होंने जर्जर मानवता को सस्नेह गले लगाया एवं उन्हें शान्ति तथा सुख का मार्ग दिखाया। सारा विश्व इनका परिवार है एवं सारे नक्षत्रगण इनके मित्र।

असम्भव को सम्भव बनाने वाले हमारे स्वामी जी प्रत्येक दिशा में कुशल हैं चाहे वह आसन हो या प्राणायाम, भाषण हो या संगीत, योग हो या साधना। साथ-ही-साथ ये एक कुशल चिकित्सक भी हैं, जिनके स्पर्शमात्र से ही सहस्रों रोगियों के रोग दूर हो चुके हैं। क्या आपने कभी ऐसा चिकित्सक कहीं देखा या सुना है? ये चित्त की एकाग्रता पर विशेष रूप से ध्यान देते हैं एवं सनातन धर्म के प्रबल समर्थक के रूप में अपने उपदेशों द्वारा श्रोताओं को लाभान्वित करते हैं।

अपने इन्ही गुणों के कारण स्वामी जी ने लोगों के हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। इनके शिष्यों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है और शायद ही कोई जगह ऐसी होगी, जहाँ के लोग स्वामी जी से परिचित न हों।

हमारे स्वामी जी केवल सैद्धान्तिक विचार ही नहीं रखते, बल्कि उसे कार्यरूप में भी परिणत कर हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। इन दिनों ये हर जगह जाकर योगविद्या का उपदेश देते हैं।

'अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्रमण्डल' (International Yoga Fellowship) जैसी संस्था की जिम्मेदारी इन्होंने अपने कन्धों पर ले ली है और रातदिन इसकी सफलता के लिए वे जी-जान से तत्पर हैं। स्वामी जी स्वयं महान् हैं, उनके उद्देश्य महान् हैं; उनकी कार्य-प्रणाली नवीन, और उनकी त्यागमयता भी उतनी ही नवीन और महान् है। अब हम अपनी पूरी शक्तियों के साथ उनके धर्मयज्ञ में सम्मिलित हो जावें।

– कुमारी रीता सहाय
(एम.ए. की छात्रा)

बात 1956 की है

मैं एक कमरे से होकर गुजर रहा था। मैने देखा एक आदमी जटा बढ़ाए लाल कपड़ा पहने बैठे बातें कर रहे थे। मैंने उन्हें देखा तो हँस पड़ा। परन्तु बाद में मुझे इस धारणा को बदलने के लिए बाध्य हो जाना पड़ा। दिन-पर-दिन हम लोगों का प्रेम उनके प्रति बढ़ता गया। पहले वे हम सबों को कहानियाँ सुनाया करते थे, दिनभर भजन-कीर्तन ही करते रहते थे। परन्तु कुछ दिनों बाद उन्होंने अपना क्रम बदल दिया। वे लोगों को उपदेश देने लगे। यही हमारे स्वामी सत्यानन्द जी हैं।

स्वामी जी के आज अनेकों शिष्य तथा शिष्याएँ हैं। समय के बढ़ने के अनुपात से लोगों की स्वामी जी में श्रद्धा भी बढ़ती जा रही है। चूँकि आपको स्वामी शिवानन्द जी का आशीर्वाद प्राप्त है, अत: आप कोशी की तेज धार की तरह अपने महान् कार्यों को बढ़ा रहे हैं और International Yoga Fellowship के माध्यम से हमारी यथासम्भव सहायता कर रहे हैं। तन से नहीं, मन से नहीं, और धन से भी नहीं, वरन् 'योग' से। हाँ, दो अक्षरों का और महान् अर्थ रखने वाला 'योग'। इसी 'योग' को सभी के लिए उपलब्ध करने के लिए स्वामी जी ने I.Y.F. की नींव रखी है।

दस-वर्षीय 'राजेश सहाय', भागलपुर
(अपनी कलम और अपनी सूझ से)

अन्वेषण

स्वप्न रथ पर चढ़ मुसाफिर, जा रहा किस ओर।
फिर रहा चाही नजर से, आज क्यों चहुँ ओर॥

तू यहाँ से जा रहा, गगन बस तारे उठे।
देखता हूँ हो रहा है, अब मुसाफिर भोर॥
सगा तेरा कौन? किससे मिलन आश तेरी।
चल रहा उद्भ्रान्त पथ पर, आज स्वप्न विभोर॥
क्लान्त भी तू हो चुका है, सजल आंखिन कोर।
किन्तु निर्मम ज्योति कोई, खींचती तव डोर॥स्वप्न॥

जा रहा तू जिस दिशा में, है न उसका अन्त।
ढूँढता जिसको धरा पर, वह अनादि अनन्त॥
तू समझता हिमालय शिखर पर वह मिलेगा।
तू समझता दुर्ग-पार, वह तुमको दिखेगा॥
भूल मत जाना मुसाफिर, वह बड़ा चितचोर।
स्वप्न-रथ पर चढ़ मुसाफिर, जा रहा किस ओर॥स्वप्न॥

गिरि हिमालय छोड़ लख, कण-कण वह दिखेगा।
और सागर स्रोत में, गान मृदु उसका सुनेगा॥
कुंजवन द्रुमलता में, क्या छिपा वह नहीं है।
पूछ तू सुंदर सुमन से, है कहाँ सिरमोर॥स्वप्न॥

बेतहासा दौड़ कर, मृगा करता भूल भारी।
मरीचिका में प्राण खो देता, वह अनारी॥

वृथा यह अभिमान तेरा, है वृथा यह शोर।
स्वप्न रथ पर चढ़ मुसाफिर, जा रहा किस ओर॥
क्षितिज के इस पार नर, क्षितिज के उस पार भगवन्।
किन्तु इस व्यवधान में है, तिमिर जो घनघोर॥स्वप्न॥

चांद तक जाना सहज, चांद को पाना सरल।
किन्तु इसकी चांदनी, छू न सकना है सहल॥
स्वच्छ मन से भज, भगवान तेरे पास होंगे।
और तप मोल देने, स्वयं तुमसे मिलेंगे॥
किन्तु तेरी साधना में नाचे गर उर मोर।
स्वप्न रथ पर चढ़ मुसाफिर जा रहा किस ओर॥स्वप्न॥

निशा-तारा कभी, दिवा में न प्रतीत होता।
तो क्या गगन में उसका नहीं अस्तित्व होता॥
दिवाकाश में भी है, जहाँ वह था निशा में।
किन्तु रवि की रश्मि के कारण न चलता जोर॥स्वप्न॥

– *'नरेन्द्र'*,
देवघर



समाधि विद्या

योग एक ऐसी अपूर्व विद्या है, जिसमें पुरुष और प्रकृति के संयोग के वियोग को ही योग बतलाया है। वैसे योग का अर्थ जोड़ना अथवा मिलाना होता है। परन्तु, इसका सच्चा अर्थ है समाधि, जिस स्थिति में अविद्या द्वारा उत्पन्न पुरुष और प्रकृति की संयोग-ग्रन्थि विलीन हो जाती है।

योग के इस सच्चे अर्थ, समाधि को प्राप्त करने के लिए गुरु को शिष्य का सतर्कता से चुनाव कर उसे नियंत्रण-पूर्वक शिक्षा देनी पड़ती है। यह पर्याप्त नहीं कि शिक्षा (instructions) दे दी, बल्कि गुरु को समाधि का अनुशासन शिष्य को देना पड़ता है।

मन, बुद्धि और अहंकार, जिसे मैं चित्त कहूँगा, अन्त:करण के भी नाम से जाना जाता है और इस अन्त:करण के कार्यों को वृत्ति कहा जाता है। ये वृत्तियाँ जो सदैव चंचल रहती हैं, समाधि में निरुद्ध हो जाती हैं, जिसे योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं – क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

क्षिप्त अवस्था में चित्त-वृत्तियाँ विषयाकार होकर चंचल और उन्मत्त रहती हैं।

मूढ़ अवस्था में निद्रा, आलस्य और प्रमाद के प्रभाव से मन्द रहती हैं।

विक्षिप्त अवस्था में चित्त-वृत्तियाँ कभी विषयाकार रहती हैं और कभी स्थिर।

एकाग्र अवस्था में चित्त-वृत्तियाँ सब तरफ से सिमट कर केवल एक ओर, चंचलता के अभाव में, लग जाती हैं।

निरुद्ध अवस्था में चित्त की वृत्तियाँ विषयों के अभाव में शान्त हो जाती हैं, और बिना आधार के रहती हैं।

योगाभ्यास का आरम्भ, यदि सच कहा जाय तो एकाग्र अवस्था से आरम्भ होता है, जिसमें चंचल और अस्थिर मन को विभिन्न विषयों में भटकने से रोक कर एक ही ओर लगने का अभ्यास कराया जाता है। इसके पूर्व की तीनों अवस्थाएँ संसारी जीवों की होती हैं, जिन्हें कर्म और भक्ति के अलावा अन्य किसी मार्ग में अधिकार नहीं। अन्तिम अवस्था वृत्तियों के निरोध की है, जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि और बाद में धर्ममेघ समाधि है।

चित्त की 'दर्शन'-रूप वृत्ति को नियन्त्रित कर, द्रष्टा आत्मा और दृश्य-विषयों के संयोग को तोड़कर, योग की साधनाओं से द्रष्टा आत्मा आत्म-स्थिति में प्रकाशित होने लगता है। द्रष्टा का सम्बन्ध दृश्य से बने रहने के कारण, वह वृत्तियों की स्वरूपता में प्रतिभासित होता है। किन्तु जब अन्त:करण वृत्तिहीन हो स्वयं रुक जाता है, उस समय अन्तर्यामी पुरुष वृत्ति-सारूप्य से मुक्त होकर अपने स्वरूप में रहता है।

अन्त:करण की ये वृत्तियाँ पाँच होती हैं, अर्थात चित्त पाँच प्रकार से वृत्तिमय और कार्यशील होता है।

अन्त:करण के कार्य ही अन्त:करण की वृत्तियाँ हैं और वे जब चित्त को सुखदायी होती हैं तो 'अक्लिष्ट' कहलाती हैं, और जब दु:खदायी होती हैं तो 'क्लिष्ट' कहलाती हैं।

अन्त:करण-ज्ञान, विपरीत-ज्ञान, काल्पनिक-ज्ञान, अज्ञान और स्मृत-ज्ञान के द्वारा जिन्हें क्रमश: प्रमाण-वृत्ति, विपर्यय-वृत्ति, विकल्प-वृत्ति, निद्रा-वृत्ति तथा स्मृति-वृत्ति के नाम से जाना जाता है, एक-एक प्रकार के वृत्ति-सारूप्य को प्राप्त करता है, जो उसके धर्म बन जाते हैं।

जब अन्त:करण किसी विषय को इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष में जानता है, तब उस समय उसकी प्रत्यक्ष-ज्ञान-प्रमाण-वृत्ति रहती है।

जब अन्त:करण किसी विषय को पूर्ववत् अनुमान, शेषवत् अनुमान अथवा सामान्यतोदृष्ट अनुमान के सम्बन्ध से जानता है, तब उस समय उसकी अनुमान-प्रमाण-वृत्ति रहती है।

जब अन्त:करण किसी विषय को आगमों के माध्यम से, जो आप्त पुरुषों के वचनों के रूप में अध्यात्म-शास्त्रों की परम्परा में चले आते हैं, जानता है तब उस समय उसकी आगम-प्रमाण-वृत्ति रहती है।

जब अन्त:करण अविद्या से भरपूर होकर किसी विषय को उसके विपरीत स्वरूप में जानता है, तब उस समय उसकी मिथ्या प्रतीति को विपर्यय-वृत्ति

कहते हैं। वस्तु जब अपने विपरीत स्वभाव में अनुभूतिगम्य होती है, तब उसे विपर्यय-वृत्ति का प्रभाव जानना चाहिए।

किसी भी वस्तु का ज्ञान उसके नाम अथवा रूप से होता है। किन्तु कभी रूप के न रहने पर भी नाम से ही अन्त:करण ज्ञान को पा लेता है। अन्त:करण के द्वारा प्राप्त ऐसे ही ज्ञान को चित्त की विकल्प-वृत्ति कहा गया है। अर्थात् जब वस्तु के अभाव में भी चित्त की वृत्तियाँ केवल नाम को आधार बना कर वृत्ति-सारूप्य को प्राप्त करती हैं, तब विकल्प-वृत्ति ही सक्रिय रहती है।

जाग्रत अवस्था में चित्त इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है और स्वप्नावस्था में इन्द्रियों के सो जाने पर वह स्वयं अपने अनुभवों का दर्शन करता है। किन्तु जब निद्रा आ जाती है, तब अन्त:करण की यह वृत्ति भी लुप्त हो जाती है और वह केवल अभाव की अनुभूति कर सक्रिय रहता है। अभाव की अनुभूति को ही निद्रा-वृत्ति कहते हैं, अर्थात निद्रा चित्त की अवस्था-विशेष है।

अन्त:करण जिस-जिस भाव को प्राप्त होता है, वह उसकी वृत्ति है और उसी से अनुभवों का जन्म होता है, तथा वही अनुभव संस्कार बन कर चित्तभूमि में ग्रथित हो जाते हैं, और जब-जब चित्त उन संस्कारों व अनुभवों से सारूप्य स्थापित करता है, तब-तब उसकी वृत्ति स्मृति रूप रहती है।

अन्त:करण की यह वृत्ति याने स्मृति चित्त में प्रतिदिन अनेकों बार सक्रिय रहती है और हमारा जीवन अनुभवों के स्मरण से अत्यन्त प्रभावित रहता है, इतना प्रभावित रहता है कि जीवन का पूरा राग-द्वेष इसी वृत्ति का परिणाम है।

यद्यपि चित्त नवीन ज्ञान से भी प्रभावों को प्राप्त होता है, जो इन्द्रियों के माध्यम से उसे प्राप्त होते रहते हैं, किन्तु उस पर सबसे अधिक प्रभाव स्मृति का ही पड़ता है; अत: चित्त की अन्य वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर भी कोई लाभ नहीं दिखता, जब तक स्मृति तथा संस्कारों का पूर्णत: निरोध न हो जाय।

साधना की निष्ठा अथवा ध्येय विषय में चित्त के लग जाने से प्रमाण-वृत्ति, विवेक-बुद्धि से विपर्यय-वृत्ति, वस्तु के स्वरूप के ज्ञान से विकल्प-वृत्ति, योगनिद्रा से निद्रा-वृत्ति का निरोध तो जल्दी हो जाता है, परन्तु स्मृति-वृत्ति का निरोध वैराग्य के बिना नहीं हो सकता और स्मृति-वृत्ति के निरोध हुए बिना चित्त समाहित नहीं हो सकता।

कथित पाँचों भाव दोषयुक्त और निर्दोष होते हैं। चित्त वृत्तियों के दोषों को अविद्या और उससे उत्पन्न अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के नाम

से जाना जाता है। अर्थात् अविद्या आदि पाँचों दोषों से सारूप्य प्राप्त होने पर चित्त की वृत्तियाँ दोषयुक्त और क्लेश का कारण बनती हैं, और इसी प्रकार इन पाँचों के मुक्त हो जाने पर वे निर्दोष और अपार सुख का उदय करती हैं।

अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, जिन्हें समझाया जायेगा, चाहे प्रसुप्त हों अथवा मंद, विचलित हों अथवा तीव्र, किसी भी अवस्था में उनकी उत्पत्ति अविद्या से ही होती है। अविद्या मूल क्लेश है, तथा अन्य क्लेश उसके परिणाम।

अविद्या क्या है? अनित्य विषयों को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दु:खदायी को सुखदायी और अनात्म वस्तुओं को आत्म-वस्तु समझना, संक्षेप में किसी भी विषय के वास्तविक स्वरूप को न जानकर उसमें उसके विपरीत स्वरूप की प्रतीति करना अविद्या है। राग और द्वेष से प्रभावित होकर चित्त की भूमिका में विषयों की उल्टी जानकारी होती है, यही उल्टी जानकारी अविद्या के नाम से जानी जाती है।

अविद्या भाव-तत्त्व है और इसका स्वभाव ही है सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझ लेना। अविद्या-भाव के कारण ही हम जीवन में दु:ख पाते हैं, हमारा अन्त:करण मिथ्या-ज्ञान और विपरीत-ज्ञान को ग्रहण कर लेता है। सांख्य शास्त्र में इसे अष्टधा 'तम' कहते हैं, क्योंकि अपरा प्रकृति अष्टधा होती है।

अस्मिता है विषय-दर्शन की शक्ति को द्रष्टा की क्रिया समझना। द्रष्टा आत्मा कोई क्रिया नहीं करती। अन्त:करण ही ज्ञानेन्द्रियों से विषय-ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु जीव अन्त:करण के धर्मों को अपने में आरोपित कर अन्त:करण के ही प्रभाव से स्वयं को कर्त्ता मान लेता है। इसी मान्यता को अहंकार याने अस्मिता कहते हैं। इसी मान्यता से जीव अपने में अन्त:करण के धर्मों से उत्पन्न फलाफल का आरोप कर स्वयं को सुखमय और दु:खमय मानता है। सांख्य शास्त्र में इसे अष्टधा 'मोह' करके सूचित किया गया है।

राग और द्वेष भी चित्त की वृत्तियों को क्लिष्ट बना देते हैं। प्राप्त सुख की कामना राग है और प्राप्त दु:ख से अनिच्छा द्वेष। पूर्वानुभूत सुखों का स्मरण कर जब उनके पीछे भावना जाती है तो राग से उत्पन्न क्लेश होते हैं। पूर्वानुभूत दु:खों का स्मरण कर जब भावना में उनके प्रति तिरस्कार जागता है तो द्वेष से उत्पन्न क्लेश होते हैं। सांख्य शास्त्र में राग को 'महामोह' और द्वेष को 'तामिस्र' कहा गया है।

जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त हुए मृत्यु के स्मृति-रूप भय से विद्वान् पुरुष भी उतना ही घबड़ाते हैं, जितना एक अबोध बालक अथवा पशु। इसी पूर्वानुभूत मरण-भय की भावना से अभिनिवेश नामक क्लेश की उत्पत्ति होती है, जिससे अन्त:करण सदैव क्षुब्ध रहता है। सांख्य-शास्त्र में इसे 'अन्धतामिस्त्र' की संज्ञा दी गई है।

इन्हीं पाँचों क्लेशों से चित्त-वृत्तियाँ तीन गुणों को प्राप्त होकर विषय-दर्शन का कारण बनती हैं और जीव को बन्धन में फँसाए रहती हैं। किन्तु जब वे इन पाँचों जनों के फन्दे से मुक्त हो जाती हैं तो आत्मदर्शन का साधन बनती हैं।

चित्त में स्थिरता और चंचलता, दोनों धर्म निहित हैं, जैसे जल में वाष्प और बर्फ दोनों परिणाम विद्यमान् हैं। अथवा जैसे वाष्प और बर्फ दोनों परिणामों में जल रूप कारण अनुगत रहता है, वैसे ही क्षिप्तादि परिणामों में चित्त रूप कारण ही अनुगत रहता है। अत: चित्त धर्मी हुआ और यह परिणाम उसके धर्म। अतीत, वर्तमान और अनागत परिणामों में जो अनुगत रहता है, उसे ही धर्मी अथवा कारण कहते हैं। जैसे तरंगों, आवर्त्तों तथा जल के तमाम परिणाम और कुछ नहीं, मात्र जल के धर्म हैं और जल ही उन धर्मों के आधार रूप में विद्यमान रहता है, वैसे ही एकाग्र, विक्षिप्त अथवा अन्य चित्त-परिणाम भी और कुछ नहीं, चित्त के धर्म-विशेष, लक्षण-विशेष और अवस्था-विशेष हैं।

परिणामों में भिन्नता का कारण है क्रम की भिन्नता। एक ही कार्य को विभिन्न क्रम से करने से विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। रुई एक क्रम के द्वारा वस्त्र-परिणाम बनती है और दूसरे क्रम से बाती और तीसरे क्रम से डोरी। ऐसे ही चित्त भी एक क्रम से चंचलता और दूसरे क्रम से स्थिरता की प्राप्ति करता है।

चित्त में सभी वृत्तियों का अस्तित्व रहता है, सभी अवस्थाएँ स्वरूपत: चित्त के अनुगत रहती हैं। चंचलता के धर्मों को वर्तमान काल में देखकर यह आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि एकाग्रता कैसे आएगी। चित्त के जितने भी धर्म कहे गए हैं, उनमें या उनके परिणामों में काल का भेद होता है। कोई धर्म अभी अप्रकट किन्तु बाद में प्रकट होता है। यही चित्त काल के क्रम से क्षिप्तादि परस्पर विजातीय धर्मों को प्राप्त करता है।

चित्त के समस्त धर्म, जो कहे गए हैं, वास्तव में और कुछ नहीं, त्रिगुणात्मक ही हैं। एक-एक गुण के जागने और दबने से ये धर्म भी जागते और दबते रहते हैं। रजोगुण के जागने से क्षिप्त, तमोगुण के जागने से मूढ़, रजोगुण में

सत्त्वांश से विक्षिप्त, सत्त्व के जागने पर एकाग्र, और केवल सत्त्व के रहने से निरोध-रूप धर्म चित्त में स्वत: व्यक्त और अव्यक्त होते रहते हैं। अथवा यह कहा जाय कि चित्त के धर्म त्रिगुणों के परिणाम हैं।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि त्रिगुण-समुदाय के कारण परिणामों में भिन्नता होगी। त्रिगुणात्मकता से परिणामों में नहीं, परिणाम-क्रम में भिन्नता रहती है। परिणाम तो एक ही है चित्त के धर्मों का। वह है समाधि-परिणाम। जब चित्त एक क्रम से अपने पूर्व के धर्म से दूसरे धर्म-परिणाम को प्राप्त होता है तो उसे अवस्था-परिणाम जानना चाहिए, न कि एक अलग परिणाम। जल से बर्फ बनता है, यह प्रथम-परिणाम है और पुन: उसी बर्फ से लोग ठण्ढा पानी बनाते हैं। यह द्वितीय परिणाम है। किन्तु वस्तु एक ही विद्यमान् रही। अत: परिणामों की बहुलता को मानना उचित नहीं, वरन् उन्हें परिणाम-क्रम ही कहना चाहिए।

जब कभी कोई धर्म परिणाम को प्राप्त होता है तो उसका स्वरूप परिणाम के अन्त में समझ में आता है, एक क्षण के बाद दूसरा क्षण, उसके बाद तीसरा – इसी तरह क्षणों का जो प्रवाह है, उसे ही क्रम कहते हैं। चित्त में क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, किन्तु हमें उसकी जानकारी तभी होती है, जब परिवर्तनों का एक क्रम पूरा हो जाता है। क्षिप्त आदि धर्म चित्त के परिणाम हैं जो एक क्रम से होते रहते हैं। एक परिणाम उत्पन्न होता, पुन: क्रमश: दूसरे परिणाम में जाकर बदल जाता है।

चित्त के क्रमानुसार चार परिणाम होते हैं। तमोगुण और रजोगुण की प्रधानता से चित्त की व्युत्थान अवस्था होती है। तमोगुण तथा रजोगुण के साथ सत्त्व का प्रभाव रहने से जब समाधि के संस्कार जागने लगते हैं, तब उसे चित्त का समाधि-परिणाम कहते हैं। तत्पश्चात् जब सत्त्व तमोगुण को दबा कर प्रबल होता है तो उसे चित्त का एकाग्रता-परिणाम जानो। और जब केवल सत्त्वगुण शेष रहता है तो चित्त निरोध-परिणाम को प्राप्त होता है। जैसे शैशव एक देह-परिणाम है, कौमार्य दूसरा, यौवन तीसरा, बुढ़ापा चौथा, रोग पाँचवा, मृत्यु छठा, वैसे ही चित्त क्रमश: व्युत्थान से समाधि-परिणाम को, उससे एकाग्रता-परिणाम को, और उससे निरोध-परिणाम को प्राप्त होता है।

जब चित्त सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करता है, अथवा कुछ काल के लिए निद्रा में सुप्त हो जाता है, तो योगीजन उसे चित्त की व्युत्थान अवस्था कहते हैं।

जब सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने वाली वृत्ति का क्षय और एक ध्येय विषय का चिन्तन करने वाली एकाग्रता का उदय होता है तो जानना चाहिए कि चित्त समाहित होता जा रहा है।

और जब चित्त भली-भाँति ध्येय में समाहित हो जाता है, उस समय एकाग्रता की अवस्था का अवतरण होता है। यह अवस्था समाधि-परिणाम की परिपक्व अवस्था है, इसमें दबने और उभरने वाली वृत्तियाँ केवल एकाग्रता की होती हैं। समाधि-परिणाम की तरह विषयाकारिता और एकाकारिता का जागना-सोना नहीं होकर, केवलमात्र निर्विषय एकाग्रता ही कभी हल्की और कभी गहरी होती है।

निर्विषय एकाग्रता के दबने पर चित्त की वृत्तियाँ सर्वथा रुकने लगती हैं और निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं, किन्तु यह सहसा नहीं होता। कभी एकाग्रता, तो कभी वृत्तियों का अभाव। यह क्रम अभ्यास-काल में चलता रहता है। अन्ततः चित्त की एकाग्रता-रूप वृत्ति दब कर निरोध-संस्कारों के उदय को जन्म देती है। यही चित्त का निरोध-परिणाम है।

इस तरह आदि-व्युत्थान के संस्कार समाधि-परिणाम में, समाधि-परिणाम के संस्कार एकाग्रता-परिणाम में और एकाग्रता-परिणाम के संस्कार निरोध-परिणाम में क्रमशः बदलते जाते हैं तथा अन्त में निरोध-संस्कारों के परिणामस्वरूप केवल निर्मल और शान्त धारा बहती है।

चित्त के ये परिणाम ही योगशक्ति के हेतु हैं, योगीजन इसी परिणामित्व-धर्म का आधार लेकर अनेकों सिद्धियों की प्राप्ति करते हैं। चित्त के परिणाम को भली-भाँति जानकर विभिन्न शरीरों और चित्तों की रचना होती है और असाधारण सिद्धियाँ जागती हैं।

चित्त-परिणाम के हेतु अनेक साधन प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियों के हेतु जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि हैं। इनकी प्राप्ति में शरीर, इन्द्रियों और चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में जात्यन्तर-परिणाम होना ही हेतु है। तभी पहले की अपेक्षा अलौकिक शक्तियाँ जागती हैं।

उक्त पाँचों योगशक्तियों में मोक्ष प्रदान करने वाला (चित्त को कर्म-संस्कारों से रहित कर देने वाला) केवलमात्र समाधि-परिणाम वाला चित्त है। अन्य परिणाम वाले चित्त में कर्मों के संस्कार रहते हैं, अतः वे कैवल्य के हेतु नहीं होते।

जन्मादि-साधनों द्वारा चित्त में ग्रथित जन्म-जन्मान्तर के कर्माशय जब हटने लगते हैं, तब योगी के शरीर, इन्द्रियों और चित्त के तामसी और राजसी आवरणों के भंग हो जाने से एक विलक्षण शक्ति वाली प्रकृति उत्पन्न होती है, या यों कहिए, प्रकट होती है। शरीरादि की प्रकृति का एक जाति से दूसरी जाति में बदलना तभी सम्भव है, जब प्रकृति के अवयवों की कमी को पूरा कर दिया जाय। चित्त की प्रवृत्ति में सत्त्व को आपूरित करते-करते रजोगुणी व तमोगुणी प्रकृति का जात्यन्तर परिणाम होता है, तत्फलत: निरोध-परिणामों का उदय होता है।

चित्त की वृत्तियों में व्युत्थान से समाधि-परिणाम, उससे एकाग्रता-परिणाम और उससे निरोध-परिणाम को उत्पन्न करने वाले जन्मादि साधन अविद्या आदि क्लेश-रूप रुकावटों को दूर कर शुद्ध परिणाम को प्रकट करते हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि जन्मादि साधनों में कोई विलक्षण शक्ति होगी। वरन् सत्य यह है कि ये साधन चित्त के क्लेशों को हटाते जाते हैं, और जैसे-जैसे चित्त की उक्त रुकावटें हटती जाती हैं, वैसे-वैसे प्रकृति अपनी विलक्षण शक्तियों को उसमें भरती जाती है।

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि-रूप साधनों से योगी जिन-जिन चित्त-परिणामों का निर्माण करता है, वे क्रम के भेद से तो भिन्न माने जाएँगे, किन्तु वे वैसे नहीं हैं। अर्थात् योगी अस्मितामात्र का आश्रय लेकर जिन-जिन चित्त परिणामों को उत्पन्न करता जाता है, उनमें एक ही चित्त प्रेरक के रूप में अनुगत रहता है। साधना के विभिन्न कालों में योगी ने अपने विभिन्न शरीर-परिणामों में जिन-जिन चित्त-परिणामों याने प्रवृत्तियों को उत्पन्न किया था, वास्तव में वे एक ही चित्त (अधिष्ठाता) द्वारा प्रेरित थे, जैसे विभिन्न देश, काल, परिस्थिति, कर्म, स्वाभावादि में कर्म करने वाली इन्द्रियों का प्रेरक एक ही मन (अनेक नहीं) है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक चित्त-परिणाम में एक ही समष्टि मन रहता है, अनेक नहीं।

चित्त की विषय-वस्तु चित्त से भिन्न होती है, अर्थात् चित्त और पदार्थ दो अलग-अलग तत्त्व हैं, उन्हें एक मानना या वस्तु को चित्त की कल्पना मानना युक्तिसंगत नहीं है। ऐसा होने से चित्त के निरुद्ध हो जाने के बाद उस ग्राह्य-वस्तु का अभाव हो जाना चाहिए, पर वैसा कभी नहीं होता। क्योंकि चित्त पर इन्द्रियों के माध्यम से जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह उसे ज्ञात होती है और जिस समय वह वस्तु चित्त-वृत्ति का विषय नहीं बनती, उस समय अज्ञात

रहती है। ग्राह्य-वस्तु के एक होने पर भी कोई उसे देख पाता है और कोई नहीं। इसके पीछे भी ग्राह्य-वस्तु का उपराग (प्रतिबिम्ब) ही कारण है। ग्राह्य वस्तु के गुणों में सदा समानता रहने पर भी एक ही चित्त उसे कभी देखता है, कभी नहीं, कभी उसे एक प्रकार से ग्रहण करता है तो कभी दूसरे प्रकार से। इसके पीछे चित्त की परिणामी वृत्तियाँ ही कारण हैं।

चित्त के विषय में बतलाया जा चुका है कि वह परिणामी है, अत: उसका ज्ञान भी परिणामी। किन्तु उस चित्त का प्रभु पुरुष परिणामी नहीं है, अत: वह चित्त-वृत्तियों के सभी परिणामों को जानता रहता है। चित्त के सभी परिणामों में उनका ज्ञाता या द्रष्टा समान भाव से अनुगत रहता है, इसीलिए इन परस्पर-विरोधी परिणामों का क्रमानुसार ज्ञान होता है। चित्त परिणामी है, अत: उसे कार्य माना जायेगा। ऐसी अवस्था में भी चित्त-रूप कार्य में अनुगत कारण की व्यवस्था माननी पड़ेगी। पुन: वह चित्त स्वयं प्रकाश रूप नहीं, वरन् प्रकाश्य है, क्योंकि विभिन्न परिणामों में उसकी दृश्य-रूप में अनुभूति होती है। जब चित्त में पदार्थ और चिति का अपेक्षित उपराग पड़ता है, उस समय वह चेतना-सा भासता है। जैसे इन्द्रियों में स्वाभास नहीं, किन्तु चेतना की प्रतीति होती है, वैसे ही चित्त भी जड़ है, केवल चिति के प्रसंग से चेतन प्रतीत होता है। चित्त परिणामी है अत: गृहीता नहीं, ग्राह्य जानना चाहिए। अत: चित्त अपने को और ग्राह्य-वस्तु के स्वरूप को एक साथ नहीं जान सकता। इसी से जान लेना चाहिए कि चित्त स्वयं प्रकाश नहीं है।

चित्त दृश्य है, उसमें द्रष्टापन का आरोप भरा हुआ है। अत: चित्त में चित्त के ही द्रष्टापन का निश्चय कर लेने से यह मानना पड़ेगा कि उसका भी द्रष्टा कोई और अन्तर-चित्त होगा। किन्तु ऐसा मानने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि वर्तमान चित्त को द्रष्टा और उसके पूर्व के चित्त को दृश्य मानने से इसमें अनवस्था-दोष आ जायेगा। पुन: अपनी बारी में एक का दूसरे का द्रष्टा होने के कारण अनुभव-बाहुल्य से स्मृति-प्रवाह में गड़बड़ी आ जाएगी।

चेतन पुरुष त्रिपुटी का प्रदर्शन करने वाला है। वह ज्ञान-स्वरूप है, क्रिया अथवा परिणाम से रहित होता है। किन्तु विषयाकार चित्त के सम्बन्ध से वह चित्त के आकार वाला हो जाता है तो उसे वृत्ति-सहित-बुद्धिज्ञान (स्वबुद्धि-संवेदन) होता है।

जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्बित सूर्य में चंचलता अपनी न होने पर भी जल की चंचलता से चंचलता लगती है, वैसे ही चित्त-प्रतिबिम्बित-चेतन

में ज्ञातृत्व और भोक्तत्व की प्रतीति होती है, क्योंकि चित्त में विषयाकार-वृत्तियाँ रहती हैं।

चित्त ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का हेतु है। जब वह चेतन पुरुष के साथ रहता है तो द्रष्टा और ज्ञान वाला प्रतीत होता है। जब वह विषयों में तदाकार होता है तो दृश्य के रूप में प्रतीत होता है। दर्शन की क्रिया उसमें होती रहती है। इस प्रकार चित्त जड़ होते हुए भी पुरुष के सम्बन्ध से ज्ञान वाला और विषयों के सम्बन्ध से चेतन प्रतीत होता है। वास्तव में चेतन, चित्त और विषय तीनों तीन सत्ताएँ हैं।

चित्त की तमाम क्रियायें पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए हैं। इसका कारण यह है कि चित्त का निर्माण तीनों गुणों के मिश्रण से हुआ है और इसमें कार्यक्षमता बाह्य-विषय और इन्द्रियों के संयोग से मिल-जुल कर आई है।

स्वयं प्रकाश और द्रष्टा नहीं होने के कारण चित्त, असंख्य वासनाओं से भरपूर होने पर भी, पुरुष के भोग और अपवर्ग का साधन है। अत: सुख की प्रतीति कराने वाला चित्त अपने भोग के लिए नहीं और तत्वज्ञानयुक्त चित्त अपने मोक्ष के लिए नहीं, वरन् पुरुष के लिए है।

चित्त के जिन परिणामों का उल्लेख किया गया, उनमें वैराग्य मूलभूत कारण है। वैराग्य की जितनी ऊँचाई होगी, उसी के अनुसार चित्त के परिणाम निर्विकल्प समाधि में पहुँचेंगे। अपर-वैराग्य से इन्द्रियों का दमन होता है। और पर-वैराग्य से मन का शमन। अपर-वैराग्य से भोगों से उपरति होती है और पर-वैराग्य द्वारा उनके गुणों से उदासीनता।

अपर-वैराग्य की चार भूमिकाएँ होती हैं, जिनमें सर्वोच्च भूमिका का नाम 'वशीकार-संज्ञा' है। इसके पूर्व की नीचे की तीन अवस्थायें हैं – यतमान, व्यतिरेकी और एकेन्द्रिय।

संसार के विषयों व स्वर्ग के भोगों से मन को हटाने की प्रबल इच्छा को यतमान-वैराग्य कहते हैं। वैराग्य की इच्छा प्रबल होने पर जब कुछ विषयों से राग हट जाता है और शेष विषयों से राग हटाने की प्रबल इच्छा रहती है तो व्यतिरेकी-वैराग्य कहलाता है। बाहरी इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य तो हो गया हो, किन्तु अन्त:करण के धर्मों से वैराग्य होने की प्रबल रुचि हो तो एकेन्द्रिय-वैराग्य प्रयुक्त होता है। और जब साधक देखे और सुने गये लोक-परलोक के तमाम विषयों से तृष्णारहित हो जाता है तो वशीकार-संज्ञक वैराग्य प्रवृत्त होता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से लेकर बड़े-से-बड़े पदार्थ तक जब साधक राग-द्वेष रहित हो जाता है तो वशीकार-संज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है। न केवल विषयों का त्याग, बल्कि विषयेच्छा का त्याग भी। इससे चित्त-भूमि के तमाम विक्षेप अपने-आप शान्त होने लगते हैं और राग के अभाव में वृत्तियाँ रुकने लगती हैं, और पुरुष-दर्शन का अभ्यास होने लगता है।

विषयों का त्याग हुआ, विषयेच्छा का भी त्याग हुआ। अब रह गई विषयों के मूलभूत गुणों में तृष्णा व उसके कार्य। इस काल में समाधि के परिपक्व हो जाने पर आत्म-साक्षात्कार होता है और प्रकृति के तीन गुण अभाव को प्राप्त हो जाते हैं। यही पर-वैराग्य है।

पर-वैराग्य के प्रवृत्त होने से पूर्व और पुरुष-दर्शन के साथ-साथ ऋतम्भरा नामक बुद्धि के संस्कार प्रकट होते हैं, जिसके द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के अभाव में भी विषयों का बोध होता है। यह प्रज्ञा त्रिगुणात्मिका इन्द्रियों के पूर्णाभाव में भी पूर्ण ज्ञानमयी रहती है और भूत, भविष्यत् तथा दूरस्थ पदार्थों का भी विलक्षण ज्ञान रखती है। पुरुषख्यातिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार पूर्व के कर्माशय का नाश कर देते हैं, जिससे पर-वैराग्य प्रकट होता है।

जब ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार से पूर्व के कर्माशय का बाध हो जाता है, तब ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार भी स्वयम्भूत अनासक्ति से रुक जाते हैं, और संसार-बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि प्रकट होती है।

आत्म-साक्षात्कार कर लेने पर योगी को सम्पूर्ण गुणों के स्वामित्व और ज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ पर भी उसे इस लाभ के प्रति वैराग्य को प्रवृत्त करना पड़ता है। इसके बाद धर्ममेघ समाधि है।

योगी को जब स्वामित्व और सर्वज्ञत्व से भी वैराग्य होता है, तब अविद्या-आदि क्लेशों से उत्पन्न दोष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और कैवल्य की प्राप्ति होती है। पुरुष का गुणों के साथ आत्यन्तिक वियोग ही कैवल्य है।

वैराग्य की पराकाष्ठा, यही कैवल्य या धर्ममेघ समाधि है। इसमें पुरुष-दर्शन के उपरान्त ऋतम्भरा प्रज्ञा से भी राग टूट जाता है और तदुपरान्त तद्-वैराग्यजन्य विलक्षण सामर्थ्य से भी योगी सर्वथा विरक्त हो जाता है। अत: आत्मज्ञान अचल और केवल हो जाता है। ठीक इस मुहूर्त्त में धर्ममेघ समाधि याने कैवल्य का अवतरण होता है।

वैराग्य के विषय में चर्चा हो गई। अब अभ्यास की चर्चा होगी। जो नहीं करना है उसे नहीं करना वैराग्य हुआ, और जो करना है, उसे करना अभ्यास।

वैराग्य की विधि निषेधात्मक है और अभ्यास की विधि विध्यात्मक। चित्त की वृत्ति को चलायमान् करने वाले विषयों में अरुचि है वैराग्य और चित्त में स्थिरता और शान्ति ले आने वाले साधनों में रुचि है अभ्यास। वैराग्य और अभ्यास – दोनों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है।

अभ्यास दो प्रकार के होते हैं। उत्तम अधिकारियों के लिए ध्यानात्मक अभ्यास और मन्द साधकों के लिए क्रियात्मक अभ्यास।

चित्त की प्रसन्नता से अभ्यास में प्रगति होती है। अत: चित्त को बारम्बार अप्रसन्न रखने वाले चित्त के मलों को अभ्यास के साथ-साथ दूर कर लेना चाहिए। अन्यथा साधना-काल में चित्त की कलुषता से खेद उत्पन्न होता है और अभ्यास में कुछ-न-कुछ ढिलाई हो जाती है।

राग, ईर्ष्या, परापकार की इच्छा, असूया, द्वेष, अमर्ष – ये चित्त को विक्षिप्त बना देते हैं और अंत:करण में मल को उत्पन्न करते हैं। अत: साधक को इन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

सुखी को देखकर उन पर मित्रता की भावना का आरोप करने से राग तथा ईर्ष्या का निराकरण होता है।

दु:खी को देखकर दया भाव का आरोप करने से घृणा का निवारण होता है।

पुण्यात्मा को देखकर उनके प्रति हर्ष की भावना करने से असूया का निवारण होता है।

पापात्मा को देखकर उनके प्रति उपेक्षा की भावना करने से द्वेष तथा अमर्ष का निवारण होता है।

इस तरह अन्त:करण के अनिष्ट प्रसंग का नाश कर देने से चित्त-भूमि में प्रसन्नता और निर्मलता आ जाती है। तब साधक को चित्त की स्थिरता के लिए बारम्बार प्रयत्न करना चाहिए।

चित्त को स्थिर करने के लिए जो भी अभ्यास किये जाएँ, उनमें काल क्रम से जो दृढ़ता आती है वही समाधि-चित्त की भूमि बनती है, इसलिए चित्त की एकाग्रता या स्थिरता के अभ्यासों को बहुत समय तक, लगातार और आदरपूर्वक करने से वे दृढ़ हो जाते हैं, जिसके कारण योगी व्युत्थान होने पर शान्त रहता है।

ईश्वर के स्वरूप का अनुसन्धान करने से चित्त का निरोध होता है, अर्थात् चित्त को ईश्वर में लगा देने से (ईश्वर प्रणिधान) भी चित्त समाधि-परिणाम का लाभ करता है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-रूप पंच-क्लेश और इन क्लेशों से उत्पन्न शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्म और उन कर्मों के फलस्वरूप सुख-दु:खादि कर्म-भोग और उन कर्मों के वासना-रूप-संस्कार-जिसमें न हो, अर्थात् जो क्लेश, कर्म, कर्मफल और कर्माशय से असम्बन्धित हो, ऐसा पुरुष, जो बद्ध जीव से सर्वथा भिन्न है, इच्छामात्र से सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने में समर्थ है, ईश्वर कहलाता है, जिसका अनुसन्धान करने से चित्त-निरोध होता है।

तत्कथित ईश्वर में सर्व-ज्ञान की अतिशयता की कोई सीमा नहीं। योगी लोग संयम-जय कर कम या अधिक मात्रा में जिस ज्ञान को प्राप्त करते हैं, वह सातिशय है, क्योंकि एक का ज्ञान दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा कम-ज्यादा हो सकता है। किन्तु उनके सातिशय अतीन्द्रिय ज्ञान में भी सर्वज्ञता का बीज रहता है, जो ईश्वर-सम्बन्ध में निरतिशय सर्वज्ञता बन जाता है।

ईश्वर की विद्यमानता सब कालों में होने से उसे कालावच्छिन्न ब्रह्मादि शक्तियों का भी उपदेष्टा माना जाता है। तात्पर्य यह कि जो तीनों कालों में विद्यमान नहीं रहता, उसमें सर्वज्ञता का बीज या सातिशय-ज्ञान हो सकता है, किन्तु निरतिशय सर्वज्ञता उसी में रहती है जो तीनों कालों में विद्यमान रहता है। अत: चेतन-पुरुष ईश्वर, जो तीनों कालों में विद्यमान रहता है, ब्रह्मादिकों का भी ज्ञाता और उपदेष्टा है। ईश्वर के स्वरूप का अनुसन्धान करते समय इसका ध्यान रखना चाहिए।

उस ईश्वर के अनुसन्धान के लिए उस पर चित्त को अटकाना होगा और चित्त को अटकाने के लिए आधार-भूमि की आवश्यकता है। अत: प्रणव शब्द अर्थात् ॐ को ईश्वर का वाचक वेदों ने घोषित किया है। तात्पर्य यह है कि प्रणव-शब्द पूर्वोक्त ईश्वर का बोधक है। बोधक से बोध्य का अनुसन्धान सरल हो जाता है।

बोधक से बोध्य का अनुसन्धान कैसे होता है? प्रणव-शब्द का जप करने व उसके बोध्य-स्वरूप ईश्वर की भावना करने से चित्त का उसमें विनियोग होता है।

प्रणव का जप करते समय उसमें ईश्वर की भावना करनी चाहिए कि वह क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से असम्बद्ध, निरतिशय-सर्वज्ञ और त्रिकालाबाधित है। न केवल यह, बल्कि समस्त सृष्टि और समग्र-काल-समुदाय और समग्र जीवभावों को उसी में देखना चाहिए। इस तरह वाचक

द्वारा वाच्य का स्वरूपानुसन्धान होता है और चित्त की वृत्तियाँ शान्त होती जाती हैं।

ईश्वर-प्रणिधान की पूर्वोक्त साधनाओं से चित्तवृत्ति विषयों को छोड़कर अपने ही सम्मुख प्रवृत्त होती हैं, अर्थात् अस्मिता-भूमि में कारण-शरीर से सम्बन्ध रखने वाली आत्मा का साक्षात्कार होता है (जिसे प्रज्ञा पुरुष कहते हैं) और साधना मार्ग की बाधाएँ दूर होती हैं।

योग के साधना पथ में जो बाधाएँ आती हैं, उनका ज्ञान होना साधक के लिए आवश्यक है। ये बाधाएँ चित्त के नौ विक्षेप हैं।

शरीर के रोग (व्याधि), इच्छा होने पर भी साधना में अकर्मण्यता (स्त्यान), साधना की सिद्धि में सन्देह (संशय), साधनों के अनुष्ठान में लापरवाही (प्रमाद), तमोगुण की अधिकता से ध्यान का न लगना (आलस्य), विषयों की तृष्णा (अविरति), मिथ्या-ज्ञान (भ्रान्ति-दर्शन), प्रयत्न करने पर भी समाधि को न पाना (अलब्धभूमिकत्व), समाधि में जाने पर भी चित्त का वहाँ नहीं ठहरना (अनवस्थितत्व) – ये नौ विक्षेप हैं।

इन विक्षेपों के साथ-साथ पाँच प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं, जो इस प्रकार हैं – त्रिविध ताप (दुःख), क्षुब्ध मन (दौर्मनस्य), शरीर में कम्पन (अंगमेजयत्व) तथा सांस लेने व छोड़ने में विवशता (श्वास-प्रश्वास)। ये उपविक्षेप हैं, जो विक्षिप्त चित्त वालों को ही होते हैं। साधक को इनका निराकरण करना चाहिए, अन्यथा एकाग्रता-परिणाम प्रवृत्त नहीं होता।

इन सब विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए किसी एक तत्त्व में चित्त को अटकाने का अभ्यास करना चाहिए। इसीलिए 'ईश्वर प्रणिधान' की साधना बतलाई गई।

चित्त की वृत्तियों का निरोध प्राणवायु को कपालभाति से बाहर फेंक कर बाह्य-कुम्भक लगाने से भी होता है। बाह्य-कुम्भक लगाते समये उड्डीयान, मूलबन्ध एवं जालन्धर बन्ध लगावें और मस्तिष्क को शून्य बना दें। इस प्रकार कई बार करें।

शब्दादि विषयों वाली प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से भी चित्त की वृत्तियाँ बँध जाती हैं। इस साधन से प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय में एकाग्र भाव हो जाने से दिव्य विषयों की उत्पत्ति होने लगती है, और चित्त-वृत्तियाँ थम जाती हैं।

नासिकाग्र संयम से दिव्य गन्ध, जिह्वाग्र संयम से दिव्य रस, तालु संयम से दिव्य रूप, जिह्वा मध्य में संयम करने से दिव्य स्पर्श, और जिह्वा मूल में

संयम करने से दिव्य शब्द प्रकट होते हैं। इन्हें ही गन्ध प्रवृत्ति, रस प्रवृत्ति, रूप प्रवृत्ति, स्पर्श प्रवृत्ति, और शब्द प्रवृत्ति कहते हैं। विषयवती प्रवृत्ति का यही अर्थ है। इस साधन द्वारा वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात और विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।

चित्त वृत्तियों को थामने का एक साधन यह भी है। अनाहत चक्र में मन को स्थिर कर देने से प्रवृत्ति ज्योति रूप में प्रकट होती है, जैसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रकाश भासमान् होते हैं। सत्त्वगुणमयी होने से यह सुखमयी और शोकरहित होती है। यह प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्त वृत्तियों को थामती है। इस साधन द्वारा आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात का लाभ होता है।

रागरहित महात्माओं को चित्त के द्वारा संयम का विषय बना लेने से भी चित्त थम जाता है। जिस तरह भृंगी का कीट भृंगी के ही आकार का हो जाता है, वैसे ही आदर्श विरक्त पुरुष का निरन्तर ध्यान करने से भी चित्त-वृत्तियाँ तदाकार हो जाती हैं।

स्वप्न और निद्रा, दो अवस्थाएँ स्वत: आती हैं। इनके अध्ययन से यह तो पता चलता है कि स्वप्न में एकाग्रता व निद्रा में निरोध-वृत्ति रहती है, किन्तु तमोगुण के कारण दोनों अवस्थाएँ जड़ होती हैं। यदि साधक सप्रयास निद्रा को जागृति में ले आवे तो कुछ काल बाद सप्रयास स्वप्न भी जागृति में ला सकता है।

सबसे पहले सप्रयास-निद्रा (auto-hypnosis) ले आना चाहिए। कुछ काल तक इसे चालू रखा जाय। बाद में सप्रयास-निद्रा की सरहद में एकतत्त्व पर संयम किया जाय तो स्वप्न प्रवृत्त हो जाएगा (self-mesmerism).

यह क्रिया गुप्त है, विशाल है। इसको साधने की इच्छा करने वाले को विधिवत् गुरुजी से दीक्षित होना चाहिए।

साधक के चित्त की विभिन्नता और रुचि तथा योग्यता के अनुसार किसी भी ऐसे साधन से मन थम जाता है, जिसमें उसकी श्रद्धा हो। पूर्वोक्त साधनों के अतिरिक्त और भी ऐसे साधन हैं, जिनका अवलम्बन साधक के लिए अनुमत है। प्रणव के बदले साकार अथवा निराकार से भी चित्त थम जाएगा। किसके लिए कौन-सी साधना उचित होगी, यह निश्चय अभिमत गुरु के लिए छोड़ दिया जाय।

पूर्वोक्त साधन उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिए बतलाए गए हैं। किन्तु जो अपने चित्त को थामने में असमर्थ हैं, ऐसे सामान्य व्यक्तियों के लिए

सांगोपांग योग का अनुष्ठान बतलाया जायेगा, जिससे चित्त की अशुद्धि के हेतुभूत क्लेशों का नाश हो तथा विवेकख्याति-पर्यन्त प्रकाश हो।

योग के ये अंग आठ हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें प्रथम पाँच क्रियात्मक हैं, शेष तीन ध्यानात्मक।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त वृत्तियों को एकाग्रता में समर्थ बनाया जाता है। धारणादि से एकाग्रता व निरोध की सिद्धि की जाती है।

तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान से जीवन शुद्ध होता है, जिससे चित्त आठों योगों का सुगमता से अभ्यास कर सकता है। ये तीनों क्रियात्मक साधनाएँ हैं।

शरीर, प्राण, इन्द्रिय समूह तथा अन्त:करण को वशीकार में ले आने के उपाय या उपायों को तप कहते हैं, जिससे साधक विक्षेपरहित होकर योग के मार्ग में आरूढ़ हो सके।

पुरुष ज्ञान परक शास्त्रों का अध्ययन तथा अपने इष्ट-मंत्र का विधिवत् जप ही स्वाध्याय है। इससे अन्तस् शुद्ध होता है।

ईश्वर के स्वरूप के अनुसंधान में मन को पूर्णत: लगा देना ही ईश्वर-प्रणिधान है। इससे समाधि लगती है।

उपरोक्त क्रिया-त्रयी के अभ्यास से चित्त बार-बार समाधि में प्रवृत्त होता है और पाँचों क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) निर्बल पड़ जाते हैं। अत: समाधि के अभ्यासी को, अन्य योगों के साथ, क्रिया-त्रयी का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

अब योग के आठ अंगों में से प्रथम अंग 'यम' की चर्चा की जाय। यम पाँच प्रकार के होते हैं – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। मन-वचन-कर्म से सत्य का पालन 'सत्य', किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना 'अहिंसा', चोरी न करना 'अस्तेय', वीर्यरक्षा 'ब्रह्मचर्य', और निर्लोभिता व संग्रह-वृत्ति का अभाव 'अपरिग्रह' है।

पाँच नियम हैं – शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। बाहरी और भीतरी पवित्रता को 'शौच' तथा पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त वस्तुओं में आनन्द 'सन्तोष' है। तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान के विषय में पहले बतला चुके हैं।

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह को महाव्रत कहते हैं और इनका पालन किसी जाति, देश, काल और समय की रूढ़ि में संकुचित न होकर सार्वभौम होना चाहिए। तात्पर्य यह कि इन पंच-महाव्रतों के पालन और उल्लंघन के लिए जाति, देश, काल और समय की रूढ़ि में संकुचित नियम न बनें। ये नियम सार्वभौम हैं।

असत्य, हिंसा, व्यभिचार, चोरी, लोभ-संग्रह, अशुचिता, असन्तोष, विलासिता, गप-शप, नास्तिकता की वृत्ति का प्रयोग स्वयं किया जाता है, दूसरों से करवाया जाता है, और दूसरों को करते देखकर अनुमोदित होता है। ये विरोधी प्रयोग 'वितर्क' के नाम से जाने जाते हैं। ये दोष, लोभ, क्रोध और मोह से किए जाने पर कभी मृदु-रूप में, कभी मध्यम-रूप में और कभी भयंकर-रूप में साधक में प्रवृत्त होते एवं दु:ख और अज्ञान के रूप में अनन्त फल देते हैं।

जब भी उपरोक्त वितर्क यम और नियम के पालन में बाधा पहुँचावें, तब उपरोक्त प्रकार से प्रतिपक्षी विचारों की भावना करनी चाहिए और यह विवेक जाग्रत करना चाहिए कि इन वितर्कों का परिणाम अनन्त दु:ख और अज्ञान होता है।

अहिंसा-व्रत का भली-भाँति पालन कर लेने से उस योगी की सन्निधि में सभी प्राणी पारस्परिक वैर को भूल जाते हैं।

सत्य-व्रत का भली-भाँति पालन कर लेने से वह योगी अमोघ वाणी का उपार्जन कर लेता है, जिसके फलस्वरूप उसमें वह शक्ति आ जाती है कि वह क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है।

अस्तेय-व्रत का भली-भाँति पालन कर लेने से वह योगी सर्वप्रकार की सम्पत्ति का उपस्थान बन जाता है, अर्थात् सम्पत्ति उसके पास अपने-आप चली आती है।

ब्रह्मचर्य-व्रत का भली-भाँति पालन कर लेने से योगी में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है।

अपरिग्रह-व्रत का भली-भाँति पालन कर लेने से योगी को अपने पूर्वापर-जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

बाह्य-पवित्रता के अभ्यास से अपने शरीर से विरक्ति और दूसरों के शरीर से संसर्ग न रखने की भावना जागती है।

आभ्यन्तरिक-पवित्रता के अभ्यास से चित्त-शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर वशीकार और आत्म-दर्शन की क्षमता उत्पन्न होते हैं।

सन्तोष के अभ्यास में दृढ़ता आ जाने से योगी को ऐसे सुख की प्राप्ति होती है, जिसकी बराबरी कोई भी सांसारिक सुख नहीं कर सकता।

तपस्या के अभ्यास से योगी के शरीर और इन्द्रियों के मल का नाश हो जाता है और उसे काय-सम्पद् और इन्द्रिय-सम्पद् रूप सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्याय के पूर्वोक्त नियमों का भली-भाँति पालन कर लेने से योगी को अपने इष्ट देवता के दर्शन होते हैं।

ईश्वर-प्रणिधान, जिसकी चर्चा कर आए हैं, के अभ्यास से समाधि की सिद्धि होती है।

उपरोक्त दसों व्रतों का भली-भाँति पालन करने वाला योगी न चाहते हुए भी सांसारिक सुखों पर अपना वश कर लेता है, सिद्धि और समाधि की भी प्राप्ति करता है।

योग के अभ्यासी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह शरीर और प्राणों को स्थिर बना ले। इसके लिए आसन और प्राणायाम का विधान है।

आसन व्यायाम के रूप में भी होते हैं और समाधि के अभ्यास के लिए बैठक के रूप में भी।

समाधि की सिद्धि के लिए योगी को आसन पर निश्चल होकर और सुख के साथ ऐसे बैठना चाहिए, जिसमें मेरूदण्ड सीधा रहे और अंगों में पीड़ा न हो। सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन और वीरासन – इन चारों में से किसी एक आसन को सुविधानुसार चुन लिया जाय।

आसन में स्थिरता और शिथिलता को ले आने के लिए शरीर-सम्बन्धी सब प्रकार की चेष्टाओं को त्याग कर अनन्त परमेश्वर में चित्त को लगा देना चाहिए।

आसन के सिद्ध हो जाने पर शरीर गर्मी और सर्दी जैसे अनुकूल और प्रतिकूल प्रभावों से अचंचल हो जाता है, शरीर में स्थिरता आ जाती है और समाधि की बाधाभूत विक्षेप वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं।

जिस तरह शरीर की स्थिरता आसनों से सिद्ध होती है, वैसे ही प्राणों की स्थिरता प्राणायाम से। आसन सिद्ध होने के बाद प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

श्वास और प्रश्वास के तार को तोड़कर अलग कर देने का नाम प्राणायाम है। श्वास और प्रश्वास के तारों को तोड़ने के लिए उपाय है श्वास को अन्दर और बाहर रोकना।

यह क्रिया इस प्रकार है। सांस अन्दर लीजिए; रोकिए; छोड़ दीजिए; बाहर रोकिए। इसी तरह करते जाइए। अधिकारी भेद से पूरक, अन्तर्कुम्भक, रेचक और बाह्य कुम्भक की मात्राएँ अलग-अलग हैं, जिसकी दीक्षा गुरु से लेनी चाहिए।

प्राणायाम में प्राणवायु को बाहर और अन्दर स्तम्भित कर तीन बातों का पहले ख्याल रखना चाहिए। एक तो यह देखा जाय कि प्राणवायु अन्तर्कुम्भक में किस स्थान तक अन्दर में पहुँच रही है और बाह्य-कुम्भक में कितने अंगुल तक बाहर जा रही है। दूसरा यह कि कितनी मात्रा तक अन्तर्कुम्भक और बहिर्कुम्भक होता है। तीसरा यह कि कितनी संख्या तक उनका अभ्यास हो रहा है, अर्थात् प्राणायाम की कितनी आवृत्तियाँ हो पा रही हैं।

क्रिया इस प्रकार है। मात्रानुसार पूरक कीजिए और किसी भी अन्त: प्रदेश में कुम्भक कर निश्चित समय को नापिए। तदनन्तर मात्रानुसार रेचक करते हुए श्वास का अंगुल-प्रमाण देखिए और अन्त में बाह्य कुम्भक कर किसी भी अन्त:प्रदेश में मात्रानुसार समय नापिए। इसी की आवृत्ति कीजिए।

उपरोक्त प्राणायाम के अतिरिक्त एक और प्राणायाम की क्रिया है। इसमें बाहर व भीतर के विषयों का त्याग कर देने से पूरक और रेचक को समान बना दिया जाता है। इसका अभ्यास दीर्घकाल तक होने से चित्त अपने आप थम जाता है।

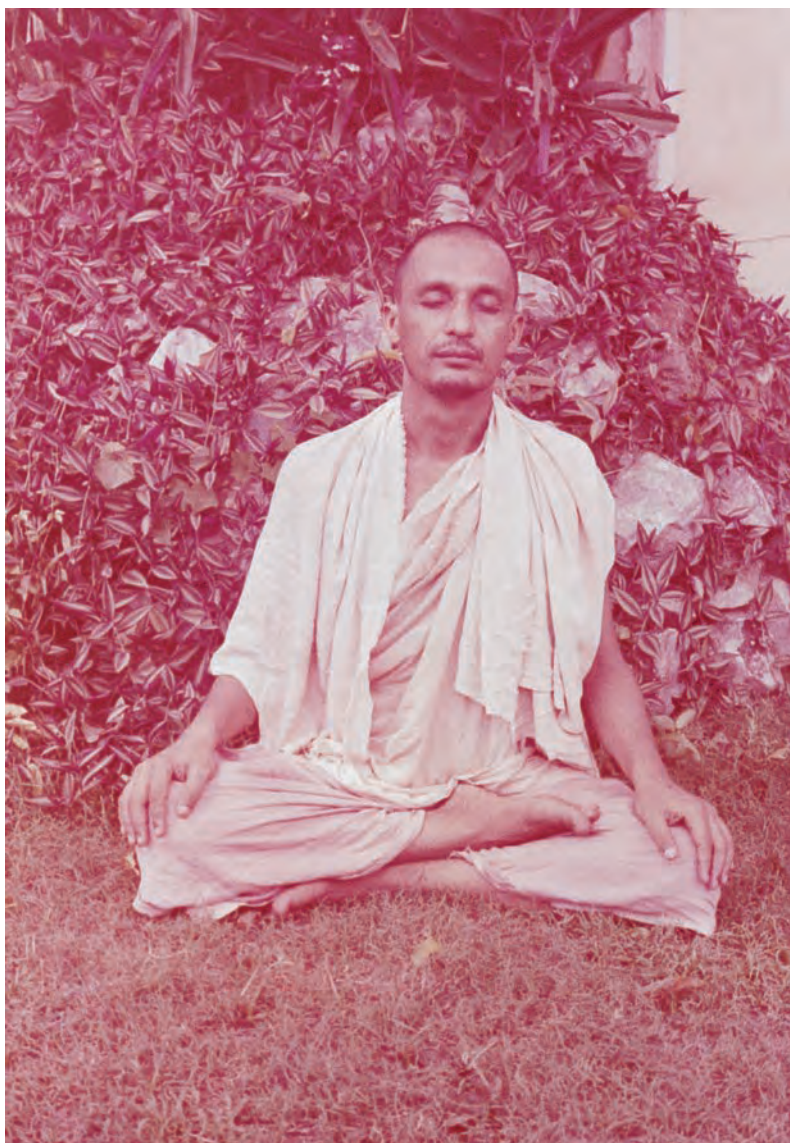
प्राणायाम का अभ्यास करते-करते अविद्याजनित आवरण, जिससे आत्म-ज्ञान-रूपी प्रकाश छिपा है, नष्ट हो जाता है और मन में किसी भी विषय की स्थिरतापूर्वक धारणा करने की क्षमता आ जाती है।

प्राणायाम के अभ्यास से, विशेष रूप से चतुर्थ प्राणायाम के द्वारा, चित्त की गति थम जाती है और इष्ट-विषय की, जितनी देर चाहो, भावना की जा सकती है।

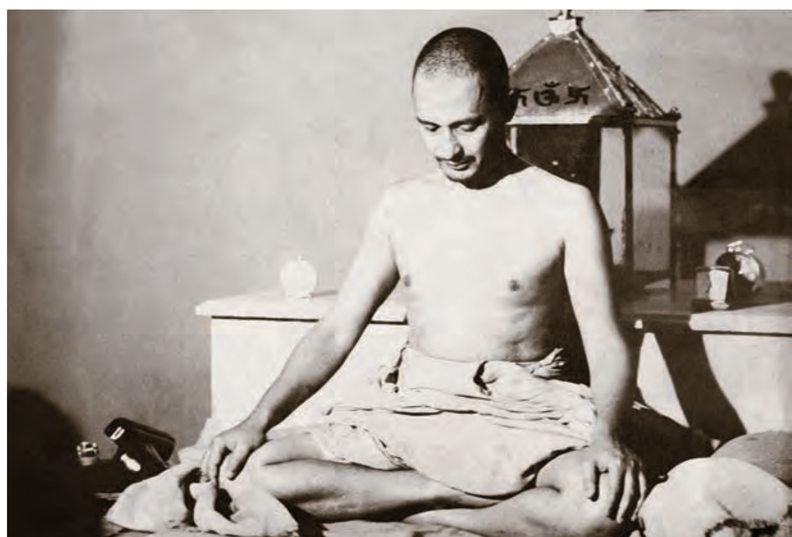
इन्द्रियों का अपने विषयों से उपरत होकर चित्त-वृत्ति का अनुगमन करना 'अष्टांग-योग' की पाँचवी साधना है। इसे प्रत्याहार कहते हैं।

इन्द्रियाँ अपने पाँच विषयों में रमण करती हैं और शब्दादि ज्ञान प्राप्त करती हैं। यह इन्द्रियज्ञान बहिर्मुखी वृत्तियों का परिणाम है।

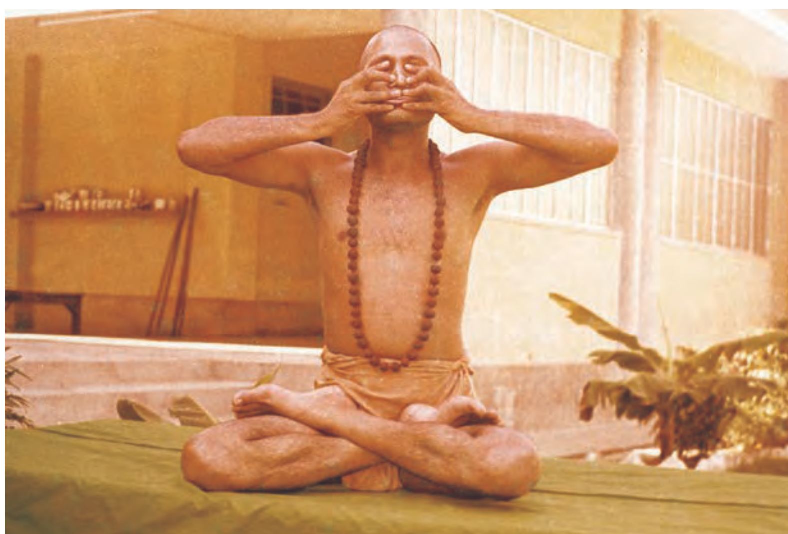
जब चित्त अपने ध्येय-स्वरूप के अभिमुख होता है, उस समय शब्दादि-विषयों का क्रमिक अथवा सर्वथा लोप होने लगता है और वे भी अन्तर्मुख होकर चित्त में मिल-सी जाती हैं।






ॐ







वास्तव में इन्द्रियाँ जड़ हैं, उनके अन्तर्मुख होने का सवाल ही नहीं उठता। यह तो चित्त ही अपने को इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्मुख कर शब्दादि का ग्रहण करता है, और ध्येयाभिमुख होकर अपनी ही शब्दादि का अनुभव करने वाली चेतना को अन्तर्मुख करता है। अत: बहिर्मुख-चित्त का, जिसे कर्मभाव से इन्द्रिय-समूह कहते हैं, अन्तर्मुख होना प्रत्याहार है।

अन्तर्मुख-वृत्ति के प्रवृत्त हो जाने से बहिर्मुखी वृत्ति याने इन्द्रिय-समूह की संवेदनशीलता व उनकी विषयाकार-वृत्ति पर योगी का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है। अर्थात् अन्तर्मुख अवस्था में इन्द्रियों के व्यापार थम जाते हैं। यह अवस्था प्रत्याहार की है।

यम-नियमादि पांच क्रियात्मक साधन, मन्द अधिकारियों के लिए उनको उत्तम बनाने के हेतु हैं। शेष तीन साधन धारणा, ध्यान और समाधि उत्तम अधिकारियों के लिए हैं। पाँच क्रियात्मक साधनों का उल्लेख कर दिया गया। अब शेष तीनों पर चर्चा होगी।

चित्त की वृत्ति को किसी भी स्थान पर थामना, ठहराना और बाँधना 'धारणा' है; अर्थात् मन से एक तत्त्व की धारणा करना। इसे किसी बाह्य तत्त्व पर त्राटक द्वारा साधा जाता है, अथवा अपने अन्तरंग तत्त्वों पर भी। कोई श्वास पर चित्त को थामते हैं तो कोई बाह्य-इन्द्रियों के विषयों पर। कोई इष्टदेव पर त्राटक तथा धारणा करते हैं तो कोई शून्याकार-वृत्ति से मन को थामते हैं; कोई संगीत की लय और ताल पर मन को लगाते हैं। इसी प्रकार चित्त को किसी भूमि पर ठहराना और किसी भी उपाय से ठहराना 'धारणा' कहलाती है। यह चित्त का समाधि-परिणाम है।

जब चित्त-वृत्ति अपने ध्येय-रूप आलम्बन पर एकतार और लगातार लगी रहती है, तथा कोई दूसरी वृत्ति बीच में नहीं आती, उस अवस्था को 'ध्यान' कहते हैं।

चित्त जिस तत्त्व पर अपनी वृत्तियों को तदाकार करता है, उसी का लगातार बने रहने को योगी लोग ध्यान कहते हैं। यह चित्त का एकाग्रता-परिणाम है।

धारणा-काल में एक-वृत्तिरूप ध्येय के बीच-बीच में अन्य विजातीय वृत्तियाँ भी आती-जाती रहती हैं और ध्याता, ध्यान तथा ध्येय-रूप त्रिपुटी विद्यमान रहती है। ध्यान में त्रिपुटी रहती है, किन्तु एक-वृत्तिरूप ध्येय सजातीय वृत्तियों के साथ प्रवाहवत् एकतार बना रहता है।

समाधि में यही ध्यान अभ्यास के बल से बढ़ते-बढ़ते त्रिपुटी-रहित हो जाता है और ध्येय-मात्र प्रकाशित रहता है। इस अवस्था में ध्यान से यही अन्तर है कि ध्यान-काल में ध्येय की अनुभूति होती है, किन्तु समाधि में ध्येय मात्र के रहने से ध्यान की क्रिया स्वरूप से शून्य-जैसी हो जाती है। अथवा यों कहें कि ध्यान में त्रिपुटी-सहित ध्येय प्रकाशित रहता है और समाधि में त्रिपुटी-रहित 'केवल ध्येयमात्र'।

निरोध-परिणाम के इस आरम्भकाल में, अर्थात् ध्यान के समाधि में परिणत होते ही, चित्त-वृत्ति, जो ध्यान में ध्याता और ध्येय तथा ध्यान की क्रिया की चेतना के रूप में सजग थी, केवल ध्येयमात्र बनकर अपने स्वरूप से शून्य हुई जैसी रहती है। निरोध-परिणाम की इस प्रारम्भिक अवस्था को निर्वितर्क-सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। यह सबीज समाधि है।

संक्षेप में धारणा, ध्यान और समाधि चित्त-परिणाम की तीन श्रेणियाँ हैं। चित्त को एकत्र कर एक ओर लाना धारणा, एक ही स्थान पर लगाए रखना ध्यान और ध्येय ही में सीमित हो जाना समाधि।

धारणा, ध्यान व समाधि में दूसरा पहले का परिणाम है। धारणा परिपक्व होकर ध्यान में और ध्यान ही समाधि में परिणत होता है। अत: इन तीनों के समुदाय को यौगिक भाषा में संयम कहा जाता है। जब किसी विषय पर संयम करने को कहा जाता है तो यही अर्थ लगाना चाहिए कि उस विषय पर धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करना है।

संयम में दृढ़ता आने से सम्प्रज्ञात का उदय होता है, और ध्येयमात्र रहता है। इस प्रज्ञा के प्रकाश से विवेकख्याति का साक्षात्कार होने लगता है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग साधन हैं और धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग साधन हैं सम्प्रज्ञात-समाधि के। बहिरंग साधनों से चित्त का बहिर्मुखी क्षेत्र सीमित होता जाता है, तथा अन्तरंग साधनों से चित्त की अन्तर्मुखी वृत्ति को निरोध-परिणाम की ओर उन्मुख किया जाता है।

बाहरी इन्द्रियों और जगत् से सम्बन्ध रखने वाले साधनों को बहिरंग तथा चित्त-वृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाले साधनों को अन्तरंग कहा गया है।

जिस तरह पाँच क्रियात्मक साधनाएँ संयम की अपेक्षा बहिरंग थीं, वैसे ही असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा धारणादि तीनों संयम भी बहिरंग हैं। निर्बीज समाधि का साधन है पर-वैराग्य, जो साधन होते हुए भी साध्य की तरह

निर्विषय और निरालम्ब है। धारणादि साधनाएँ सालम्ब हैं। अत: निर्बीज समाधि की अपेक्षा, जिसका साधन पर-वैराग्य है, बहिरंग हैं।

समाधि के तीन दर्जे हैं – सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात और धर्ममेघ कैवल्य-समाधि।

जिस समाधि में ध्येय का आकार रहे वह सम्प्रज्ञात, जब ध्येय का केवल संस्कार रहे वह असम्प्रज्ञात, जब ध्येय का नितान्त लोप हो जाय तो धर्ममेघ।

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता ध्येय-भेद से सम्प्रज्ञात के चार मुख्य भेद होते हैं। वितर्कानुगत के दो विभाग – सवितर्क और निर्वितर्क हैं। इसी प्रकार विचारानुगत के भी दो विभाग सविचार और निर्विचार हैं। इस तरह सम्प्रज्ञात के छ: भेद और श्रेणियाँ हुईं – (1) सवितर्क (2) निर्वितर्क (3) सविचार (4) निर्विचार (5) आनन्दानुगत (6) अस्मितानुगत। अब इन्हें संक्षेप में समझायेंगे।

विषयों के ग्रहण में एक तो ग्रहण करने वाला होता है, एक ग्राह्य-विषय होता है और एक होती है ग्रहण की क्रिया, जिन्हें ग्रहीता, ग्राह्य और ग्रहण की त्रिपुटी कहते हैं।

रजोगुणी और तमोगुणी-वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर चित्त सात्त्विकता के प्रकाश में इतना निर्मल हो जाता है कि उसको जिस विषय में लगावें, वह तदाकार हो कर उसका साक्षात्कार कर लेता है। जिस तरह अत्यन्त निर्मल स्फटिक के सम्मुख जैसी वस्तु रख दी जाय, वह तद्रूप प्रतीत होती है, उसी तरह चित्त के ग्राह्य-रूप स्थूल तथा सूक्ष्म विषय अथवा ग्रहण-रूप इन्द्रियों अथवा ग्रहीता-रूप अस्मिता के तद्रूप हो जाने को समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

जब चित्त को किसी स्थूल ग्राह्य-विषय के शब्द, अर्थ और ज्ञान (नाम, रूप तथा तत्-सम्बन्धी चेतना) पर एकाग्र करते जाते हैं तो 'सवितर्क-सविकल्प समाधि' लगती है। स्थूल विषय, जो बाह्य कारणों से ग्रहण होता है, अपने नाम, रूप और प्रतीतिसहित सवितर्क समाधि का ध्येय होता है। अपने इष्ट को नाम, रूप और प्रतीति सहित चित्त-वृत्ति की तदाकारता का विषय बनाना सवितर्क-समाधि ही है।

किन्तु, जब नाम और प्रतीति की स्मृति पूर्णत: लुप्त होती जाती है, केवल रूप ही ध्यानगत होता है अर्थात् जब बाह्य वृत्ति लुप्त हो जाती है और अन्तर्मुख वृत्ति एकाग्रता की सीमा तक पहुँच जाती है, उस समय की चित्त की रूपाकार-तद्रूपता को 'निर्वितर्क निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। अपने इष्ट के ध्यान में

नाम, रूप और प्रतीति का अभ्यास करते-करते जब स्मृति का लोप होने लगता है, तब केवल ध्येय-मात्र का रूप ग्रहणात्मक-स्वरूप से रहित हुआ-सा प्रकाशित होता है।

इसी प्रकार जब चित्त को किसी सूक्ष्म-विषय के नाम, रूप और प्रतीति पर, उसके देश, काल और निमित्त के विचार से, एकाग्र करते जाते हैं तो 'सविचार सविकल्प समाधि' लगती है। सविचार में सवितर्क की अपेक्षा यही अन्तर है कि सवितर्क में ध्येयानुगामी वृत्ति स्थूल विषय में तो तद्रूप रहती है और सविचार में सूक्ष्म-विषय को लेकर चलती है।

किन्तु जब चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है तब उस सूक्ष्म-विषय की नाम-सहित-प्रतीति की स्मृति का पूर्णतया लोप हो जाता है, और चित्त निज स्वरूप को भूल कर केवल ध्येय के रूप में अनुगत रहता है। चित्त की इस सूक्ष्म-ध्येयानुगत-तद्रूपता को 'निर्विचार' या 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। त्रिपुटी के अभाव में इस अवस्था में योगी की सम्पूर्ण-चेतना ध्येयमात्र में प्रकाशित रहती है, याने ध्येय का स्वरूपमात्र रहता है।

संक्षेप से, स्थूल-ग्राह्य विषय के नाम, रूप और प्रतीति-सहित चित्त-वृत्ति की तदाकारता 'सवितर्क', नाम और प्रतीति-रहित चित्त वृत्ति की स्थूल ग्राह्य विषय के रूप में तदाकारता 'निर्वितर्क', सूक्ष्म-ग्राह्य विषय के नाम और प्रतीति-सहित चित्त वृत्ति की तदाकारता 'सविचार' तथा नाम और प्रतीति-रहित चित्त वृत्ति की सूक्ष्म-ग्राह्य विषय के रूप में तदाकारता 'निर्विचार' – इस प्रकार सम्प्रज्ञात-समाधि के चार भेद बतलाए गए। शेष के दो भेद-आनन्दानुगत और अस्मितानुगत – इन्हीं की ऊँची अवस्थाएँ हैं। सविचार समाधि के अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर, सत्त्वगुण की अधिकता में, जब योगी अंहकार का साक्षात्कार करता है तो 'आनन्दानुगत-समाधि' लगती है। और, जब इसी अभ्यास को और आगे बढ़ाया जाता है तो अहंकार के कारणभूत अस्मिता की धारणा प्रत्यक्ष होती है – यही 'अस्मितानुगत समाधि' है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के स्थूल-स्वरूप तथा इनसे उत्पन्न तमाम भौतिक-स्थूल-पदार्थों का समावेश स्थूल-विषयों में होता है। ये वितर्कानुगत के ग्राह्य विषय हैं।

पंचतन्मात्राओं और उनके कारण अहंकार और उसका कारण महत् तत्त्व और उसका कारण मूल-प्रकृति – ये सब सूक्ष्म-विषय कहे गये हैं और विचारानुगत के ग्राह्य-विषय हैं।

पूर्वोक्त छहों समाधियाँ सबीज, सालम्बन तथा सम्प्रज्ञात हैं, क्योंकि इनमें बीज-रूप से किसी-न-किसी ध्येय को विषय करने वाली चित्त वृत्ति अनुगत रहती है। अर्थात् इन समाधियों में चित्त का पूर्ण निरोध नहीं होता है।

निर्विचार समाधि, जिसके विषय में चर्चा हो चुकी है और जिसमें आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भी सम्मिलित हैं, शुद्ध और निर्मल होकर प्रवाहित होने से योगी की प्रज्ञा निर्मल हो जाती है। जरा भी क्लेश और मल नहीं रहने से योगी को अपने अन्दर से अनुभूत प्रसन्नता का साक्षात्कार होता है।

इसके उपरान्त समाधिजन्य-प्रज्ञा, जिसे ऋतम्भरा कहते हैं, उत्पन्न होती है, जो सत्यमयी है, अर्थात् भ्रान्ति आदि अविद्याजनित अज्ञान वाली नहीं है, और जिसके प्राप्त हो जाने पर योगी को सत्य का साक्षात् अनुभव होता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा व पुरुष दर्शन अन्योन्याश्रित या समकालीन उपलब्धियाँ हैं।

सबीज-सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त-वृत्ति ही परिणाम को प्राप्त होती है, किन्तु असम्प्रज्ञात की प्राप्ति चित्त-वृत्ति के निरोध करने से ही सिद्ध होती है। असम्प्रज्ञात समाधि भी दो प्रकार की होती है; भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात एवं उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात। विदेह और प्रकृतिलय की संज्ञा वाले योगियों को भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात की प्राप्ति होती है।

जन्म से ही जिसको असम्प्रज्ञात की सिद्धि हो, अर्थात् प्रतीति अथवा ज्ञान हो, उसे ही 'भव-प्रत्यय' कहा जाता है, उपाय जिस प्रतीति में कारण हो, वह 'उपाय-प्रत्यय' है।

विदेह और प्रकृतिलय-संज्ञा वाले योगी योगभ्रष्ट होते हैं। अत: उन्हें अपर जन्म में पूर्व जन्म वाली बुद्धि के मिल जाने से भव-प्रत्यय की प्राप्ति हो ही जाती है।

पूर्वजन्म में जिन्होंने वितर्क और विचार-समाधि को सिद्ध कर आनन्दानुगत अभ्यास-काल में देह-त्याग किया था, उनका देहाध्यास तो छूट गया था, किन्तु आत्मस्थिति प्राप्त नहीं हुई थी, ऐसे योगी अपर जन्म में पूर्व जन्म वाली बुद्धि के मिल जाने पर उससे आगे की समाधि के अभ्यास की क्षमता को जन्म से ही प्राप्त करते हैं। इन्हें 'विदेह' की संज्ञा दी जाती है।

'प्रकृतिलय' संज्ञा उन योगभ्रष्टों की है, जिन्होंने आनन्दानुगत-समाधि को सिद्ध कर अस्मितानुगत-समाधि का अभ्यास-प्रक्रम समाप्त करने के पहले ही देह-त्याग कर दिया था। सूक्ष्म-विषयों का विस्तार मूल-प्रकृति तक है, यह पहले कह आये हैं। योगी विभिन्न समाधियों का अभ्यास करते-करते जब

अपने चित्त को प्रकृति में, जो सूक्ष्म-विषय की चरमावस्था है, लय कर देता है तो प्रसंगवश 'प्रकृतिलय' कहलाता है।

उपरोक्त दोनों श्रेणियों के योगियों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात का ज्ञान हो जाता है और वे शीघ्र ही उसकी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

किन्तु जिन्हें असम्प्रज्ञात-समाधि का योग पूर्वजन्म से प्राप्त नहीं हुआ, उन्हें प्रयत्न द्वारा असम्प्रज्ञात की सिद्धि करनी पड़ती है। उपाय ही जिस प्रतीति में कारण हो, वह 'उपाय-प्रत्यय' है।

पूर्व-जन्मों में संचित योग के संस्कार, जो दबे थे, साधारण-योगियों के सम्बन्ध में, साधना-रूप उपायों द्वारा जाग जाते हैं और वह योगी असम्प्रज्ञात की सिद्धि कर लेता है।

ये उपाय हैं – श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। जिस योगी को पूर्वजन्मों में योग की उच्च-समाधियों के अभ्यास का अवसर नहीं मिलता, किन्तु जो योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील था, वह प्राप्त-जन्म में पूर्व-स्मृति के संयोग से योगसिद्धि के मार्ग में रुचि लेता और प्रयत्नशील होता है, ऐसे योगी को मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ मिलती हैं, जिनके निराकरण का उपाय बतलाया गया है, श्रद्धा आदि।

अविचलभाव से गुरु द्वारा बतलाए गए साधन में लगे रहने की प्रकृति 'श्रद्धा', साधन में सतत् उत्साह 'वीर्य', पूर्वजन्मों में प्राप्त योग-भूमिकाओं की अनुभूति 'स्मृति', चित्त की स्थिरता 'समाधि' और तत्समाधिजन्य आत्म-ज्ञान को 'प्रज्ञा' या ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं।

उपाय-प्रत्यय-योगियों में भी वे योगी, जिनकी साधना की गति वैराग्य के कारण तीव्र हो, शीघ्र ही समाधि-लाभ करते हैं।

साधना की मन्द, सामान्य और तीव्र, तीन गतियाँ होती हैं। साधना में उपायों की न्यूनाधिकता से ये तीन दर्जे होते हैं। कोई मन्द वेग वाला योगी, कोई सामान्य वेग वाला योगी और कोई तीव्र वेग वाला योगी होता है। इसमें तीव्र वेग वाले योगी को जल्दी ही समाधि प्राप्त हो जाती है।

मन्द, सामान्य और तीव्र – ये तीनों उपाय भी भाव की न्यूनाधिकता (वैराग्य की कमी-बेशी) से मृदु, मध्य और अधिमात्र-संवेग वाले हो जाते हैं।

मन्द-उपाय वाले मृदु-वैराग्य के कारण 'मन्द उपाय मृदुसंवेगवान्', मध्य वैराग्य के कारण 'मन्द उपाय मध्यसंवेगवान्' और अधिमात्र वैराग्य के कारण 'मन्द उपाय अधिमात्रसंवेगवान्' – तीन कोटि के होते हैं।

सामान्य उपाय वाले भी मृदु, मध्य और अधिमात्र-वैराग्य के भेद से 'सामान्य उपाय मृदुसंवेगवान्', 'सामान्य उपाय मध्यसंवेगवान्' और 'सामान्य उपाय अधिमात्रसंवेगवान्' – तीन कोटि के होते हैं।

इसी प्रकार तीव्र उपाय वाले भी वैराग्य-भेद से तीन कोटि के होते हैं – 'तीव्र उपाय मृदुसंवेगवान्', 'तीव्र उपाय मध्यसंवेगवान्' और 'तीव्र उपाय अधिमात्रसंवेगवान्'।

इसी प्रकार उपाय-प्रत्यय योगियों की उपाय-भेद से तीन कोटियाँ और वैराग्य-भेद मिला कर नौ कोटियाँ हो जाती हैं। इन नौ प्रकार के उपाय-प्रत्यय योगियों में 'तीव्र उपाय अधिमात्र संवेगवान्' को समाधि-लाभ में विशेषता होती है।

चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध के कारण पर-वैराग्य के बारम्बार अभ्यास से जिस अवस्था में निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं, उसी को 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।

सम्प्रज्ञात की पराकाष्ठा है विवेक-ख्याति। असम्प्रज्ञात में इसका भी निरोध हो जाता है। विवेक-ख्याति में चित्त एकवृत्तिक होकर ध्येय का आलम्बन ग्रहण किए रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात में कोई ध्येय नहीं रहता।

असम्प्रज्ञात का साधन है पर-वैराग्य का अप्रतिहत अभ्यास। इस काल में चित्त-वृत्तियाँ नहीं, वरन् उनके निरोध के संस्कार रहते हैं। यह अवस्था द्रष्टा की अपने स्वरूप में अवस्थिति की है।

असम्प्रज्ञात-योगी स्वरूपावस्थिति के उपरान्त भी प्राणियों के कल्याण में, ईश्वरीय-संकल्पानुसार अभिरत रहते हैं। उनका दिव्य संकल्प ही अवतरित होकर प्राणियों का कल्याण करता है।

पुरुषख्याति में सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञत्व है। इसका लक्षण ऋतम्भरा प्रज्ञा है। यह 'विवेकज ज्ञान' का पूर्वरूप है। इसका प्रसार और इसकी अन्तिम गति 'विवेकज ज्ञान' में है।

विवेकख्याति के संस्कारों के निरुद्ध हो जाने से परवैराग्यजनित असम्प्रज्ञात की उपलब्धि होती है। यही विवेकज या तारक-ज्ञान है, जो समस्त-विषयों में गतिशील, समस्त-विषयों का सर्वविध-सर्वज्ञ और निरतिशय सर्वज्ञ है। तात्पर्य यह कि कोई भी ज्ञेय-विषय विवेकज-ज्ञान का अविषय नहीं रहता।

किन्तु योगी को परवैराग्यजनित असम्प्रज्ञात से भी वैराग्य हो जाता है; यही पुरुष का गुणों के साथ आत्यन्तिक वियोग है।

वैराग्य की चरम-गति धर्ममेघ-समाधि है। इसमें पुरुषख्याति के उपरान्त प्रज्ञा से भी राग टूट जाता है, तदुपरान्त असम्प्रज्ञात के निरोध-संस्कारों से भी वैराग्य हो जाता है। जब समस्त संस्कारों का समूल नाश हो जाता है, तब उस मुहूर्त में धर्ममेघ समाधि का अवतरण होता है।

ज्ञान की इस परिपक्व अवस्था में योगी चित्त और चिति के भेद को प्रत्यक्ष जानकर, और यह जानकर कि आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, अपने को भी भूल जाता है। उस काल में वह विवेक-मार्ग का अनुसरण कर कैवल्य-ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान की इस परिपक्व अवस्था में, सब प्रकार के आवरणों और मलों के हट जाने से, ज्ञान की अनन्तता में, योगी के लिए जानने योग्य कुछ और शेष नहीं रहता। यही कैवल्य है।

अब तमाम सिद्धियों का रहस्य बतलाते हैं। वशीकरण, शक्तिसंचार, चित्त-निर्माण, परकाया-प्रवेश, शरीर-निर्माण आदि जितनी भी चामत्कारिक क्रियाएँ हैं, जिनको लोग अज्ञान से कामरूप का जादू कहते हैं, वे और कुछ नहीं, संयम के परिणाम हैं, जिनका उल्लेख किया जायेगा।

पूर्वोक्त संयम का प्रयोग चित्त को आधार बना कर किया जाता है, अर्थात् किसी पदार्थ पर संयम करने से वह चित्त का आधार बन जाता है। जिस पदार्थ पर संयम करना हो, उस पर साधक चित्त-निक्षेप करे और वहीं उसे युक्त कर दे, जब तक ध्येयमात्र अवशेष न रहे। संयम सध जाने पर तत्पदार्थ-सम्बन्धी सिद्धि प्राप्त होती है।

तत्कथित संयम द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ ईश्वर-दर्शन में विघ्न-रूप हैं, किन्तु विक्षिप्त चित्त वालों को सिद्धि-रूप दिखती हैं। अतः बुद्धिमान् साधक इनका तिरस्कार कर आत्म-साक्षात्कार का बराबर प्रयत्न करता रहे।

योग भूमियाँ चार होती हैं – प्रथम-काल्पिक, मधुमती, प्रज्ञा-ज्योति और अतिक्रान्तभावनीय। जैसे-जैसे साधक इन भूमियों को पार करता जाता है, वैसे-वैसे तत्तत्स्थानीय देवता उसे दर्शन देते, उसकी प्रशंसा करते, भोग तथा ऐश्वर्यों का प्रलोभन देते तथा हर प्रकार से साधक को अपनी ओर खींचते हैं। सावधान योगी को चाहिए कि इन शक्तियों के निमन्त्रण की उपेक्षा करे, संग न करे, और अभिमान भी न करे। प्रायः दूसरी भूमिका में कथित घटनाएँ घटती हैं और योगी फिसल जाता है।

संयम के द्वारा चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होता जाता है और जैसे-जैसे उसकी सूक्ष्मता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसकी गति, शक्ति,

आकर्षण आदि महिमाओं का विस्तार होता जाता है। स्थूल चित्त इन्द्रियों द्वारा संवेदनओं को ग्रहण करता है, किन्तु सूक्ष्मतम याने सात्त्विक-चित्त आकाशीय-तरंगों से तमाम संवेदनाओं को ग्रहण कर लेता है। यदि आँखें स्थूल वस्तु को ग्रहण करती हैं तो सात्त्विक चित्त अदृश्य-माध्यमों का आधार लेकर अतिदूर की वस्तुओं को देख लेता है। संयम द्वारा चित्त को वृत्तिशून्य बनाया जाता है और उसकी अन्तर्निहित शक्तियों को बढ़ाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि जल पर चलना, एक वस्तु को अनेक बनाना, चित्त को पढ़ लेना आदि सिद्धियाँ सात्त्विक-चित्त के परिणाम हैं, और कुछ भी नहीं। बहुतों को एकाध ऐसी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, किन्तु धनादि की तरह नाशवान् होने से वह कुछ काल में समाप्त भी हो जाती है। यह जानना आवश्यक है कि संयम द्वारा प्राप्त सिद्धियाँ एकांगी और नाशवान् होती हैं; किन्तु जिन्होंने अपने अन्त:करण को तपस्या और विवेक से मूलत: चमका दिया है और जो निष्पाप हो चुके हैं, उनकी शक्तियाँ सर्वतोमुखी और अविनाशी होती हैं। अत: विद्वान् साधक संयम के फेर में पड़ कर अपना समय बर्बाद न करें और मेरे अनुभवों को सीख मान लें कि संयम का किसी पदार्थ पर विनियोग करने से उसकी सिद्धि में जितना समय लगता है, उतने अथवा उससे कम समय में साधक विवेकादि-साधनों से अन्त:करण को शुद्ध कर ऋतम्भरा की प्राप्ति कर सकता है।

तो यह भी जान लेना चाहिए कि योगी किस प्रकार प्रयोगशाला और ऐपरेटस् के बिना शरीर के व्यूह का, तारामण्डल का, लोक-लोकान्तरों का तथा अन्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह भी जान लेना चाहिए कि सिद्धि के पीछे पड़ना एकदम पागलपन है, और समय तथा श्रम का अपव्यय है।

किसी भी वस्तु के पूर्वापर को जानने के लिए उस वस्तु के तीनों परिणामों–धर्म परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम पर संयम करना चाहिए।

ध्येय-पदार्थ के शब्द, अर्थ और ज्ञान, जो तीन अंग हैं, परस्पर मिले रहने से, एक रूप में भासते हैं। उनके अलग-अलग विभागों पर संयम करने से सब प्राणियों की बोली जान ली जाती है।

वासना-रूप और धर्माधर्म-रूप दो प्रकार के संस्कारों पर संयम करने से, उन संस्कारों का साक्षात्कार हो जाने से, जिस देश, काल और निमित्तों में वे बने, सब याद आ जाता है और योगी अपने पूर्व जन्मों को जान लेता है।

हृदय-कमल में अर्थात् अनाहत-चक्र में संयम साधने से वृत्तिसहित चित्त का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

दूसरे के चित्त की किसी एक वृत्ति को ग्रहण कर उस पर संयम साधने से उसके चित्त की साधारण अवस्था का साक्षात्कार होता है।

किन्तु यह ज्ञान नहीं हो सकता कि वह किस वस्तु या विषय का चिन्तन कर रहा है, क्योंकि संयम चित्त-वृत्ति का हो रहा है न कि कारणों का।

अपने शरीर के रूप में संयम साधने से जब उसकी ग्राह्य शक्ति एक हो जाती है, तब द्रष्टा के चक्षु के प्रकाश का उसके शरीर के साथ सम्बन्ध न होने के कारण योगी अन्तर्धान हो जाता है। शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध की ग्रहण-शक्ति को भी इसी प्रकार रोका जाता है।

आयु-निर्माण करने वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो अपना फल देने लग गए हैं और दूसरे वे, जिनका फल-भोग आरम्भ नहीं हुआ है। इनको क्रमश: सोपक्रम या निरुपक्रम संज्ञा दी जाती है। इन पर संयम साधने से मृत्यु काल का पूर्वज्ञान हो जाता है। अथवा अरिष्ट-लक्षणों से भी मृत्यु का ज्ञान हो सकता है, जो संशयरहित नहीं होता।

मैत्री, करुणा, मुदिता में तीनों पर संयम सध जाने से मित्रता का सामर्थ्य, हरेक प्राणी के दु:ख को दूर करने का सामर्थ्य और दूसरों को प्रसन्नता देने का सामर्थ्य प्रकट हो जाता है।

हाथी आदि विशेष बलशाली प्राणियों के बल पर अलग-अलग संयम करने से वैसा ही बल प्राप्त हो जाता है।

सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट (अतीन्द्रिय, छिपी हुई और दूर की) वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्योतिषमती-प्रवृत्ति द्वारा उस-उस वस्तु पर संयम किया जाता है तो वे उस प्रकाश में प्रकट हो जाती हैं।

सुषुम्ना-नाड़ी पर संयम साधने से चौदहों भुवनों का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

चन्द्रमा पर संयम करने से राशि-चक्र का ज्ञान हो जाता है। योगी ताराव्यूह के ज्ञान में इसकी सहायता ले सकता है।

निश्चल ध्रुव-नक्षत्र पर संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

नाभि-चक्र में संयम करने से अपने शरीर की पूरी स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान होता है।

कण्ठ-कूप नामक विशुद्धि चक्रस्थानीय केन्द्र पर संयम करने से योगी को भूख-प्यास नहीं लगती।

कण्ठ-कूप के नीचे जो कछुए के आकार वाली नाड़ी है, उस पर संयम करने से स्थिरता आती है, जिससे योगी का शरीर अचल और अटल हो जाता है।

खोपड़ी के मध्य में ब्रह्म-रन्ध्र नामक छिद्र है, जिसमें प्रकाश है। आज्ञा-चक्र पर संयम करने से वह प्रकाश प्रकट होता है। तब उस प्रकाश पर संयम करने से सिद्धात्माओं के दर्शन होते हैं।

उपरोक्त तमाम सिद्धियाँ बिना संयम किए ही केवलमात्र पूर्ण-प्रकाशात्मक विवेकजनित प्रातिभ-ज्ञान से भी प्राप्त होती हैं।

अविद्या के कारण चित्त के धर्म चैतन्य-पुरुष में अध्यारोपित होते हैं; यही भोग है और पुरुष के लिए है। इस अवस्था में चित्त की भोग-रूप-वृत्तियों से भिन्न जिस द्रष्टा-पुरुष की वृत्ति होती है, उस वृत्ति पर संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

कथित संयम से पुरुष-ज्ञान के होने से पहले प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। प्रातिभ शक्ति से सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट तथा अतीत-अनागत की वस्तुओं को जान लिया जाता है। श्रावण शक्ति सुनने की दिव्य और असाधारण शक्ति है। वेदना स्पर्श की, आदर्श देखने की, आस्वाद रस ग्रहण की और वार्ता गन्ध लेने की दिव्य और असाधारण शक्तियाँ है।

अहंकार से सत्त्व द्वारा श्रोत्र की उत्पत्ति है और तमोगुण द्वारा श्रोत्र के विषय, शब्द और आकाश की उत्पत्ति है। श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से श्रवण की दिव्य-शक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार नासिका और पृथ्वी में, रसना और जल में, चक्षु और अग्नि में, त्वचा और वायु में संयम करने से क्रमश: दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य चक्षु और दिव्य स्पर्श की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

योगी अपने चित्त को दूसरे के शरीर में भी प्रविष्ट करा सकता है, जब शरीर से चित्त को बाँधने वाले कर्मों को शिथिल कर दिया जाता है और उसके संचार-मार्ग को योगी जान लेता है, तब उसके चित्त का परकाया में प्रवेश होता है। जिन नाड़ियों द्वारा चित्त बाहर आता है, उनका ज्ञान हो जाने पर ही योगी को यह क्रिया करनी चाहिए, अन्यथा नहीं।

समस्त देह में बरतने वाली प्राणवायु के क्रियाभेद से पांच मुख्य नाम हैं – प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान। इनमें उदान वायु कण्ठ में और ऊपर समस्त मस्तिष्क में रहती है। इस पर संयम करने से योगी इसे जीत लेता है और तत्फलत: जल, कीचड़, काँटों पर चलता और उत्तरायण मार्ग से ऊर्ध्व-गमन करता है।

उदर में स्थिर रहकर पाचनादि-कर्मों को करने वाली समान-वायु को संयम द्वारा जीत लेने से उसके अधीन छिपी हुई अग्नि प्रकट होकर योगी को दीप्तिमान् बना देती है।

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से तथा हल्की रूई के हल्केपन में संयम करने से शरीर इतना हल्का हो जाता है कि योगी 'लघिमा' की प्राप्ति कर आकाश-गमन कर सकता है।

मन को संकल्प से बाहर धारण करना, पुनः इसी अभ्यास को बढ़ा कर मन को सचमुच ही शरीर से बाहर स्थित कर देना अकल्पिता महाविदेहा-वृत्ति है। इसके सिद्ध हो जाने से चित्त के प्रकाश का आवरण हट जाता है, याने आवरणमूलक क्लेश, कर्म-विपाक आदि का नाश हो जाता है, और योगी के चित्त की शक्ति सूक्ष्म और तीव्र होकर सर्वगामिनी हो जाती है। तत्फलतः वह परकायप्रवेश और सूक्ष्म-संचार में सहायक हो जाती है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश-रूप पंचभूतों के स्वरूप सूक्ष्मत्व, अन्वय और अर्थवत्ता में संयम करने से योगी को पाँचों भूतों पर प्रत्यक्ष वशीकार हो जाता है।

भूतों पर प्रत्यक्ष-वशीकार होने से अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व, कामावसायित्व नामक आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, काय-सम्पत् की प्राप्ति होती है और पाँचों भूतों के धर्मों से कोई रुकावट नहीं होती अर्थात् वे योगी के लिए कोई भी बाधा नहीं कर सकते हैं।

कायसम्पत् कहते हैं रूप, लावण्य, वज्रकी-सी बनावट और बल को। यह भूतजय का फल है।

पंच-ज्ञानेन्द्रियों की विषयाकार वृत्ति, बाहरी क्रिया शक्ति, अंहकार, अन्वय और प्रयोजन पर संयम करने से इन्द्रिय-जय की प्राप्ति होती है।

और इन्द्रिय-जय की प्राप्ति हो जाने से मन के समान शरीर का वेगवान् होना, बिना शरीर के इन्द्रियों में कर्म क्षमता का आना और प्रकृति के सब विकारों पर वशीकार का होना – ये मधु-प्रतीका सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

क्षणों के पूर्वापर-प्रवाह के विच्छेदरहित रूप को 'क्रम' कहते हैं। यही काल कहलाता है तथा काल के समस्त-विभाग क्षणों के क्रमिक प्रवाह हैं; अर्थात् अतीत और अनागत वर्तमान क्षण के परिणाम हैं। क्षणों के विच्छेद-रहित इस पूर्वापर-प्रवाह को संयम में धारण करने से विवेकज-ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे वह भिन्न जाति, लक्षण और देश वाली तुल्य वस्तुओं को

उनके अलग-अलग स्वरूप में जान लेता है। इसी ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर वह तारक-ज्ञान को प्राप्त होता है।

तारक-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर योगी को चित्त और पुरुष का परस्पर-भेद प्रत्यक्ष हो जाता है और जैसे जल-मिश्रित दूध को विशुद्ध कर देने से दूध ही शेष रहता है, वैसे सत्त्व-मिश्रित-पुरुष की विशुद्धि हो जाने से केवल पुरुष ही शेष रहता है। यही कैवल्य है। कैवल्य ही परम और अविनाशी सिद्धि है, जिसे प्राप्त करने के बाद और कुछ प्राप्त करने योग्य नहीं रहता।

उपरोक्त सिद्धियाँ नाशवान् हैं, कैवल्य में विघ्न हैं और योगमार्ग में केवल उत्साह के हेतु इन्हें मानना चाहिए।

अविद्यादि पंचक्लेशों से चित्त की वृत्तियाँ चंचल होकर जीव के बन्धन का कारण बनती हैं। इन पंच क्लेशों की निवृत्ति ही चित्त वृत्तियों के सम्बन्ध से जीव का मोक्ष है। विद्वान् योगी योग-साधना के मुख्य फल-रूप-समाधि के लिए प्रयत्न करता है न कि नाशवान् सिद्धियों के लिए। योग विद्या का मूलभूत लक्ष्य ही यही है कि जीव अविद्यादि से मुक्त होकर विचरे, न कि छिटपुट सिद्धियों से उसे भ्रमित करे। वास्तव में बात भी यही है कि सिद्धि प्राप्त हो जाने पर अशान्ति बढ़ती जाती है, जबकि योग का उद्देश्य है 'परम शान्ति'। यह सही है कि योगविद्या अपनी गुप्त शक्तियों का परिचय तत्काल दे देती है, किन्तु ऊँचे ध्येय वाले साधक को ऊँचे ध्येय का ही अवलम्बन करना चाहिए।

जीव के संचित कर्म, जो अविद्यादि के कारण किए गए, वर्त्तमान और आगामी जन्मों में भोगे जाते हैं, जिनके कारण जीव पशु-पक्षी आदि शुभाशुभ-योनियों में घूमता रहता है। जीव का कर्माशय केवल पुण्य-मूलक नहीं होता, वरन् अनन्त-विध-संस्कार उसमें ग्रथित रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर-रूप इस दु:ख का कारण है अविद्यादि-निर्मित कर्माशय।

जीव जिस शरीर में जन्म लेता है, वह उसकी जाति है। जब तक उस शरीर में रहता है, वह उसकी आयु है और उस शरीर में जिस-जिस सुख-दु:ख की इन्द्रियादि से अनुभूति करता है वह भोग है। जाति, आयु और भोग-रूप नियत-विपाक कर्माशय के अनुकूल होता है।

अविद्यादि कारणों से जन्म-जन्मान्तर से संचित कर्म-संस्कार ही जीव को मृत्यु के उपरान्त विभिन्न योनियों में ले जाते हैं। कुछ संस्कार, जो चित्त में प्रबल रूप में रहते हैं, पूरे वेग से जाग कर सजातीय पूर्व-संस्कारों को भी

जगा देते हैं, जिनके अनुसार भोग नियत होता है। कुछ संस्कार, जो शिथिल हैं, उपसर्जन-कर्माशय के रूप में रहते तथा अनियत भविष्य में प्रकट होते हैं।

पर यह सच है कि नियत अथवा अनियत कर्म-विपाक योनि, आयु और भोग के रूप में अविद्यादि-मूल के रहते बराबर प्रबल रहते हैं, अन्यथा याने अविद्यादि के नाश हो जाने पर एकदम क्षीणप्राय हो जाते हैं।

कर्मों को तीन भागों में विभक्त किया गया है – संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। अनेकों जन्मों में किए गए जो कर्म संस्कार रूप से कर्माशय में हैं, वे संचित कर्म हैं। जन्म, आयु और भोग के रूप में जो प्रकट होते जा रहे हैं, वे प्रारब्ध-कर्म हैं। नवीन कर्मों के संस्कारों को क्रियमाण-कर्म कहते हैं।

संचित-कर्मों के उपसर्जन-कर्माशय को 'अदृष्टजन्मवेदनीय' और प्रारब्ध-कर्मों के प्रधान-कर्माशय को 'दृष्टजन्मवेदनीय' और दोनों के फलों को योनि, आयु तथा भोग कहा जाता है।

योगीजन वासनारहित होकर कर्म करते हैं, अत: उनके कर्म न पाप-रूप, न पुण्य-रूप, न पाप-पुण्य-मिश्रित रूप, वरन् पाप-पुण्य रहित होते हैं। किन्तु औरों के कर्म, जो वासना से प्रेरित हैं, तीनों प्रकार के होते हैं। किसी के पाप-रूप, किसी के पुण्य-रूप, किसी के पाप-पुण्य-मिश्रित-रूप।

इन तीनों प्रकार के कर्मों के फलों के अनुसार ही चित्त में ग्रथित वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् स्मृति-रूप वासनाएँ, कर्म-फलानुसार जग कर जाति-आयु-भोग के रूप में प्रकट हो जाती हैं, जैसे बीज ऋतु के साथ जाग पड़ते हैं। अथवा यह कहिए कि वासनाओं की ही अभिव्यक्ति हैं कर्म के फल, और वासनाएँ नियत-कर्म-विपाक को जगा कर फलीभूत करा देती है।

वासनाओं के दो रूप मान लिये जाएँ, स्मृति और संस्कार। स्मृति मूलक वासनाओं का स्मरण रहता है, संस्कार मूलक का नहीं। किन्तु संस्कार का अनुगमन स्मृति करती है। अर्थात् जैसे संस्कार होंगे, वैसी ही स्मृति भी होगी, याने समान-विषयक। अत: संस्कार किसी भी योनि के हों, किसी भी देश के हों और कितनी ही दूर के हों, प्रकट कराने वाले कारणों के मिल जाने पर तुरन्त प्रकट हो जाते हैं, जैसे धान का बीज कितना ही पुराना क्यों न हो, ऋतु आ जाने पर यदि बो दिया जाय तो गत वर्ष के बीज के साथ ही प्रकट हो जाता है। सैकड़ों जन्म पूर्व का फल भी इस जन्म में प्रकट हो जाता है, जबकि गत जन्म के फलभोग अनियत कर्म-विपाक बन कर पड़े रहते हैं। तात्पर्य यह कि कर्मों का फलभोग क्रियमाण-परम्परा के अनुसार न हो कर कर्माशय के संस्कारों की

अभिव्यंजकता के अनुरूप होता है। इसीलिए कर्मभोग के प्रकट होने में जाति, देश और काल का व्यवधान नहीं होता।

किन्तु, वासनाएँ अनादि हैं। कर्मों के अनुसार वाली वासनाओं के पहले भी जीव में वासना होती है, जिसे अनादि-वासना कह दिया जाय। यह अनादि वासना और कुछ नहीं, केवल जीव में अपने कल्याण की नित्य-कामना के ही स्वाभाविक अनादि संस्कार हैं।

यद्यपि वासनाएँ स्वाभाविक अनादि संस्कार हैं, तथापि वे अविद्यादि जनित सकाम-कर्मरूप-हेतु, जाति-आयु-भोग-रूप-फल, अपने चित्त रूप आश्रय तथा अपने इन्द्रिय-विषयरूप-आलम्बन के जुट जाने पर प्रकट होती हैं और मिट जाने पर समाप्त। अत: वासनाओं का प्राकट्य और अभाव कारण, कार्य, अधिष्ठान तथा करण के संगठन और विघटन पर निर्भर रहता है।

अविद्यादि कारणों से वासनाएँ प्रकट होतीं तथा तत्त्वज्ञान के प्रकाश में उनका नाश हो जाने से वासनाओं का अभाव हो जाता है।

वासनाएँ, जिनके विषय में कहा गया कि कारण, कार्य, अधिष्ठान और करण के एकत्रित होने से प्रकट होती हैं, पाप और पुण्य के कारण, सुख तथा दु:ख-रूप फल को देने वाली हैं। इनमें दु:ख रूप फल वे हैं, जो जीव की इच्छा के विपरीत, उसके काले कर्मों के परिणाम के रूप में प्रकट होते हैं। और सुख-रूप फल वे हैं, जो जीव की इच्छा के अनुकूल, उसके श्वेत कर्मों के परिणाम के रूप में प्रकट होते हैं।

किन्तु विवेकीजन याने वैराग्यवान् ज्ञानीजन, जिनको वस्तुत्व का ज्ञान हो गया है, सुख को भी दु:ख ही मानते हैं। यह इसलिए कि वे जानते हैं कि विषय-सुख के भोग से कामना शान्त नहीं होती, अपितु राग-क्लेश उत्पन्न होता है अर्थात् सुख अपने परिणाम में दु:ख ही है। दूसरा यह भी कि सुख-भोग में जो रुकावटें आती हैं, उनसे बहुत सन्ताप पहुँचता है, अर्थात् सुख में दु:ख की ही अनुभूति होती है। तीसरे, सुख-भोग से चित्त में राग-द्वेष के संस्कार पड़ते रहते हैं, इससे भी चित्त को क्लेश की प्राप्ति होती है। चौथे, तीनों गुण सदैव साथ-साथ अपने धर्मों में बरतते रहते हैं अर्थात् इधर सत्त्व से सुख उत्पन्न होता है तो दूसरी ओर रजोगुण से दु:ख और तमोगुण से मोह। इस प्रकार तीनों गुणों के विरोधी धर्मों के एक साथ बरतने से सुख भी दु:ख के तुल्य है।

तात्पर्य यह कि परिणाम, ताप, संस्कार और गुण-वृत्ति-विरोध को देखते हुए ज्ञानीजनों को सुख में भी दु:ख ही दिखता है।

वैसे तो सभी दु:खरूप है; किन्तु आने वाले दु:ख को त्यागने या हटाने का प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि अतीत का दु:ख तो भोग ही लिया गया, वर्तमान का दु:ख भोगा ही जा रहा है, जो रहा सो आने वाला दु:ख ही।

वस्तुत: दु:ख का मूल कारण है द्रष्टा और दृश्य का परस्पर अध्यास याने संयोग।

तीनों गुण, जिनका स्वभाव प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति एवं सुख, दु:ख तथा मोह-रूप वृत्तियाँ हैं, भूत व इन्द्रियों के स्वरूप में प्रकट होकर पुरुष के भोग और अपवर्ग को प्रयोजन बनाते हैं, दृश्य हैं। अर्थात् त्रिगुण-समुदाय अपने कार्य-परिणामसहित दृश्य कहा जाता है।

गुणों की विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग – चार अवस्थाएँ हैं।

पंचमहाभूत और मन सहित ग्यारह इन्द्रिय-समूह, जिनमें सुख-दु:ख, मोहादि विशेष धर्म, शान्त, घोर और मूढ़-रूप में रहते हैं, त्रिगुणों के विशेष-परिणाम हैं।

पंच-तन्मात्राओं-सहित अहंकार, जो क्रम से पंच महाभूतों और ग्यारह इन्द्रियों के कारण हैं, अविशेष-परिणाम हैं।

तीनों गुणों का प्रथम परिणाम लिंगमात्र महत्तत्त्व है।

तीनों गुणों की साम्यावस्था अलिंग-प्रकृति है।

ये चार अवस्थाएँ तीनों गुणों की हैं और यही दृश्य है। उत्पत्ति का क्रम इस तरह होगा – अलिंग से लिंग, लिंग से अविशेष, अविशेष से विशेष। लय का क्रम इसका उल्टा होगा।

द्रष्टा केवल दृष्टि-शक्तिमात्र है। वह निर्विकार है, किन्तु दृष्टि-शक्तिमात्र होने से चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखता है। अर्थात् द्रष्टा आत्मा, जो दृष्टि-शक्तिमात्र है, इन्द्रियों और बुद्धि के माध्यम से क्रियाएँ करता-सा प्रतीत होता है।

चेतन-शक्ति अपने शुद्ध-स्वरूप में निर्विकार है, किन्तु उसका प्रकाश चित्त पर पड़ने से चित्त में चेतना आती है और उसकी वृत्तियाँ सजग हो जाती हैं। जिस तरह विद्युत-शक्ति मूल में शक्तिमात्र ही है, किन्तु बल्ब आदि से संचरित होने पर क्रिया-रूप में दिखती है और उन्हीं माध्यमों के अनुसार ही प्रकट होती है, वैसे ही चेतन-शक्ति भी चित्त-वृत्तियों के अनुसार ही प्रकट होती है।

सुनना, सूँघना, बोलना, स्पर्श पाना, चखना इत्यादि समस्त क्रियाओं में पुरुष-शक्ति ही संचरित हो रही है। किन्तु पुरुष चित्त की क्रियाओं का साक्षी होने पर भी उन क्रियाओं से उत्पन्न परिणामों वाला नहीं है।

पुरुष विषयाकार नहीं, इन्द्रियाँ विषयाकार होती हैं। बुद्धि पुरुष की चेतना को आश्रय बनाकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में संचार करती है तो प्रतीत होता है कि पुरुष ही विषयों में संचार कर रहा है।

पूर्वोक्त दृश्य-समुदाय, जिनका उल्लेख हो चुका है, केवलमात्र द्रष्टा के भोग और अपवर्ग को साधने के प्रयोजन से हैं। अर्थात् भोगासक्त को भोग प्रदान और मुमुक्ष को मुक्ति प्रदान करना ही समस्त पूर्वोक्त दृश्य का प्रयोजन है।

त्रिगुणात्मक दृश्य तथा निर्विकार द्रष्टा में अविद्यादि कारणों से संयोग हो जाता है, जिसके कारण दृश्य चेतनवत् भासता और द्रष्टा पर आवरण-सा पड़ जाता है।

अविद्या के नाश हो जाने से पूर्वोक्त संयोग का अभाव हो जाता है। इसे ही चेतन-आत्मा का कैवल्य कहते हैं। अर्थात् जब यथार्थ ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है और जब कारण-सहित अविद्यादि-क्लेश समाप्त हो जाते हैं, तब चेतन-आत्मा की कैवल्य-स्थिति निखर पड़ती है।

अथवा ऐसे समझिए। जब अन्यत्र-उक्त विवेकख्याति निश्चल और निर्मल होकर प्रशान्त प्रवाह की तरह बहने लगती है, तब अविद्यादि-दुखों का तिरोभाव होने लगता है। जब विवेक-ज्ञान निरन्तर बना रहता है – उसमें विच्छेद नहीं रहता – तब उसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं; और उसी अवस्था में संसार के बीज रूप अविद्यादि क्लेशों तथा कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है।

निर्मल और निश्चल विवेकख्याति वाले पुरुष की प्रज्ञा सात प्रकार की और उत्तरोत्तर ऊँची अवस्था वाली होती है। इन अवस्थाओं में प्रज्ञा उत्तरोत्तर आत्मस्थिति की ओर बढ़ती जाती है और क्रमशः कर्म और चित्त का मोक्ष होता जाता है। जब प्रज्ञा सातों भूमिकाओं में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आत्मस्थिति का अनुभव करती है तब योगी जीवनमुक्त हो जाता है।

समाधि-अवस्था में भी कभी-कभी यह देखने में आता है कि योगी में दग्ध-बीज के समान पूर्व के कुछ संस्कार किंचित् वर्तमान रहते हैं, जो परिपक्व विवेकख्याति तक बीच-बीच में उत्पन्न होते हैं, इन कथित संस्कारों को उसी भाँति निर्मूल किया जाता है, जैसे अन्यत्र अविद्यादि-क्लेशों को निर्मूल करने का उपाय बतलाया था कि कारण में कार्य का सर्वथा लय होना चाहिए।

यह भी जब हो जाय तो अविद्यादि क्लेश, तीनों प्रकार के कर्मों से योगी मुक्त होकर रहता है। अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में प्रकृति और पुरुष का भेद समझ में आ जाने पर कैवल्य का अवतरण होता है।

योग के साधन का सांगोपांग अभ्यास करने पर जब आन्तिरक अशुद्धियों का पूर्ण नाश हो जाता है, तब ज्ञान का प्राकट्य होता है, जिसके प्रकाश में आत्म-दर्शन होता है।

अन्यत्र कथित पाँचों क्लेशों को निवृत्त करने के लिए सबसे पहले उनके स्थूल-स्वरूप को त्यागना चाहिए, अन्त में उनको कारण-रूप चित्त में लीन कर देना चाहिए। अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा तो उनका तनुकरण हो जाता है; असम्प्रज्ञात से उनका सूक्ष्म स्वरूप भी दग्ध-बीज के सदृश हो जाता है।

जो व्यक्ति कृतार्थ अर्थात् मुक्त हो गया, उसके लिए तो त्रिगुणात्मक दृश्य-जगत् नष्ट हो जाता है, किन्तु दूसरों के लिए नहीं। एक के मुक्त होने से सबकी मुक्ति नहीं होती। यह इसलिए कि उस व्यक्ति ने योग-साधना द्वारा समाधि लाभ कर चित्त की त्रिगुणात्मकता का नाश कर दिया है, जबकि औरों के चित्त में तीनों गुण अभी भी कार्य कर रहे हैं।

जब व्यक्ति भोग तथा अपवर्ग-रूप प्रयोजनों को सिद्ध कर लेता है, तब त्रिगुणात्मकता का क्षण-प्रतियोगी परिणाम-क्रम समाप्त हो जाता है। शरीर-इन्द्रियादि के आरम्भ को परिणाम-क्रम कहते हैं। जैसे कोई पुरुष दिन भर अपना कर्त्तव्य पूरा कर शाम के समय उस कर्म से विरत हो जाता है, वैसे ही यह कृतार्थ-योगी भी अपने भोग तथा अपवर्ग के सिद्ध हो जाने के बाद दृश्योपलब्धि के हेतुभूत गुणों के क्रमों से अपने को विरक्त कर लेता है। सीधी भाषा में यों कहिए कि तीनों गुणों के परिणाम, जिनसे चित्त-वृत्तियाँ सजग रहती हैं, जो अविद्यादि नाम से कहे गए हैं, समाप्त हो जाते हैं।

तत्कथित स्थिति में प्रतिलोम-परिणाम होता है, जैसे पुरुष के अर्थ को साधने के लिए गुणों का अनुलोम-परिणाम मूल-प्रकृति से महत्तत्त्व, अहंकार, मन, इन्द्रियों, पंच तन्मात्रा और पंचभूतादि में क्रमानुसार हुआ था, वैसे ही पुरुषार्थ-सिद्धि हो जाने पर या पुरुषार्थ-शून्यता के प्रवृत्त हो जाने पर गुणों का प्रतिलोम-क्रम (प्रतिप्रसव) होने लगता है, अत: वे अपने-अपने कारण में लय हो जाते हैं। अन्तत: तमाम कार्य अपने मूल कारण याने अव्यक्त मूल प्रकृति में लय हो जाते हैं। यही कैवल्य है – गुणों का पुरुष से अलग हो जाना। अथवा चिति-शक्ति का स्वरूप में अवस्थित हो जाना। यही योग की परम अवस्था है। यही योग की इति है। यही है कार्य-कारणरहित कैवल्य वा मोक्ष वा निर्वाण वा परम पद, जो कहिए।

तंत्र-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

बिहार योग विद्यालय द्वारा प्रकाशन – 1969, 2013



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

तंत्र-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय

आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान

सन् 1967-68 में अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन के समक्ष दिये सत्संगों में स्वामी सत्यानन्द जी ने तंत्र-शास्त्र पर मौलिक विचार व्यक्त कर भारत के इस प्राचीन, शक्तिशाली विज्ञान पर आरोपित मिथ्या भ्रमों का निराकरण करते हुए, इसे कलियुग के लिये साधना का सुगम मार्ग सिद्ध किया। सन् 1969 में प्रकाशित यह पुस्तक इन्हीं गवेषणापूर्ण सत्संगों से संकलित की गई।

– *सम्पादक*

प्रकाशक का वक्तव्य

सन् 1967-68 में अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन के समक्ष दिये गये परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के प्रवचनों का यह संक्षिप्त सार-अंश है।

तंत्र-शास्त्र के सम्बन्ध में प्रचलित गलत धारणाओं और भ्रांत समझ के आधार पर प्रस्तुत किये जाने वाले गलत परिचयों तथा अंधविश्वासपूर्ण परिभाषाओं से ग्रस्त पीढ़ी को तंत्र विज्ञान सही ढंग से समझने में मदद करने के उद्देश्य से हम 'तंत्र-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय' प्रकाशित कर रहे हैं, जो आत्म-साक्षात्कार का एक ऐसा मार्ग है, जिस पर हर कोई चल सकता है।

इसमें आपको तंत्र-शास्त्र की उत्पत्ति तथा उद्देश्य, भिन्न-भिन्न प्रकार की परम्पराओं में उसका विकास और वर्तमान-समाज में उसके महत्त्व तथा उपयोग का स्पष्ट चिंतन मिलेगा।



लेखक परिचय

परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ऋषिकेश के विश्ववंद्य स्वामी शिवानन्द सरस्वती के योग्यतम शिष्य हैं। वे निर्भीकमना, सरलभावी, ओजस्वी वक्ता, आत्मविश्वासी, मानवता प्रेमी, उदार संत हैं। वे प्राचीन अध्यात्म एवं नवीन विज्ञान के अप्रतिम ज्ञाता हैं।

देश-विदेश के विरक्त साधुओं, संन्यासियों एवं हजारों शिष्यों के वे आध्यात्मिक प्रेरणास्रोत व सद्‌गुरु हैं। उन्होंने भारत के हजारों वर्ष प्राचीन योग-विज्ञान को सामान्य जनों तथा साधकों, दोनों के लिये उपयोगी एवं व्यवहारिक रूप में विकसित किया है। वे वर्तमान युग के युगान्तरकारी महापुरुषों में एक हैं।

तंत्र-शास्त्र पर गवेषणापूर्ण विचार व्यक्त कर उन्होंने भारत के इस गुप्त, शक्तिशाली विज्ञान पर आरोपित मिथ्या भ्रमों का निराकरण करते हुए, इसे कलियुग के भोगासक्त व्यक्तियों के लिये साधना का एकमात्र रास्ता सिद्ध किया है।

स्वामीजी अन्तर्राष्ट्रीय योग आन्दोलन के प्रणेता, भारत में बिहार योग विद्यालय, मुंगेर; मध्य प्रदेश योग विद्यालय, रायगढ़; शिवानन्द अंतर्राष्ट्रीय पब्लिक स्कूल, गोंदिया; उत्कल योग विद्यालय, सम्बलपुर; राजनाँदगाँव योग विद्यालय, राजनाँदगाँव, तथा विदेशों में न्यूयॉर्क, पेरिस, सिडनी, हैकू (हवाई द्वीप) आदि स्थानों में शिवानन्द आश्रमों के संस्थापक हैं।



तंत्र-शास्त्र

भाग 1

भारतीय रहस्य-विद्या की परम्परा में तंत्र-शास्त्र एक गुप्त तथा अत्यन्त शक्तिशाली विज्ञान है। यह एक ऐसा विज्ञान है, जिसका अभ्यास भारतीय युगों से करते आ रहे हैं और आज भी करते हैं।

यद्यपि समय-समय पर अनेक गलतफहमियों तथा आरोपों के फलस्वरूप इसे दबाने की अनेक कोशिशें की गईं, फिर भी अध्यात्म के क्षेत्र में अपने मौलिक कार्यों तथा खोजों के कारण, यह अनेक दुर्घटनाओं तथा दमन के बावजूद आज भी जिन्दा है।

तंत्र-शास्त्र अपने सम्पूर्ण रूप में एक ऐसी पद्धति है जिसका सम्बन्ध उन विधियों, माध्यमों तथा क्रियाओं से है, जो मानव-चेतना की गहराई में छिपी व्यक्तिगत शक्ति तथा ज्ञान से सम्बन्धित कही जा सकती हैं।

आमतौर से ऐसा समझा जाता है कि केवल एक संन्यासी, विरक्त, ब्रह्मचारी या पूर्ण अवधूत ही उन विभिन्न मानसिक शक्तियों को प्राप्त कर सकता है, जो चेतना के गहरे स्तरों में छिपी रहती हैं, जबकि एक गृहस्थ की इन तक गति नहीं हो सकती। लेकिन तंत्र-शास्त्र दावे के साथ इस बात की घोषणा करता है कि न तो भोजन, न चरित्र, न सामाजिक सम्बन्ध, न वैवाहिक अथवा भावनात्मक जीवन ही इन गूढ़-शक्तियों की प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न करता है। जहाँ एक वर्ग ने उच्च-चेतना की इन शक्तियों की प्राप्ति के लिये पूर्ण वैराग्य का प्रतिपादन किया, वहाँ दूसरे वर्ग का यह विश्वास था कि जीवन के स्वाभाविक विकास से सम्बन्धित कार्य-कलाप इस गूढ़ आत्मशक्ति की जागृति में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करते। इस दूसरी

विचारधारा से ही धीरे-धीरे तंत्र-शास्त्र का विकास हुआ। पहली विचारधारा ने योग-विज्ञान का रूप ग्रहण किया।

तंत्र-शास्त्र में हम देखते हैं कि उसके सारे अभ्यास एक साधारण मानव के व्यवहार तथा दृष्टिकोण से जुड़े हुए तथा मेल खाते हैं। उसमें हर कदम पर जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अनुसरण करने पर जोर दिया गया है, और इसलिये माँस, मछली, मदिरा, मंत्र, तथा यौन-सम्बन्ध, सब उसके विधान में स्वीकृत हैं। इन बातों के कारण यद्यपि तंत्र-शास्त्र को काफी गलतफहमियों का शिकार होना पड़ा है, लेकिन इसके पीछे उसकी मूल मान्यता सिर्फ यही है कि इन सबके कारण शक्ति के जागरण में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती बल्कि मदद ही मिलती है।

शक्ति-शास्त्र भी यह मानता है कि जीवन के स्वाभाविक विकास तथा प्रगति की आवश्यकताओं का विरोध करने की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि उनके मेल तथा समन्वय की आवश्यकता है। तंत्र-शास्त्र को इस नजर से देखने पर पता चलेगा कि यह गुप्त विधियों तथा भक्ति की भावनाओं का एक सुन्दर मेल है और इसलिए यह एकदम आवश्यक है कि इसका अभ्यासी अपने अनुष्ठानों तथा विधि-विधानों के अभ्यास को करते हुए दिव्य-शक्ति के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण भी करे।

तंत्र-शास्त्र में कार्यकारी-शक्ति 'देवी' को माना जाता है, जो मातृ-शक्ति है और जिसे सभी मंत्र, मुद्राएँ और पूजा की अन्य सभी क्रियाएँ भक्तिपूर्वक समर्पित की जाती हैं। स्नान करने, वस्त्र पहनने, पूजा में बैठने, पूजन सामग्री अर्पण करने, पशुओं की बलि देने, पति या पत्नी के साथ सहवास करने, प्रसाद लेने जैसे सभी कार्य पूर्ण समर्पण तथा भक्ति की भावना से किये जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि 64 प्रकार के विविध तंत्रों का विधान इस प्रकार से किया गया है कि वे जीवन के विभिन्न-स्तरों के मनुष्यों के स्वभाव, रुचि तथा विकास-स्तर से मेल खा सकें।

सभी तांत्रिक साधनाओं का एक ही उद्देश्य है, मनुष्य के अन्दर के मातृ-पक्ष का विकास करना तथा उसको व्यक्त करना, क्योंकि शायद यही एक जीवधारी की सम्पूर्ण चेतना की मूल कड़ी तथा केन्द्र है। मातृ-पक्ष का अर्थ है व्यक्तिगत चेतना का केन्द्र-बिन्दु, जो शक्ति का प्रतीक है। तंत्र-शास्त्र में 'मातृ-शक्ति' को माँ की भावना से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका उद्देश्य मातृ-भावना को जगाने का भी नहीं है। तंत्र में 'मातृ'

शब्द का तात्पर्य मनुष्य के अन्दर की सबसे बड़ी शक्ति से है, न सिर्फ माता की शक्ति से।

तांत्रिक 'शक्ति' के उपासक हैं, यह कहना ही उचित है। शिव या विष्णु की उपासना द्वारा भी वे शक्ति की ही उपासना करते हैं।

शक्ति क्या है और यह रहती कहाँ है?

शक्ति वह महान् तत्त्व है जो व्यक्तिगत मानव-चेतना की गहराई में अशान्त होकर पड़ी रहती है, और जिसमें निर्माण, विकास तथा नाश की महान् सम्भावनाएँ निहित हैं। मनुष्य के अन्दर वह एक ऐसी चेतना है जो प्रसुप्त पड़ी हुई है।

शक्ति सब के अन्दर है। वह शिव का वामांश है। शिव प्राण है, शक्ति उसका सामर्थ्य। शिव जिह्वा है, तो शक्ति वाणी। शिव ओर शक्ति एक साथ रहते और कार्य करते हैं, लेकिन शिव बिना शक्ति के सक्रिय सहयोग के स्वयं को कार्यों तथा वस्तुओं में व्यक्त नहीं कर सकता। इसीलिये तंत्र-शास्त्र में, चाहे वह शाक्त-तंत्र हो या शैव-तंत्र, शक्ति ही साधना का विषय है। यद्यपि शक्ति को स्त्री के रूप में चित्रित किया जाता है, और उसे 'देवी' का नाम दिया गया है तथा एक सुन्दर स्त्री के रूप में उसकी कल्पना की जाती है, लेकिन तंत्र सर्वसम्मति से यह स्वीकार करता है कि वह एक सर्वव्यापक अस्तित्व है, जिसके अन्दर, साधु और असाधु, स्त्री और पुरुष, आस्तिक और नास्तिक सभी समाये हुए हैं।

तंत्र-शास्त्र में हर व्यक्ति के अन्दर की इस अतिश्रेष्ठ शक्ति को जागृत तथा व्यक्त करने की एक सम्पूर्ण तथा निश्चित विधि है, जिसमें मंत्र, यंत्र, देवता, क्रिया, मुद्रा, आदि के साथ-साथ तन्त्र के वे पंच-मकार भी शामिल हैं, जिनकी अत्यन्त भर्त्सना की जाती है। इन विविध तथा निश्चित प्रणालियों का प्रयोग तंत्र साधना में मानव के अन्दर सुप्त चेतना-शक्ति को जागृत कर उसे बाहर के स्तर पर व्यक्त करने के लिये किया जाता है, जिससे ये अभौतिक शक्तियाँ कार्य रूप में प्रकट हो सकें। मंत्रों के द्वारा निश्चित ध्वनि-तरंग पैदा की जाती है, यंत्रों के द्वारा शक्ति को केन्द्रित किया जाता है, और अन्य क्रियाओं द्वारा मनुष्य के अन्दर के आध्यात्मिक केन्द्रों को जागृत किया जाता है।

तंत्र को कुण्डलिनी जागृत करने का भी एक साधन माना जा सकता है। एक अत्यन्त शक्तिशाली साधन होने के कारण इसकी शक्तियों के दुरुपयोग

की भी पूरी सम्भावना रहती है। तंत्र के अलावा दूसरे उपाय बहुत ही कष्ट-साध्य, थकाने वाले, समय लेने वाले तथा लम्बे होने के कारण, उनसे पैदा होने वाली शक्ति के दुरुपयोग की कोई सम्भावना नहीं रहती है। दूसरे साधनों में इतना समय लगता है कि मनुष्य में उतने समय तक धीरज रखने की शक्ति ही नहीं बच पाती तथा अधिकतर लोग अपने अभ्यासों को बीच में आधा-अधूरा ही छोड़ बैठते हैं। चूँकि तंत्र की विधि सीधी, सहज, सरल, रोचक तथा शीघ्र फल देने वाली होती है, इसलिये साधक इसमें सफलता प्राप्त करता है।

और यही कारण है कि तंत्र भारतवर्ष का एक जीवित विज्ञान है। वह न तो जीर्ण तथा अप्रचलित है, न ही मृत। गम्भीर तथा उत्साही साधकों की दीक्षा के लिये ऐसे केन्द्र मौजूद हैं, जहाँ तंत्र की शिक्षा दी जाती है। अनेक समूहों द्वारा, पूर्ण गोपनीयता के साथ, अपनी-अपनी परम्परा के निर्देशन में इसका अभ्यास किया जाता है।



मेरा जीवन एक प्रयोगशाला रहा है। मैंने अपने आध्यात्मिक जीवन में बहुत-से साहसिक काम किये हैं, जीवन को हर रंग में देखा है। भारत में कितने संन्यासी दावा कर सकते हैं कि उन्होंने तंत्र का अभ्यास किया है? मैं दावा कर सकता हूँ। बिना किसी भय के मैं यह घोषणा कर सकता हूँ।

अठारह वर्ष की उम्र में नैनीताल में मेरी अकस्मात् मुलाकात एक तांत्रिक योगिनी से हुई, जिससे मैंने तंत्र के व्यावहारिक पक्ष सीखे। इस दौरान मुझे वही अनुभव हुआ जो काकभुशुण्डि को श्रीराम के मुँह में प्रवेश करने पर हुआ था। जब मैंने काकभुशुण्डि के अनुभव के विषय में पढ़ा तब यह बात मेरी समझ में आयी। भगवान कृष्ण के मुँह खोलने पर जो अनुभव माँ यशोदा को हुआ था, वही अनुभव मुझे हुआ। भागवत पुराण का वह अंश पढ़ने पर यह बात मेरी समझ में आयी। उसने मुझे इन्द्रियातीत, अलौकिक अनुभूति प्रदान की, जो मन, शरीर, इन्द्रियों और समस्त पारिभाषिक शब्दावली से परे की अनुभूति थी। हम उसे शक्तिपात कहते हैं, वह उसे अनुग्रह कहती थी।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

भाग 2

'तंत्र' शब्द 'तनोति' और 'त्रायति', इन दो क्रियाओं का मेल है। 'तनोति' की उत्पत्ति 'तन्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है, फैलाना या विस्तार करना, तथा 'त्रायति' की उत्पत्ति 'त्र' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है मुक्त करना या स्वतन्त्र करना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तंत्र एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें उच्चतम सत्ता का पहले विस्तार तथा अन्त में पूर्ण मुक्ति होती है।

तंत्रों का उदगम् वेदों से ही हुआ है। उन्हें हम 'श्रुति' तथा 'स्मृति', ऐसे दो विभागों में बाँटकर श्रौत-तंत्र और स्मार्त-तंत्र के नाम से पुकार सकते हैं। वे तंत्र जिनकी उत्पत्ति वेदों से हुई तथा जो वेदों को ही पूर्ण-रूपेण मानते हैं, श्रौत-तंत्र कहे जाते हैं, लेकिन वे तंत्र जो वेदों पर पूरी आस्था रखते हुए भी, बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप अपनी मान्यताओं को बदलते गये, वे स्मार्त-तंत्र के नाम से जाने जाते हैं।

श्रौत-तंत्र, या कहें वैदिक-तंत्र, पवित्रता तथा शास्त्रीयता की भावनाओं से ओत-प्रोत थे। परिणाम-स्वरूप उनमें पूर्ण शुद्धता, अहिंसा, आदि की परम्परा विकसित हुई। लेकिन ऐसे लोग जो पशु-बलि आदि अन्य पुरानी प्रथाओं का पालन करने वाले थे, वे पवित्रता, अहिंसा, आदि के बंधनों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुये। इस प्रकार, स्वाभाविक रूप से समय की गति के साथ वैदिक-तंत्र दो भागों में बंट गये। उनमें से एक भाग को, जो अहिंसा के मार्ग पर चला, हम वैदिक-तंत्र कह सकते हैं, और दूसरे को हम पशु-बलि आदि अन्य परम्पराओं को मानने वाले कह सकते हैं। फिर भी उन दिनों 'तंत्र' शब्द का प्रयोग न कर 'यज्ञ' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। बाद में 'यज्ञ' के बदले 'तंत्र' पद्धति के ये दो स्वाभाविक विभाग 'शैव-तंत्र' तथा 'शाक्त-तंत्र' की दो मुख्य धाराओं के रूप में विकसित हुए।

बलि तथा मदिरा-सेवन आदि प्रथाओं पर लगातार होने वाली आलोचनाओं के कारण शाक्त-तंत्र के अनुयायिओं को इन प्रथाओं की आवश्यकता एवं प्रभाव के समर्थन में एक पूर्ण आध्यात्मिक-दर्शन के विकास की जरूरत महसूस हुई।

तंत्र का यह विभेद ही दो अलग स्पष्ट मतों के रूप में विकसित हुआ। एक पशु-बलि, मदिरा-पान आदि को स्वीकार करने वाला और दूसरा पुरानी, शास्त्रीय पद्धति को ही मानने वाला। ये ही 'शाक्त' और 'शैव' के नाम से जाने जाते हैं। शैव शिव के उपासक हैं तथा शाक्त शक्ति के। शैवों ने कठिन तपस्या का जीवन स्वीकार किया जिसकी आवश्यकता वैदिक-तंत्रों में प्रतिपादित नहीं की गई थी। वे बलि, मदिरा आदि से भी दूर रहते थे, जिसे शाक्तों में एक आम प्रथा के रूप में स्वीकार किया जाता था।

जहाँ शैवों ने शिव की धारणा के अनुरूप अपनी अलग तंत्र-पद्धति का विकास किया, वहाँ शाक्त शक्ति की धारणा के अनुरूप अपनी अलग पद्धति पर चलते रहे। वे वैदिक मतावलम्बियों के समान ही आराम तथा सुख-पूर्ण जीवन यापन करते थे, लेकिन साथ ही साथ बलि तथा मदिरा-सेवन आदि भी करते थे। इस प्रकार तंत्र की मुख्य धारा तीन हिस्सों में बँट गई –

1. शुद्ध वैदिक पूजा की पद्धति जो आज भी भारतवर्ष में आमतौर से प्रचलित है और जिसमें यज्ञ, रुद्री तथा इसी प्रकार के अन्य कर्म-काण्ड की पद्धत्तियाँ शामिल हैं।
2. शैव-तंत्र जो भगवान शिव को केन्द्र बनाकर एक स्वतंत्र पद्धति के रूप में विकसित होने लगा। तपस्या इसकी आधार-शिला है, योग इसका दर्शन है, वैराग्य इसकी नीति तथा समाधि की प्राप्ति इसका लक्ष्य। इस मत को मानने वाले लोग हिन्दुओं के हर वर्ग में पाये जाते हैं। अनेक मंदिरों के अलावा, ऐसे 12 मुख्य केन्द्र हैं जहाँ शैव-तंत्र का अभ्यास दैनिक पूजा के रूप में किया जाता है।
3. शाक्त-तंत्र, जो एक प्रकार से वैदिक-तंत्र का मूल रूप था, लेकिन जो बाद में चलकर शक्ति की उपासना की स्वतंत्र-पद्धति के रूप में परिणत हो गया। उन्होंने पूर्व-काल से चली आती हुई बलि, मदिरा, माँस, मधु, मैथुन, मछली तथा मंत्रादि की पुरानी परम्परा को बंद नहीं किया। असंख्य छोटे-छोटे मंदिरों के अलावा इनके 64 मुख्य-केन्द्र (शक्ति-पीठ) हैं, जहाँ दैनिक तथा विशेष पूजा-पद्धति के रूप में शक्ति-तंत्र का पालन किया जाता है।

यही तंत्र-परम्परा और भी दो भागों में विभक्त हो गई जिसे वाम-मार्ग तथा दक्षिण-मार्ग के नाम से जाना जाता है।

यह विभेद क्यों और कैसे हुआ?

कोई भी व्यक्ति जब अन्य मतावलम्बी लोगों के बीच रहता है, ऐसी परिस्थिति में वह पूर्णरूप से एक ही मत के प्रभाव में नहीं रह सकता। अपने पड़ोसी के विचारों का प्रभाव भी उस पर पड़ना स्वाभाविक है। शैव और शाक्त, जो साथ-साथ रहते थे, वे भी एक-दूसरे से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके। संभव है कि समझदार शाक्तों ने शैव-मत की पवित्रता, महानता तथा उच्चता के महत्त्व को हृदयंगम किया तथा उसकी तपस्या, शुद्धता, योग तथा समाधि आदि की भावनाओं से प्रभावित हुये। फलस्वरूप वे एक शैव की भावना से ही शक्ति की उपासना करने लगे तथा माँस-मदिरा आदि के सेवन का त्याग कर दिया। वे दक्षिण-तंत्र के अनुयायी कहलाये।

दूसरे शब्दों में, तंत्र की मूलभूत धारणा को तो उन्होंने स्वीकार किया लेकिन दूसरे मत के प्रभाव में उन्होंने तपस्या, पवित्रता आदि के महत्त्व को भी स्वीकार किया और अपनी मूल पूजा-पद्धति को कायम रखते हुये अपने व्यवहार को इन उच्च भावनाओं के अनुरूप बनाया। ये दक्षिण-मार्गी बने।

लेकिन ऐसे भी शाक्त थे जिन्होंने उपरोक्त प्रभाव को स्वीकार नहीं किया। वे अपने मत पर अड़े रहे और अपनी परम्परागत पद्धतियों को कायम रखा। ये ही वाम-मार्गी कहलाये।

पर ऐसे भी शैव थे जो शाक्तों के व्यवहारों तथा विचारों से प्रभावित हुये। उन्होंने अनुभव किया कि जब वही उद्‌देश्य पशु-बलि आदि से भी सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है तब योग, तपस्या आदि व्यर्थ है। इसलिये उन्होंने अपनी पद्धति में देवी की पूजा को भी शामिल कर लिया, क्योंकि इसके द्वारा उन्होंने अपनी भावनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का मार्ग देखा और चूँकि शैव-मत में बलि आदि का प्रयोग वर्जित था, अतएव उन्होंने शैव-परम्परा के साथ-ही-साथ शाक्त-परम्परा को भी स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाम तथा दक्षिण मार्ग की ऐतिहासिक धाराओं ने किस प्रकार समाज के ढांचे में प्रवेश प्राप्त किया। यह विकास स्वयंस्फूर्त था यद्यपि आगे चलकर उसे संगठन का रूप प्राप्त हुआ। विभिन्न मतों के संगठन के बावजूद भी उसका मूल उद्‌देश्य एक ही रहा और वह था मनुष्य के अन्दर की अज्ञात शक्ति को जगाना। वह शक्ति अज्ञात भले ही हो, लेकिन उसके सम्बन्ध में सुना अवश्य जाता है। यह भी सही है कि इस पंथ में शामिल होने

वालों में ऐसे भी लोग हुये हैं, जिनका कोई आध्यात्मिक उद्देश्य नहीं रहा, लेकिन ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम रही है।

भारत में अधिकतर लोग इस परम्परा में निश्चित उद्देश्य को लेकर ही शामिल हुए। यह उद्देश्य था, अपने अन्दर की सुप्त-शक्ति को जगाकर उच्च लक्ष्य के लिये उसका उपयोग करना। समय-समय पर सभी पद्धतियों में, पूजा के ढंग तथा अन्य बातों में परिवर्तन तथा फेर-बदल भी होते रहे हैं। प्राचीन परम्परा में जहाँ पशु-बलि का शाब्दिक अर्थ ही स्वीकृत किया जाता रहा है, वहाँ आगे चलकर उसका अर्थ मनुष्य के अन्दर की पशु-भावना के रूप में लगाया जाने लगा। इस प्रकार तंत्र-दर्शन में नई परिभाषाएँ भी बनने लगीं।

मदिरा का अर्थ कई प्रकार की गुप्त क्रियाओं के फलस्वरूप पैदा होने वाले 'अमृत' के अर्थ में लगाया जाने लगा।

इसी प्रकार मैथुन जिसका अर्थ स्त्री या पुरुष सहवास से लगाया जाता था उसके बदले जीव-चेतना तथा परम-चेतना के योग के रूप में लगाया जाने लगा।

मंत्र का अर्थ वैदिक मंत्र या उच्चारित-ध्वनि न होकर किसी गुप्त ध्वनि पर मनन, जिसके फलस्वरूप चेतना के निम्न स्तरों के बन्धन छिन्न होते हैं, इस प्रकार समझा जाने लगा। 'मन्' धातु का अर्थ मनन की क्रिया, तथा 'त्र' धातु का अर्थ मुक्ति तथा इसके समानार्थी भावों के रूप में माना जाने लगा। इस प्रकार मंत्र का अर्थ हुआ विशेष शब्द-समूहों का विशेष विधि से उच्चारण जिसके फल-स्वरूप भौतिक चेतना आध्यात्मिक चेतना में लीन हो जाए।

और मधु का क्या अर्थ है? मधुमक्खी के छत्ते की मधु नहीं बल्कि जीवन का रस याने प्राण जो जीवन का सर्वव्यापक मूल-तत्त्व है।

इस प्रकार तंत्र के सम्पूर्ण दर्शन में आध्यात्मीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। मंत्रों के शब्दों में यद्यपि कोई परिवर्तन नहीं हुआ फिर भी साधक के लिये उसका भाव परिवर्तित हो गया। उदाहरण के लिये, 'मैं पशु-बलि अर्पण करता हूँ' कहते समय वह उसका अर्थ अपने अन्दर की पशु-वृत्ति से लगाता है। यहाँ भगवान शिव 'पशुपति' बन गये। बलि के मंत्रों का उच्चारण करते समय साधक उसे अपनी पशु-वृत्ति को वश में करने के अर्थ में प्रयोग करता है। पशु-बलि का अर्थ शाब्दिक रूप में पशु की बलि देना न होकर पशु-जीवन से ऊपर उठने के सन्दर्भ में किया जाता है।

अपने अन्दर के पशु को कैसे मारा जाए और निम्न-चेतना से कैसे ऊपर उठा जाए? विकास के क्रम में विकसित हुई अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन किये बिना भी क्या आध्यात्मिक-जीवन की ऊँचाइयों पर उठा जा सकता है? इस स्थिति के मनुष्य के लिये तंत्र एक जीवन-नौका के रूप में उपस्थित होता है। तंत्र विज्ञान किसी से जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की मांगों को अस्वीकृत करने को नहीं कहता। वह उनके आध्यात्मीकरण द्वारा संस्कारों के क्षय का मार्ग बतलाता है। खाने-पीने आदि की अपनी पुरानी आदतों को अगर आप नहीं बदल पाते तो कोई हर्ज नहीं, उन्हें अपनी तांत्रिक पूजा के एक अंग के रूप में आप चालू रख सकते हैं।

आमतौर से लोगों की आचार-संहिता बौद्धिक ही रहती है। सारी दुनिया का यही हाल है। नैतिकता तथा आचार-विचार के सिद्धान्तों ने लोगों की बुद्धि को ढक रखा है। ऐसे लोग अपने व्यवहारिक-जीवन में प्राय: उन सिद्धान्तों का उल्लंघन करते पाये जाते हैं। संसार के अधिकतर लोग उन्हीं कार्यों को करते पाये जाते हैं जिन्हें वे स्वयं नैतिकता तथा आचार के विरुद्ध समझते हैं, और फलस्वरूप उन्हें काल्पनिक क्लेशों से ग्रस्त पाया जाता है। यहीं से मनोवैज्ञानिक तथा मनोकल्पित रोगों की शुरुआत होती है।

तंत्र-शास्त्र की सलाह है कि ऐसे कर्म जिन्हें किये बिना हम नहीं रह सकते, उन्हें अनैतिक तथा निराधार मानने के बदले उन्हें स्वीकार कर उनका आध्यात्मीकरण क्यों न कर दिया जावे। जब आप जानते हैं कि सभी कोई एक विशेष प्रकार का जीवन बिता रहे हैं और माँस, मंदिरा, स्त्री-सहवास, आदि कर्मों में रत है, तब उन्हें नरक का डर या स्वर्ग का प्रलोभन दिखाकर इन सबको त्यागने के लिये कहने का क्या अर्थ है। यह निश्चित है कि न तो नरक के भय और न स्वर्ग के प्रलोभनों द्वारा ही आप लोगों को जीवन के सुखों का छोड़ने के लिये राजी कर सकते हैं। इन बातों से सिर्फ आप उनके व्यक्तित्व के अन्दर मनोवैज्ञानिक विरोधाभास पैदा करने में ही सफल होते हैं। जो बात विचार करने की है, वह यह कि हम मनुष्य की चेतना की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उपयोग उच्च चेतना के जागरण में किस प्रकार कर सकते हैं। तंत्र-शास्त्र के पास ही वे निश्चित उपाय तथा विधियाँ हैं जिनके द्वारा यह किया जा सकता है।

आचार, नैतिकता, अहिंसा आदि के प्रचारक और उपदेशक तंत्र के इस विचार से सहमत नहीं होंगे, लेकिन यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध है कि हर

मनुष्य, चाहे उसमें जो भी कमजोरियाँ हों, अपने अन्दर की आध्यात्मिक शक्तियों को जगा सकने की क्षमता रखता है।

अपने जीवन की कमजोरियों को अपनी आध्यात्मिक साधना का अंग बना देना चाहिये। तांत्रिक अभ्यासियों में ही नहीं वरन् साधारण गृहस्थों में भी यह देखा गया है कि अपने जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के उपयोग के बाद वे इनसे मुक्त हो गये हैं। अतएव किसी को अपने स्वभाव की कमजोरियों को छोड़ने के लिये कहने के बदले यह ज्यादा अच्छा है कि उन्हें तांत्रिक-पूजा पद्धति का अनुसरण कर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने की सलाह दी जावे। ऐसा मनुष्य तंत्र के मार्ग पर चलते-चलते एक-न-एक दिन योग के मार्ग में अवश्य ही पहुँच जाएगा और यही सब कोई चाहते भी हैं।

शिव जी ने तंत्र-शास्त्र पार्वती जी को समझाया है। तंत्र के विविध अंग पूर्ण-रूपेण निश्चित है और उनके अभ्यास द्वारा समय पर शक्ति का जागरण भी निश्चित है।

तंत्र-शास्त्र तथा योग में बहुत समानता है। दोनों में आसनों, मुद्राओं, बंधों, चक्रों, धारणा, क्रिया-योग, ज्ञानयोग, आदि की बातें आती है। खेचरी, शाम्भवी, वज्रोली, उड्डियान आदि मुद्रा-बन्ध तंत्र के अभिन्न अंग हैं। 64 तंत्रों में विकसित तथा अविकसित लोगों के लिये ऐसी अनेक विधियाँ पाई जाती है। हर प्रकार के तंत्र की व्यवस्था एक विशेष स्वभाव के लोगों के लिये की गई है।

तंत्र-शास्त्र की साधनाएँ आत्म-ज्ञानी व्यक्तियों के लिये नहीं, बल्कि साधारण स्तर के उन लोगों के लिये लिखी गई हैं, जो सामान्य जीवन यापन करते हैं तथा जिनमें ऐसी प्रवृत्तियों का बाहुल्य है जो साधारण मानवों में पायी जाती हैं और जिन्हें दूर करने में वे असमर्थ हैं।

कुछ तंत्र लिपिबद्ध हैं जबकि अनेक नहीं हैं। लिपिबद्ध तंत्र 64 प्रकार के हैं, लेकिन मौखिक तंत्र परम्परा द्वारा सिर्फ उन्हीं शिष्यों को सिखाया जाता है, जिनमें गुरु अनन्त समझदारी तथा अन्य और भी कुछ योग्यताएँ देखता है। आज भी हमारे देश में ऐसे अनेक गुरु हैं जो इस प्रकार के मौखिक-तंत्र के अभ्यासों में निपुण हैं, और परम्परा से अपने शिष्यों को यह महान् विद्या हस्तांतरित करते रहते हैं। यह परम्परागत मौखिक-पद्धति ही अधिक शक्तिशाली, सुगम तथा सहज-प्राप्य है। लेकिन इस पद्धति के शिक्षकों का पता लगाना सरल नहीं है।

भाग 3

तंत्र अपने साधकों के लिये एक अत्यन्त नियमित, वैज्ञानिक तथा मनो-वैज्ञानिक पूजा-विधि निश्चित करता है, जिसके द्वारा प्रकृति तथा पुरुष की पूजा की जा सके। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड, दोनों में ही पुरुष और प्रकृति, शिव तथा शक्ति के ही रूप हैं। यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि शिव और शक्ति, स्थूल जगत् तथा ब्रह्माण्ड में छिपी, भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति के ही प्रतीक हैं।

तांत्रिक-पूजा एक ऐसी पूजा-विधि है जिसमें वास्तविक जीवन के अनेक पक्षों को स्वीकार किया जाता है। ऐसी आम धारणा है कि तंत्र द्वारा की जाने वाली देवताओं की पूजा मनुष्य के आध्यात्मिक धरातल को जागृत करती तथा उसे संवेदनशील बनाती है, और इसके फलस्वरूप भक्त को उनकी महती कृपा प्राप्त होती है। यहाँ मंत्र-विज्ञान इतना निश्चित तथा वैज्ञानिक है कि मन के सूक्ष्म स्तर पर वे अपना निर्दिष्ट प्रभाव तथा जागरण अवश्य पैदा करते हैं। इसलिये मंत्र-शास्त्र ही तंत्र-शास्त्र की आधार-शिला है। मनुष्य के चित्त में ऐसे विस्तृत क्षेत्र हैं, जो इन मंत्रों के प्रकम्पनों से समस्वर रहते हैं और इसीलिये तंत्र परम्परा के मंत्र बड़े शक्तिशाली होते हैं। उनका कोई अर्थ हो या न हो, लेकिन चेतना के विभिन्न स्तरों को भेदने की शक्ति उनमें अवश्य होती है।

तंत्र की पूजा-पद्धति सिर्फ भक्तिमय ही नहीं होती। यह इतनी सुनियोजित विधि होती है कि साधक को हर कदम पर हर सूक्ष्म अनुष्ठान के प्रति जागरूक रहना पड़ता है और वह उन्हें यांत्रिक-ढंग से कर ही नहीं सकता। चेतना के निर्देशन की विधि पहले से ही सुनिश्चित होने के कारण जो कुछ साधक करता है उससे वह अचेतन रह ही नहीं सकता। पूजा के समय उसे मंत्रों, मुद्राओं, भावों तथा क्रियाओं का प्रयोग करना पड़ता है, इसलिये व्यक्तिगत चेतना में एक सूक्ष्मता आ जाती है।

तांत्रिक-साधना मंदिर के कक्ष में शुरू नहीं होती और न वहाँ समाप्त ही होती है। वह तो सवेरे जागते ही शुरू हो जाती है। उसके बाद साधक

के दिनभर के सारे कार्य-कलाप तंत्र के नियमों के अनुरूप होते हैं। पूजा के समय तंत्र के सारे विधान सक्रिय ढंग से क्रियान्वित किये जाते हैं। पूजा के अंत में साधक शिव और शक्ति पर ध्यान करता है।

ध्यान की क्रिया भी विधि-पूर्वक ही की जाती है। आम-तौर से जैसा ध्यान लोग करते हैं उससे यह ध्यान भिन्न प्रकार का होता है। चूँकि यह ध्यान की क्रिया पूर्णरूपेण पूर्वनियोजित ढंग से ही की जाती है, इसलिये साधक को मन को नियंत्रित करने में काफी सुविधा रहती है। साधक को यह सोचना नहीं पड़ता कि अब आगे क्या किया जावे। इससे बुद्धि की क्रिया समाप्त हो जाती है। आध्यात्मिक जीवन में यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। बुद्धि का दमन किये बिना यौगिक-चेतना की प्राप्ति नहीं की जा सकती। तंत्र और गुरु ही आपको इस प्रकार बुद्धि की स्थिति से बाहर निकाल सकते हैं।

ध्यान की पूरी प्रक्रिया साधक को लम्बे समय तक ध्यान करने में मदद पहुँचाती है। लम्बे समय तक ध्यान करना तभी मुश्किल मालूम पड़ता है जबकि साधक ध्यान के समय अपनी बुद्धि तथा विचार शक्ति का प्रयोग करता है। तांत्रिक पूजा विधि साधक की व्यक्तिगत चेतना को उच्चतर क्षेत्रों की ओर निर्देशित करती है, जबकि पौराणिक-विधि उसे ध्यान के लिये सिर्फ प्रेरणा भर देती है, उसकी चेतना शक्ति को उच्च स्तरों की ओर जाने के लिये कोई निश्चित निर्देश नहीं देती। जब आप किसी देवता पर ध्यान करते हो तब आपको अपनी व्यक्तिगत चेतना के निर्देशन के लिये एक निश्चित कार्यक्रम की आवश्यकता पड़ती है, जिसके अनुसार बिना बुद्धि का प्रयोग किये आप आगे बढ़ सको।

यहाँ मंत्र और यंत्र आपकी मदद करते हैं। उनका विधान ही इस ढंग से किया गया है कि उनका एक चित्र निर्माण हो जाता है और चेतना के आध्यात्मिक क्षेत्रों में उनके द्वारा स्फुरण और गति पैदा होने लगती है। तंत्र के ये तत्त्व ध्यान को चेतना के विभिन्न स्तरों में संचालित करते हैं।

योग के मार्ग में गुरु के महत्त्व पर बहुत कुछ कहा गया है लेकिन तंत्र के मार्ग में तो गुरु की प्रथम और अनिवार्य आवश्यकता है। तंत्र में गुरु का चुनाव ही प्रथम तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। तंत्र-शास्त्रों में स्त्री गुरु, पारिवारिक गुरु तथा अन्य प्रकार के गुरुओं की चर्चा है। स्त्री गुरु को तंत्र में बहुत ही शक्तिशाली माना जाता है। जहाँ कहीं भी परम्परागत तांत्रिक दीक्षा का रिवाज है वहाँ माता ही दीक्षा का कार्य सम्पन्न करती है। बिहार राज्य के













कुछ हिस्सों में परम्परागत दीक्षा बहुत ही लोकप्रिय है, जहाँ माता ही परम्परा से गुरु होती है।

किसी भी तांत्रिक पूजा की पूर्णता के लिये किसी स्त्री गुरु (भैरवी) द्वारा ही दीक्षा प्राप्त की जाती है। तंत्र की भैरवी द्वारा दीक्षा अत्यन्त ही शक्तिशाली दीक्षा मानी जाती है।

लेकिन गुरु की समस्या बहुत ही कठिन समस्या है। तांत्रिक दीक्षा के लिये गुरु का चुनाव सचमुच एक कठिन कार्य है, क्योंकि ऐसे गुरु अपने को बिल्कुल जाहिर नहीं करते। इसलिये तंत्र की दीक्षा गुरु पर ही निर्भर करती है, शिष्य का कार्य सिर्फ अपने को तैयार करना ही है। जब गुरु यह अनुभव करता है कि शिष्य अब तैयार हो चुका है, तब वह स्वयं ही उसे तांत्रिक-परम्परा में दीक्षित करता है। अतएव तांत्रिक साधना में योग्य गुरु खोजने की समस्या उठती ही नहीं।

तांत्रिक गुरु अगर संन्यासी हुआ तब तो बहुत ही उत्तम है, लेकिन एक गृहस्थ-गुरु भी आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। तांत्रिक गुरु में जिस बात की आवश्कयता है वह यह कि वह साधारण मनुष्य का जीवन व्यतीत करता हो। गुरु की अन्य योग्यताएँ जरूरी नहीं हैं, सिवाय इसके कि वह अपने कार्य में दक्ष हो और अपनी शक्तियों का प्रयोग निम्न कार्यों के लिये कभी न करता हो।

तंत्र में यद्यपि एक विवाहित गृहस्थ को भी दीक्षा देने का पूरा अधिकार है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि कोई सिर्फ गृहस्थ होने के कारण ही गुरु बन सकता है। चूँकि एक गृहस्थ से समाज के एक जवाबदार सदस्य होने की उम्मीद की जाती है, और साधारण लोगों की समस्याओं को वह ज्यादा अच्छी तरह समझ सकता है, इसलिये उसे भी गुरु बनने की इजाजत दी जाती है। शर्त सिर्फ यही है कि उसे इस विज्ञान का पूरा ज्ञान हो।

भारत में ऐसे ब्राह्मण जो तंत्र कला की जानकारी रखते हैं, वे एक साधारण गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हैं। यहाँ यह बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिये कि एक हिन्दू का, और उसमें भी एक ब्राह्मण का, और उसमें भी यदि वह आध्यात्मिक हुआ तो उसका जीवन बहुत ही यशस्वी, सुनियोजित तथा संयमपूर्ण होता है। एक भारतीय के गृहस्थ जीवन और एक पाश्चात्य व्यक्ति के गृहस्थ-जीवन में आदर्श, दृष्टिकोण तथा व्यवहार का बहुत जबरदस्त अन्तर है।

अगर ऐसे गुरु की दो पत्नियाँ हों तो भी इसे बुरा नहीं समझा जाता। विशेष अवसरों पर और खासतौर से परिवार परम्परा को जारी रखने के लिए हिन्दू-शास्त्र इस प्रकार के विवाह की अनुमति देते हैं। लेकिन ऐसा गुरु अपना सारा समय तंत्र के अभ्यास में ही लगाता है और उसकी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति उसके शिष्य-गण करते हैं।

कभी-कभी एक तांत्रिक का बहुत ही वीभत्स चित्र खींचा जाता है। उसके गले में नर-मुण्डों की माला रहती है, वह नग्न तथा नशे में रहता है, और उसके साथ ऐसी स्त्री रहती है, जो भी नशे में रहती है। याद रखा जाए कि तांत्रिक-पूजा में ऐसा कुछ भी नहीं होता। सच तो यह है कि तंत्र का इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उपर बताये चित्र की तंत्र में कोई मान्यता नहीं है।

तांत्रिक-पद्धति का जादू-टोने से भी कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि यह सत्य है कि तंत्र द्वारा कुछ शक्तियों का विकास हो सकता है। श्मशान, एकान्त जंगल, अर्धरात्रि का समय, आदि निश्चित और शान्त स्थान ध्यान के लिये उत्तम होते हैं, क्योंकि वहाँ किसी प्रकार का हल्ला-गुल्ला या बाधा नहीं होती। इसीलिये उन्हें तंत्र-साधना के लिये उपयुक्त माना गया है। एक विशेष वातावरण का मन के ऊपर प्रभाव पड़ता है और मन की वृत्तियाँ शान्त होती हैं। गहरे ध्यान के क्षणों में, जबकि जागृत मन की पकड़ शरीर के स्वचालित हिस्सों में छूट जाती है, ऐसे समय में मानव स्वभाव की अंतर्निहित भय की भावना फूट पड़ती है, जिसके फलस्वरूप अन्तरमन के तत्त्व समष्टि-अचेतन के रूप में सामने आ जाते हैं। जिस प्रकार जीवन की विशेष परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य के अन्दर की निम्न-चेतना सामने आ जाती है, उसी प्रकार श्मशान तथा अर्धरात्रि के एकान्त, शान्त तथा रहस्यमय वातावरण के प्रभाव से मनुष्य के अन्दर की गुप्त तथा रहस्यमयी शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं।

ध्यान के लिये दुनिया में श्मशान से अधिक उपयुक्त और कोई दूसरा स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ के वातावरण में, मनुष्य का मन जीवन की क्षण-भंगुरता, जीवन में किये जाने वाले प्रयत्नों की असारता, अवश्यम्भावी मृत्यु की चेतना तथा ऐसे ही अनेक अनुभवों का साक्षात्कार करता है।

भय के प्रथम आवेग को समाप्त करने के लिये साधक कभी-कभी मदिरा का भी सेवन करता है। लेकिन यह एक प्रकार का अनुष्ठान है, जिसके द्वारा मन तथा बुद्धि को उत्तेजित किया जाता है, जिससे वे अपनी चेतना की गहराइयों में गोता लगा सकें।

श्मशान-घाट में जब आप पूजा सम्पन्न करते हैं तब सिर्फ इतना ही नहीं होता। आपको अपनी पूरी साधना इसी तीव्र वातावरण में पूरी करनी पड़ती है, जिसमें घण्टों लगते हैं। आप को अपनी अन्तर-चेतना को स्थूल-चेतना से अनेक स्तरों में अलग करना पड़ता है। जब साधक की सजगता उसकी व्यक्तिगत चेतना की गहराइयों के विभिन्न स्तरों से गुजरती है, तब वह अनेक प्रकार के भय, रूप, दृश्य, विकृतियाँ, आदि को पार करती हुई अंत में शांति की स्थिति को प्राप्त करती है।

जब समष्टि अचेतन प्रकट होता है और उसका जबरदस्त धक्का लगता है तब साधक का अहं स्थूल के बन्धन से अलग हो जाता है और 'सत्य वस्तु' प्रत्यक्ष हो उठती है और इसके साथ साधना का एक अध्याय समाप्त हो जाता है।

मदिरा का प्रयोग, श्मशान में बैठना, नरमुण्ड अपने पास रखना, आदि के द्वारा कोई सिद्ध नहीं बन सकता, लेकिन अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये इनका उचित उपयोग कोई अगर चाहे तो अवश्य कर सकता है।

मैथुन तंत्र का कोई आवश्यक अंग नहीं है। अगर आप की पत्नी है तो आप उसके साथ तंत्र की साधना कर सकते हैं, या अगर आप ब्रह्मचारी हैं तो उसके बिना भी आप तंत्र-साधना कर सकते हैं। एक हिन्दू के लिये विवाह धर्म है, उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रह्मचर्य एक बड़ी उपलब्धि है। जहाँ एक गृहस्थ एक बड़े धर्म का पालन करता हे, एक ब्रह्मचारी भी अस्तित्व के ऊँचे स्तर पर निवास करता है।

स्त्री-पुरुष का वैवाहिक सहवास अपवित्र नहीं है, लेकिन उससे अंत:करण में क्लेश की भावना पैदा होती है। फिर तंत्र का अभ्यास कैसे किया जाए जबकि दोनों ही कार्य रात्रि में ही किये जाते हैं। उत्तेजना से पैदा होने वाली अपराध की भावना से कैसे छुटकारा पाया जाए? यही कारण है कि तंत्र के अभ्यासी को इस कार्य को भी आध्यात्मिक-रूप देना पड़ता है और इसे भी अपनी तांत्रिक-पूजा का एक अंग बना देना पड़ता है, जिससे वह इसके द्वारा पैदा होने वाली भावनात्मक उथल-पुथल से मुक्त रहे। समझदार व्यक्तियों ने मैथुन की क्रिया को भी तंत्र के घेरे में शामिल कर लिया जिससे गुनाह की भावना, स्नायविक शिथिलता, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया तथा आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति दुर्लक्ष्य की सम्भावना न रहे। अंत में मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में पति तथा पत्नी के मध्य एकत्व की और गहरी

भावना स्थापित हो सके। यही कारण है कि मैथुन की क्रिया भी तंत्र साधना की पद्धति से बाहर नहीं है बल्कि उसमें सम्मिलित है।

तंत्र का अभ्यास अलग-अलग प्रकार से तथा विभिन्न स्थानों में किया जाता है जैसे, रात्रि में, प्रात:काल, घर में, श्मशान में, अपनी धर्मपत्नी के साथ, दूसरे सहयोगियों के साथ या अकेले ही। सब कुछ साधक के विकास-स्तर पर निर्भर करता है। शुरू में साधक को यह साधना अपनी पत्नी के साथ करनी पड़ती है, बाद में पति तथा पत्नी अपनी साधना स्वतंत्र-रूप से अलग-अलग कर सकते हैं तथा सहज ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं।

तंत्र ब्रह्मचर्य की भर्त्सना नहीं करता वरन् उसकी आवश्यकता प्रतिपादित करता है। लेकिन जल्दबाजी में नहीं, क्रमिक रूप से।

जब साधक सहज ब्रह्मचर्य की स्थिति में स्थापित हो जाता है, तब उसे अपना अभ्यास श्मशान-भूमि तथा इसी प्रकार के अन्य किसी स्थान में करना होता है। इसके बाद उसे प्रात:काल की बेला में जब वातावरण तथा मन में भी पूर्ण शान्ति रहती है, अभ्यास कराया जाता है। इस स्थिति में पति-पत्नी को अपना अभ्यास अलग-अलग करना होता है।

मसान-साधना स्त्रियों को भी करनी पड़ती है। यह साधना पति या पत्नी के साथ नहीं, बल्कि स्वतंत्र-रूप से करनी पड़ती है।

प्रात:काल की साधना भी पति-पत्नी दोनों के लिये होती है, लेकिन इसका अभ्यास वे अलग-अलग स्वतंत्र-रूप से ही करते हैं।

प्रारम्भिक पूजा पति और पत्नी, गुरु और शिष्य, स्त्री और पुरुष दोनों के लिये होती है, जिसे उन्हें साथ-साथ करना पड़ता है।

इस तरह तांत्रिक का अर्थ वीभत्स चेहरे वाला, लाल रंग का कपड़ा पहनने वाला, खूनी आँखें और भयानक व्यक्तित्व वाला मनुष्य नहीं है। जिनके मन में तांत्रिक का ऐसा चित्र है वे अज्ञानी हैं।

असली तांत्रिक एक साधु-पुरुष होता है। तांत्रिक लोग भी योगी होते हैं, जो अहं के अनेक स्तरों में छिपी आध्यात्मिक शक्ति के विकास के लिये एक अन्य तरीका अपनाते हैं और उनका तरीका एक बहुत आसान तरीका है। उनका मार्ग एक ऐसा मार्ग है जिस पर बहु-संख्यक लोग चल सकते हैं।

तांत्रिक-पद्धति को गलत समझा जाता है तथा उसे बदनाम किया जाता है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में अल्प जानकारी रखने वाले व्यक्तियों ने अपने मन में तांत्रिक का एक गलत चित्र बना रखा है।

तांत्रिक-पद्धति का यदि विस्तार के साथ वर्णन किया जाए, उसके देवी-देवताओं की परिभाषा, मंत्रों का विज्ञान, बीज मंत्रों का आध्यात्मिक महत्त्व तथा उनका उपयोग, ध्यान की विधियाँ, स्थान, समय, तथा सहयोगी साधकों का महत्त्व आदि, तब यह समझा जा सकेगा कि तांत्रिक-साधना इतनी शक्तिशाली होती है कि इसके द्वारा न केवल भटकते हुए मन को एकाग्र किया जा सकता है, बल्कि चेतना के उच्च स्तरों को भी इसके द्वारा वश में लाया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति यह कार्य कर सकता है।

शिव और शक्ति का अस्तित्व सामूहिक भी है, और व्यक्तिगत भी। वे हर मनुष्य की उच्चतम चेतना के प्रतीक हैं। शिव और शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति को योगी समाधि कहता है, जबकि इसी स्थिति को वैष्णव विष्णु के नाम से पुकारता है।

शिव हर जीवधारी के अन्दर की निर्गुण चेतना है और शक्ति वह तत्त्व है जो इस चेतना को धारण तथा व्यक्त करती है। शक्ति ही तीन गुणों का नियन्त्रण करती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तिगत चेतना कार्य करती है। शक्ति, माया और अविद्या भी है। जब साधक शक्ति की पूजा करता है उस समय प्रत्याहार की याने इन्द्रिय-चेतना से अलग होने की क्रिया सम्पन्न होती है। व्यक्तिगत चेतना में परिवर्तन की क्रिया, शक्ति के प्रकटीकरण के साथ ही समाप्त हो जाती है।

उच्चतर चेतना की जिस स्थिति को प्राप्त करने के लिये योगी प्रयत्न करता है, वह शक्ति-उपासना की प्रक्रिया में सहज ही प्राप्त हो जाती है। अतएव सम्पूर्ण तंत्र-शास्त्र मनुष्य के अन्दर की उच्चतम स्थिति के साक्षात्कार की ही एक विधि है।

वेदान्त एक अति-उच्च दर्शन है, लेकिन वह पूर्णरूपेण बौद्धिक है। ज्ञान-योग की साधनाएँ भी नकारात्मक, निराशावादी, अहंकार युक्त और केवल मानसिक हैं।

राजयोग यद्यपि अपने आप में एक पूर्ण पद्धति है, लेकिन एक साधारण मानव के लिये उसकी माँगे इतनी असम्भव हैं कि जिसके फलस्वरूप उसकी साधनाएँ मनुष्य को अंतर्मुखी, मानसिक रूप से विकारग्रस्त तथा झक्की व्यक्तित्व वाला बना डालती हैं। यद्यपि उसके समान उत्तम अन्य कोई दूसरा मार्ग कहीं भी नहीं है, लेकिन साधारण मानवीय प्रकृति के प्रति समझदारी का उसमें अभाव ही है।

भक्तियोग का मार्ग सबसे सरल होते हुए भी उसमें साधना के क्रमबद्ध विकास का कोई सुनिश्चित मार्ग नहीं है और उसमें आचार, नैतिकता, पवित्रता, पुरातनवाद तथा दाम्भिकता का ऐसा गोरख-धंधा है कि साधारण मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है।

लेकिन तंत्र-शास्त्र का मार्ग हर मनुष्य के लिये सुगम और सरल है। यह करो और वह करो का झगड़ा इसमें नहीं पाया जाता। विकास के हर स्तर के लोगों के उपयुक्त साधनायें यहाँ आपको मिलेंगी। आप चाहे मांसाहारी हों या शाकाहारी, ब्रह्मचारी हों या साधारण मानव, उच्च-कुल में जन्में हो या साधारण कुल में, मोक्ष आपका लक्ष्य हो या सिद्धियाँ, आप सकाम हों या निष्काम, केवल तंत्र-शास्त्र में ही आपको अपने लायक साधना मिल सकती है।

संन्यासी भी तंत्र का अभ्यास कर उच्च शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं तथा उसका उपयोग मानव-समाज के हित में कर सकते हैं। महानिर्वाण-तंत्र संन्यासियों के लिए उपयुक्त तंत्र है।

आज भी ऐसे सैकड़ों लोग हैं जिनको यह गलतफहमी है कि तंत्र की दीक्षा के लिये उन्हें अनिवार्य रूप से पंच-मकारों का सेवन करना पड़ेगा। ऐसे लोगों के लिये यह संदेश है कि तंत्र-शास्त्र उनके लिये भी है। अनेकों वर्षों की साधना के बाद भी जिन्हें कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई है, उन्हें तंत्र के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। इस कलियुग में जबकि लोगों के मन पवित्र नहीं रह गये, उनको आदतें बिगड़ चुकी हैं, वासनाओं का विस्फोट हो रहा है, जीवन एकदम बदल चुका है, ऐसे समय पर, पूर्व तथा पश्चिम, दोनों के लोगों के लिये तंत्र ही एकमात्र रास्ता है।



गीता तत्त्व-दर्शन

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

बिहार योग विद्यालय द्वारा प्रकाशन – 1973, 2013



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

गीता तत्त्व-दर्शन

गीता पर तेरह सरल प्रवचन

नदी उमड़ती जा रही है। किनारे के खेत सूख रहे हैं। आवश्यकता है उस भगीरथ प्रयत्न की जिसके सहारे सरिता की एक-एक बूँद का सदुपयोग कर प्यासी धरती की प्यास बुझाई जाए ताकि खेती लहलहा उठे।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ ऐसा ही प्रयास किया गया है। बिहार योग विद्यालय के प्रांगण में दिये अनेक प्रबोधक सत्संगों में स्वामी सत्यानन्द जी ने गीता की जो व्यावहारिक व्याख्या की है, वह सभी साधकों, जिज्ञासुओं और मुमुक्षओं का मार्ग अवश्य प्रशस्त करेगी।

– *सम्पादक*

समीक्षा

बिहार योग विद्यालय, मुगेर के प्रांगण में आयोजित पिछली कई सत्संग-गोष्ठियों में परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी ने गीता के युग धर्म को दृष्टिगत रखते हुए अध्यात्म-तत्त्व पर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रवचन प्रस्तुत किए थे। उन प्रवचनों को ही सम्पादक की आस्था ने अपना बनाकर सबका बना डालने की विनम्र चेष्टा की है। परिणामत: यह 'गीता तत्त्व-दर्शन' आपके सामने है।

गीता जीवन की तरह ही चिरप्राचीन और चिरनवीन है। पर इस पुस्तक में व्यक्त विचारों में प्राचीनता और नवीनता के साथ ताजगी भी है, यह बड़ी बात है। इसके अधिकांश प्रसंग ऐसे हैं जो दैनन्दिन अनुभव के भीतर से आए हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो 'कागद की लेखी नहीं', आँखिन की देखी हैं। ऐसे प्रसंगों ने इस लघु रचना को गुरु बना दिया है।

प्रथम अध्याय गीता की युग सापेक्षता पर प्रकाश डालता है। लेखक ने ऐतिहासिक आकलन-सा प्रस्तुत करते हुए स्थापित किया है कि गीता युग-विशेष में व्यक्ति विशेष के लिए कही गई थी, पर वह युग-युग की और व्यक्ति-व्यक्ति की बन गई।

भारतीय चिंतन-परम्परा के संदर्भ में इस तथ्य की मीमांसा करने पर बड़े रोचक निष्कर्ष सामने आते हैं। वेदों में यज्ञ का प्राधान्य था और यज्ञ का सम्बन्ध स्थूल कर्मकाण्डों से था। इन कर्मकाण्डों की व्याख्या के निमित्त ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। पर हर अति की प्रतिक्रिया होती है। यज्ञ में जीव-हिंसा करके स्वर्ग सुख प्राप्त करने की स्थूल कामना के विरुद्ध भारतीय चिंतकों ने सूक्ष्म का संधान प्रारंभ किया। भोग की प्रतिक्रिया वैराग्य में हुई। वेदों के नासदीय सूक्त जैसे तत्त्वपरक उपेक्षित अंशों का चिंतन प्रारंभ हुआ। परिणामस्वरूप उपनिषदें सामने आईं।

लेकिन उपनिषदों ने वैदिक भोगवाद के विरुद्ध ज्ञान और वैराग्य का इतना अधिक प्रचार किया कि समाज में संन्यासियों की बाढ़-सी आ गई। हर कोई कपड़े रँगवा कर वैरागी बन जाने पर आमादा हो गया। जैन-दर्शन ने आग में घी का काम किया। उसने कहा कि कर्म के रूप में भी पुद्गल होते हैं और इन्हीं कर्म-पुद्गलों के सम्पर्क से जीव बद्ध होता है। परिणाम यह हुआ कि जीव की मुक्ति के नाम पर कर्म की उपेक्षा होने लगी। भगवान बुद्ध ने यद्यपि कर्म का उपदेश किया; उनके 'आर्य सत्य' एवं स्वयं अपने जीवन के उदाहरण ने लोगों को वैराग्य की ही प्रेरणा अधिक दी। इस प्रकार उपनिषदों के अंतराल से उपजी हुई निवृत्ति क्रमश: जैन और बौद्ध विचारधाराओं में घुलकर दुगुने वेग से समाज को निमग्न करने लगी। इस संदर्भ में डॉ. राधाकृष्णन का यह कथन द्रष्टव्य है कि 'निवृत्ति भारत की विचारधारा में बहुत दिनों से वर्त्तमान रही है। अत: बुद्धदेव और महावीर ने जब उस पर जोर डाला, तब भारत में निराशा और भी गहरी हो गई। मगर चीन और जापान, जो मूलत: प्रवृत्तिवादी (अथवा भारत से कम निवृत्तिवादी) थे, इसके जहर से बच गए।'

वैदिक प्रवृत्ति और जैन-बौद्ध दर्शनों में मुखर होने वाली औपनिषदिक निवृत्ति – इन दो अतियों के बीच समन्वय प्राप्त किए बिना समाज का कल्याण असम्भव था। गीता समाधान के रूप में स्वीकृत हुई।

श्री एस. एन. दासगुप्ता की मान्यता है कि अपने मूल रूप में गीता बुद्ध से पहले की रचना है। बहुतेरे विद्वानों का अनुमान है कि गीता अपने मूल रूप में उपनिषद् ही रही होगी। बाद में चल कर बौद्ध धर्म के प्रभावों को हिन्दू धर्म में पचा कर उसे वर्त्तमान रूप दे दिया गया होगा।

जो भी हो गीता की सर्वोपरि विशेषता यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय की एक विराट चेष्टा है। उसमें औपनिषदिक ज्ञान का सामाजिक प्रयोग किया गया है। एक और बात ध्यातव्य है। उपनिषदों ने अगर शूद्रों को मुक्ति से वंचित कर दिया तो बौद्धों और जैनों ने मुक्ति को श्रमणों तक सीमित कर दिया। पर गीता ने सब के लिए मुक्ति का मार्ग मुक्त कर दिया। तभी उसे 'गृहस्थों की उपनिषद्' कहा गया है। वह मनुष्य मात्र के कल्याण का सुविस्तृत सिंहद्वार है।

आज जब देश का भविष्य खराद पर चढ़ा है और वर्तमान कसौटी पर, गीता के संदेश की महिमा द्विगुणित हो उठी है। ऐसे समय में इस विषय पर

सत्संग-गोष्ठियों का आयोजन और उनमें अधिकारी व्यक्ति द्वारा दिए गए प्रवचनों का यह प्रकाशन राष्ट्रीय महत्त्व की चीज है। अस्तु।

पुस्तक के दूसरे और तीसरे अध्यायों में निष्काम कर्म के मूल मन्त्र की समुचित व्यावहारिक व्याख्या दी गई है।

बाद के तीन अध्याय ध्यान-योग के प्रत्यक्ष अनुभव में से आए प्रतीत होते हैं। व्यक्ति, युग और देश के हितों के लिए यदि कर्म की आवश्यकता है तो कर्म को निष्कामता की ज्योतिर्मय ऊँचाइयों तक उठा ले चलने के लिए ध्यान की साधना अनिवार्य है।

ध्यान संसार की तमाम साधनाओं का सार-तत्त्व है। जैनधर्म के अंतर्गत 'अविपाक भाव-निर्जरा' का परम पद प्राप्त करने के लिए साधकों को जिन छः अंतरंग तपस्याओं का उपदेश किया गया है, उनमें ध्यान का स्थान सर्वोपरि है। बौद्ध धर्म के अष्टांगमार्ग में सम्मा-साति एवं सम्मा-समाधि के रूप में ध्यान को ही स्वीकृति दी गई है। कबीर आदि सन्तों का मार्ग भी वस्तुत: ध्यान-साधना का ही मार्ग है। रामकृष्ण और विवेकानन्द से लेकर रमण, गाँधी और अरविन्द तक ने एक स्वर से ध्यान की अनिवार्यता स्वीकार की।

मन की शक्ति अपार है। उसे पहचानने और पाने के लिए उसकी अगम गहराइयों में पैठना आवश्यक है। इस अंतर्मुखी यात्रा के क्रम में साधक को मन की विभिन्न स्थितियों से होकर गुजरना पड़ता है। वे स्थितियाँ इस प्रकार हैं – चेतन, अवचेतन, अचेतन, अतिचेतन। मनोविज्ञानाचार्य युंग ने मन की चार स्थितियों क्रमश: (1) अहंभाव, (2) चेतन, (3) वैयक्तिक अचेतन और (4) सामूहिक अचेतन की कल्पना की है, जो कठोपनिषद् की तत्संबंधी कल्पना से काफी साम्य रखती है। कठोपनिषद् (3.10-11) में कहा गया है कि इन्द्रियों के परे मन है, मन के परे बुद्धि। बुद्धि के परे महत् है, महत् के परे अव्यक्त प्रकृति और अव्यक्त प्रकृति के परे परम पुरुष का निवास है। इसी तथ्य को संतों ने 'सुन्नि सुन्नि सुन्नि के पारा' कहकर व्यक्त किया है। अस्तु।

भीतर की यह यात्रा ध्यान के सहारे ही सम्भव हो पाती है। धारणा ध्यान की पूर्व पीठिका है और समाधि चरम परिणति। इसीलिए तीनों को एक साथ 'संयम' के अंतर्गत परिगणित किया गया है।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' कहकर धारणा की परिभाषा दी गई है। तात्पर्य यह है कि किसी खास विषय पर मन को लगा रखना धारणा है। 'तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्' अर्थात् उस विषय के प्रत्यय (ज्ञान) को एकतानता

प्रदान कर देना ध्यान है। दूसरे शब्दों में धारणा का नैरंतर्य ही ध्यान है। ध्यान का यह नैरंतर्य क्रमशः सूक्ष्म और बहुत सूक्ष्म होता हुआ, जब वस्तु के अर्थ-ज्ञान मात्र में निमज्जित होकर शून्य बन जाता है तो उसे समाधि कहते हैं – *'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'*।

स्वामी विवेकानन्द ने निद्रा से तुलना करते हुए समाधि को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। दोनों में पर्याप्त समानता है। पर एक के मूल में जहाँ मनुष्य का शरीर धर्म है, वहाँ दूसरे में आत्मिक सचेष्टता। निद्रा में से आदमी जैसा-का-तैसा लौट आता है। पर समाधि में से दिव्यज्ञान-समन्वित होकर लौटता है, जैसे गोताखोर सागर की गहराइयों में से अनमोल रत्न लेकर लौटता है। समाधि मानव को अतिमानव बना देती है।

ध्यान और जप में परस्पर अनुपूरकत्व का सम्बन्ध है। श्री रामकृष्ण परमहंस का कथन है कि एकाग्र होकर प्रभु का नामजप करते रहने से उनके रूप के भी दर्शन होते हैं। उनसे साक्षात्कार भी होता है। जंजीर में बंधी लकड़ी गंगा में जैसे डुबाई हुई हो और जंजीर का दूसरा छोर तट पर बंधा हुआ हो तो जंजीर की एक-एक कड़ी पकड़ कर कुछ दूर बढ़ कर फिर पानी में डुबकी मार कर उसी प्रकार और आगे बढ़ते हुए लोग लकड़ी को अवश्य ही छू सकते हैं। इसी तरह जप करते हुए मग्न हो जाने पर धीरे-धीरे ईश्वर के दर्शन होते हैं।

त्राटक ध्यान की एक सर्वाधिक उपयोगी पद्धति है। मनुष्य-शरीर की केन्द्रीय स्नायविक प्रणाली का निर्माण मस्तिष्क और मेरुदण्ड के संयोग से होता है। स्वयं मस्तिष्क मेरुदण्ड का ही अत्यधिक विकसित एवं विस्तृत ऊर्ध्वभाग है। दूसरी ओर आँखों की पुतलियों का भीतरी पटल (रैटिना) भी मस्तिष्क का ही विकसित रूप है। यही कारण है कि आँखों के माध्यम से प्राप्त प्रतिक्रियाएँ संपूर्ण स्नायविक प्रणाली को झंकृत कर देती हैं।

वास्तव में देखने वाली वस्तु आँख नहीं, मस्तिष्क है। आँख तो बाहरी चीजों के चित्र को मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र तक पहुँचाने का एक साधन मात्र है। तभी नेत्रों का नियंत्रण मन का नियंत्रण बन जाता है। यह नियंत्रण ही त्राटक का उद्देश्य है।

किसी भी दृष्टि-सम्बन्धी आघात के हमारे ऊपर पड़ने पर आघात के स्रोत के हट जाने के बाद भी उसके मिटने में थोड़ा समय लगता है। इसे पश्चात् प्रतिरूप (after image) कहते है। इनके दो रूप होते हैं – धनात्मक (positive) और ऋणात्मक (negative)। त्राटक का सम्बन्ध मुख्यतः

धनात्मक पश्चात् प्रतिरूप से है। साध्य पर देर तक दृष्टि-साधन करने पर उसकी छवि आँखों की राह मन में उतर आती है और चित्त स्थिर हो जाता है – समाधि की स्थिति अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

स्पष्ट है कि साधना में ध्यान का सर्वोपरि महत्त्व है। इसकी प्रक्रिया सहज होती हुई भी गूढ़ है। पर दुर्भाग्यवश इस विषय पर स्वतंत्र कोई ग्रन्थाकार विवेचन उपलब्ध नहीं है। यह देख कर संतोष हुआ कि 'गीता-तत्त्व दर्शन' के लेखक ने त्राटक की उपादेयता, विधि और प्रकार के साथ-साथ ध्यान-साधना के क्रम में आने वाले अंतरंग, बहिरंग और लय के विक्षेपों की चर्चा करते हुए उसके स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म लक्ष्यों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। इसी क्रम में प्राणायाम और ध्यान योग के विभिन्न प्रकारों की भी अच्छी मीमांसा हो गई है।

ये मीमांसाएँ मानो निष्काम कर्म के रजत-शिखर तक जाने वाली पगडण्डियाँ हैं। इन पगडण्डियों पर से होकर कोई भी निष्ठावान् साधक गंतव्य तक पहुँच सकता है, इसमें संदेह नहीं।

अंतिम अध्याय में गुण और श्रद्धा के प्रश्न पर प्रसंगानुकूल चिंतन किया गया है। सांख्य-युग से चल कर स्पूतनिक युग तक आते-आते 'गुण' काफी पुराना पड़ चुका है। पर लेखक ने व्यक्ति और समाज के संदर्भ में पुनर्विचार कर गुण-सिद्धान्त को नवीनता और रोचकता प्रदान कर दी है।

श्रद्धा का प्रश्न कदाचित इस युग का सबसे बड़ा प्रश्न है। विज्ञान से उत्पन्न भौतिक बुद्धि ने शारीरिक सुख की खोज में पागल मनुष्य को तर्कों और शंकाओं के चक्रब्यूह में बन्दी बना छोड़ा है। अभागे अभिमन्यु की तरह उसे प्रवेश का मार्ग तो मालूम है, निकल भागने की राह ही मालूम नहीं।

रामकृष्ण और रसेल से लेकर शॉ, गाँधी और अरविंद तक ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि श्रद्धा का मार्ग ही मनुष्य की मुक्ति का सबसे सहज मार्ग है। विज्ञान की अतिशय भौतिकता से ग्रस्त मनुष्य और शरीर के चक्रव्यूह में आबद्ध आत्मा, दोनों का कल्याण श्रद्धा के अवलंबन से ही संभव है।

बुद्धि का सम्बन्ध मानस से है, श्रद्धा का सम्बन्ध अतिमानस से। बुद्धि से अर्जित ज्ञान सतह पर का ज्ञान होता है। बुद्धि विश्लेषण की पद्धति पर चलती हैं। स्वभावतः वस्तुओं का संश्लिष्ट ज्ञान उसे प्राप्त नहीं हो पाता। परन्तु सारा जीवन – यह निखिल ब्रह्माण्ड एक है और इस एकत्व का ज्ञान जिस सहज ज्ञान से होता है, वह अतिमानस से उद्‌बुद्ध होता है। श्रद्धा ही उसकी कुंजी है।

चरम सत्य तर्क के परे है, जहाँ बुद्धि की गति नहीं। पर श्रद्धा वहाँ सहज ही पहुँच जाती है।

इसीलिए श्रद्धा साधना की अनिवार्य शर्त है। उसके अभाव में साधक एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता।

गीता-तत्त्व-दर्शन में कर्मयोग और ध्यान की व्याख्या के क्रम में लेखक ने श्रद्धा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जो आध्यात्मिक ही नहीं, सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आलोच्य रचना गीता की अविकल व्याख्या नहीं, जीवन का स्वतंत्र आध्यात्मिक चिंतन भी है। कई अध्यायों में से गुजरते हुए ऐसा लगा, जैसे कोई श्रद्धावान् साधक गीता की छांह में बैठकर आत्म-चिंतन कर रहा हो, आपबीती दुहरा रहा हो।

हम इस आपबीती का अभिनन्दन करते हैं।

– प्रो. शिव चन्द्र प्रताप,
मुंगेर

गीता-चिन्तन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

महाभारत के उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद के रूप में सात सौ श्लोकों की एक गीता है, जिसके रचयिता श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास जी हैं।

कुछ लोगों का मत है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता कही और जिस समय व्यास जी ने उसे लिखा, उन दोनों के बीच समय का कुछ अन्तर रहा है। गीता लिखते समय व्यास जी के ऊपर देश, काल और परिस्थिति का विशेष प्रभाव था। यही कारण है कि गीता में इसकी छाप दिखाई पड़ती है। तत्कालीन समाज की संदिग्ध अवस्थाओं को सुधारने के लिए उन्होंने महाभारत में इसे जोड़ा। गीता न तो युद्ध गाथा है और न ही धर्म-पुस्तक। यह है मानव जीवन का दैनिक कार्यक्रम।

भारतवर्ष युग-युग से अध्यात्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ का सामाजिक जीवन सुलझा हुआ था। आवश्यकताएँ कम थीं और आराम ज्यादा। सभ्यता का पाखण्ड भी नहीं था। ऐसे स्वस्थ ग्राम्य जीवन में रहने वाले लोगों का अध्यात्म की ओर झुकना स्वाभाविक ही था। लेकिन लगातार इस एक जैसी अवस्था ने यहाँ के लोगों को इतना अन्तर्मुख कर दिया कि उनका बाह्य व्यावहारिक जगत् से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। उन्होंने न तो जीवन के उतार-चढ़ावों को देखा था और न उनके सामने कोई आर्थिक समस्या ही थी।

जब आदमी बिना किसी विशेष निर्देश के आध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ता है तो उसके मन में एक प्रकार का निष्क्रियतामूलक वैराग्य भाव उत्पन्न होने लगता है। यह वैराग्य सच्चा वैराग्य नहीं होता, बल्कि वह मानसिक आलस्य कर्म-विमुखता या अकर्मण्यता का छद्म रूप ही होता है। इस प्रकार के मिथ्या वैराग्य से ग्रस्त व्यक्ति पलायनवादी हो जाता है।

यही अवस्था निर्देशरहित आध्यात्मिक जीवन बिताने वाले देश और समाज की भी होती है।

बीच-बीच में ऐसे व्यक्ति हुए, जिन्होंने इस प्रकार की नैराश्यपूर्ण आध्यात्मिक दिग्भ्रान्तता के खतरे का देखा और उसका निदान निकाला। उन्होंने आध्यात्मिक और लौकिक जीवन में सामंजस्य की आवश्यकता को समझा।

इन मनीषियों में प्रमुखत: तीन के नाम आते हैं। वे हैं वशिष्ठ, वाल्मीकि और श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास।

वशिष्ठ जी ने देखा था कि उस काल का समाज इतनी तीव्रता के साथ आध्यात्मिकता की ओर बढ़ रहा है कि उसे व्यावहारिक जीवन के द्वन्द्व की कोई चिन्ता ही नहीं है। वह केवल परलोक की सोचता है।

इस नैराश्यपूर्ण अवस्था को दूर करने के लिए ही उन्होंने रामायण की रचना की, जिसे हम योगवाशिष्ठ भी कहते हैं।

इसमें राम को युग-प्रतिनिधि के रूप में रखकर, उनसे उस युग के लोगों के मनोभावों का वर्णन कराया गया है और उसमें उसका निदान भी है विश्वामित्र की वाणी के रूप में।

इसमें एक ओर संसार की महान् शक्ति की कल्पना की गयी है और दूसरी ओर कर्म करने की आवश्कता पर जोर भी दिया गया है।

महर्षि वाल्मीकि के सामने भी यही समस्या थी। उनका ध्येय समाज को आध्यात्मिकता से विमुख करना नहीं, बल्कि लौकिक जीवन को सन्तुलित करना था। उन्होंने राम को अनन्त शक्तियों से विभूषित महापुरुष के रूप में ग्रहण किया और साथ ही उस युगपुरुष से समाज की मर्यादाओं का पालन भी कराया।

यही अवस्था एक बार फिर प्रश्न बनकर व्यास जी के सामने उठ खड़ी हुई थी। जो अग्निहोत्री थे वे हवन छोड़कर कुछ करना नहीं चाहते थे और जो साधु थे, वे अग्नि छूना ही नहीं चाहते थे। समाज के लोगों को घर-गृहस्थी का काम प्रपंच-सा लगता था। योग, तप, तीर्थ आदि साधनाएँ सिर्फ मुक्ति के लिए ही की जाती थीं। वे स्वधर्म का परित्याग कर चुके थे; जीवन के मर्म से विमुख हो रहे थे। यह एक ऐसी परिस्थिति थी, जिसमें आध्यात्मिकता मनुष्य को ऐसा पकड़ती है कि वह उसे ले डूबती है। उसके बाद भौतिकवाद आगे आता है और व्यक्ति या समाज उसमें जकड़ जाता है।

साधारणत: लोग कर्म-त्याग में ही शांति का स्वरूप देखते हैं। लेकिन इसका वास्तविक जीवन से सदा विरोध रहा है। व्यावहारिक जीवन में तो आदमी उस कोयले की खान के मजदूर की तरह है, जो दिनभर कालिख के बीच काम करता है और सन्ध्या-काल में अपने शरीर को धोकर स्वच्छ हो जाता है।

मनुष्य को तो अपने आश्रम के अनुकूल आध्यात्मिक जीवन और इन्द्रिय जीवन के बीच समन्वय करना पड़ेगा ही।

गीता के लेखक श्री व्यास जी के सामने भी एक महान् प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। आदमी अपने आध्यात्मिक और लौकिक जीवन के बीच दीवार खड़ी करे या दोनों को साथ लेकर चले? यदि साथ लेकर चलना है तो कैसे?

एक रास्ता यह भी था कि प्रतिदिन कुछ समय अध्यात्म के लिए निकाला जाए और बाकी समय गृहस्थी के सभी प्रपंचपूर्ण कार्य बेहिचक किये जाएँ; और दूसरा रास्ता था कि दिन भर काम भी किया जाए और साथ-ही-साथ अध्यात्म भी होता रहे।

गीता के अनुसार मनुष्य के आध्यात्मिक और भौतिक नाम से दो जीवन नहीं हो सकते, और एक-दूसरे की अवहेलना भी नहीं की जा सकती है।

सच तो यह है कि कोई भी पूर्ण आध्यात्मिक नहीं हो सकता है। मनुष्य पंचतत्त्वों से बना है जो उसका भौतिक स्वरूप है। उसने चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद मनुष्य शरीर पाया है, उन योनियों के संस्कारों की छाप उसके अचेतन मन पर चित्रित है। ऐसी अवस्था में उसके भीतर महत्त्वाकांक्षाएँ, वासनाएँ तथा अन्य वांछित और अवांछित संस्कारों का रहना स्वाभाविक ही है। इसलिए, कोई भी व्यक्ति पूर्ण आध्यात्मिक नहीं हो सकता, उसका स्वरूप भले ही आध्यात्मिक हो।

गीता का अर्जुन समाज का प्रतिनिधि है। पहले अध्याय में अर्जुन द्वारा व्यक्त वाणी उस काल के समाज की आवाज है। वहाँ भगवान श्रीकृष्ण एक जाग्रत गुरु के रूप में आते हैं, जिनके सामने एक ऐसे युग का चित्र है जहाँ मनुष्य आवश्यकताओं से पराजित होकर नैराश्यपूर्ण जीवन बिता रहा है। वह सुख चाहता है पर मिल नहीं पाता। घर छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहता है पर कर नहीं पाता। वैसे ही युग को उन्होंने अपनी अमृत वाणी से सन्देश दिया है।

मनुष्य स्वभावत: अपने जीवन की असफलताओं, आघातों और निराशाओं की याद तो रखता है, पर जीवन की आशाएँ और सफलताएँ

आँखों से ओझल रहती हैं। वह जीवन के केवल दोषपूर्ण चित्रों को ही देखता है, उसके सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् को नहीं।

ऐसे व्यक्ति के सामने जीवन का एक ठोस दर्शन उपस्थित करना आवश्यक है। समाज में रहने वाले व्यक्ति का जीवन दर्शन कुछ और होता है, संन्यासी का कुछ और।

एक ऐसा भी आदमी होता है जो जीवन के दोनों पक्षों को एक साथ ग्रहण करना चाहता है। उसकी अवस्था 'हसब ठठाई फुलाइब गालू' जैसी होती है। वह आनन्द चाहता है, पर त्याग नहीं। बबूल का पेड़ बोता है और आम का फल खोजता है।

मनुष्य की आकांक्षाओं और उनकी प्राप्ति के बीच बड़ा विरोध है, रहेगा भी। गीता का रास्ता संसार में अब तक बताये गये मनुष्य हित के सभी रास्तों से भिन्न है। अब तक तो यही कहा गया था कि वैराग्य के बिना शान्ति नहीं हो सकती है।

ऐसे समय में गीता में भगवान श्रीकृष्ण का एक महान् क्रान्तिकारी रूप प्रकट होता है। वे कहते हैं कि त्याग की बात तो दूर रहे, स्त्री, शूद्र और वैश्य भी अपने-अपने कर्मों को दक्षता और निपुणतापूर्वक करके उसी गति को प्राप्त करते हैं, जिस गति को तपस्वी, वैरागी या साधक प्राप्त करते हैं। मनुष्य को अपने आप से संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है।

गीता योगशास्त्र है, किन्तु इसका योग पतंजलि के योग से कुछ भिन्न है और कुछ महान् भी। यह जन-साधारण के लिए अधिक उपयुक्त है।

आज तक योग का अर्थ संन्यास से और इन्द्रियों के सहज स्वभाव के दमन से लगाया जाता था, किन्तु गीता इसका समर्थन नहीं करती। सांसारिक जीवन में विषय-विमुख होने से मनुष्य की प्रतिभाएँ कुण्ठित हो जाती हैं। इन्द्रियों का भी विधिवत् विकास जरूरी है। इन्द्रियों में भी प्रतिभा होती है, जिसका सदुपयोग करना चाहिए। साधना ऐसी होनी चाहिए कि इन्द्रियाँ अपविषयों से दूर तो रहें, पर उनकी अपनी प्रतिभा नष्ट न हो। जब इन्द्रियाँ मनुष्य के मन के साथ सामंजस्य स्थापित करती हैं तो आदमी महान् हो जाता है।

सूर, तुलसी, वाल्मीकि जैसे हमारे अनेक संतों के पास शक्तियाँ थीं, पर उन्होंने केवल अपनी इन्द्रिय-शक्ति को विषयांतर किया। उसकी सहज प्रतिभा का सदुपयोग किया। इन्हीं के सहारे कितने ही सहज गुणों का अर्जुन किया, जैसे कल्पना, निर्भीकता और परिस्थितियों को पहचानने की क्षमता।

संत का संग मिला, साधना की ओर धारा बदल गयी। साधना से शक्ति मिलती नहीं है, वह तो सब के भीतर स्वयं है ही। केवल दबी हुई प्रतिभा ऊपर आ जाती है और उसकी धारा बदल जाती है। इन्हीं शक्तियों को विकसित करने का उपाय गीता में है। जिसके शरीर, मन और इन्द्रियाँ सबल हैं, उसी को आत्म-दर्शन हो सकता है। कमजोर व्यक्ति चाहे कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसे आत्म-दर्शन नहीं हो सकता।

गीता हमें दुनिया से विमुख नहीं करती। यदि इसका यही प्रयोजन होता तो भगवान श्रीकृष्ण के सामने अर्जुन के स्थान पर कोई और ही होता।

जहाँ तक आत्म-संयम और सात्त्विक आहार का प्रश्न है, ये साधना के लिए हैं तो जरूरी, पर इनका स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी क्षमता के अनुकूल होना चाहिए। जो एक के लिए सात्त्विक है, दूसरे के लिए तामसिक भी हो सकता है। साधक को ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, भय आदि से दूर रहना चाहिये। यहाँ निर्भीक से तात्पर्य किसी आतंकवादी व्यक्ति से नहीं है, बल्कि निर्भीक व्यक्ति दूसरों को अभय प्रदान करता है।

महाभारत की लड़ाई आज भी प्रतिदिन हमारे जीवन में हो रही है और हम अपनी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों से लड़ रहे हैं। शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें यह लड़ाई तो लड़नी होगी।

शान्ति जीवन का परम लक्ष्य है, पर उसकी प्राप्ति के लिए किसी विशेष कष्ट साध्य त्याग या तप की आवश्यकता नहीं। बल्कि अपने बारे में जो गलत धारणायें हैं, उन्हें सोचना छोड़कर, अपने कर्मों को निष्ठा और निपुणता के साथ यथास्थान करना है।

आज भारतवर्ष की भी कुछ ऐसी अवस्था है जो गीताकाल में थी और आवश्यकता है कि हम गीता के संदेश को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करें।



विषाद-योग का प्रथम अंग

महाभारत के युद्ध क्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण ने गीता कही और केवल अर्जुन ने सुनी, यद्यपि वहाँ अठारह अक्षौहिणी सेना की उपस्थिति बतायी जाती है। यह गुरु-शिष्य संवाद के रूप में है। इसीलिए गीता को उपनिषद् कहा गया है। इसमें योग की विभिन्न पद्धतियों का वर्णन है। इसलिए यह योगशास्त्र है। और चूँकि इसमें योग के माध्यम से मानव जीवन के परम लक्ष्य, ब्रह्म को जानने के उपाय बताये गये हैं, इसलिए ब्रह्मविद्या है।

गीता का प्रारम्भ अर्जुन के विषादयोग से होता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार जब चित्त एकाग्र होने लगे तो योग का प्रारम्भ होता है, पर गीता के अनुसार योग का प्रारम्भ विषाद से होता है। मानव जीवन में जब विषाद का उदय होता है और वह उससे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है, तो उसी समय से योग का प्रारम्भ होता है। योग का अन्तिम लक्ष्य भी तो है विषाद से मुक्ति।

विषाद सब के जीवन में होता है। इससे कोई बचा नहीं है। यह चाहे प्रत्यक्ष रूप में हो या अप्रत्यक्ष रूप में। जब मानव मन अविद्या और मोह से भयभीत हो जाता है तब विषाद का उदय होता है।

विषाद मानव जीवन की न तो क्षणिक और न दैनिक घटना है। यह उसे अपनी पशु योनि से मिला है। यह जन्म-जन्म के संस्कारों का गट्ठर है। यह इतना सूक्ष्म है और इतनी तह में पड़ा है कि इसे भौतिक आँखों से देखा नहीं जा सकता। विषाद की छाप मनुष्य के आचार-विचार एवं दैनिक कार्यकलापों पर पड़ती है। यही विषाद अविद्या है, बन्धन है। जिस दिन यह छूट जाएगा, उसी दिन मुक्ति मिल जाएगी। मोक्ष हो जाएगा। इसकी प्राप्ति के लिये आत्म-ज्ञान आवश्यक है।

मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ तो उसका मन ही है। मन कोई बुरी चीज नहीं। यह उसकी प्रगति में साधक है, बाधक नहीं। यह बड़ा शक्तिशाली और उपयोगी यंत्र है। यह मित्र भी है और शत्रु भी। जब तक यह मनुष्य के कब्जे में रहता है, तब तक मित्र रहता है। और जब आदमी उसके कब्जे में चला जाता है तो यही मन उसका शत्रु बन जाता है।

मन को अपने अधिकार में रखने के लिये उसे धीरे-धीरे एकाग्र करना पड़ेगा। एकाग्र मन से ही आत्मा का अनुसंधान सम्भव है। जब मन एकाग्र हो जाता है तब आदमी की प्रतिभा जागती है। इसके लिये साधक को श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय होना आवश्यक है।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के विषाद को दूर नहीं किया था, बल्कि उन्होंने तो उसकी केवल प्राथमिक चिकित्सा की थी। उसे सांख्य का उपदेश दिया था। सांख्य से यहाँ तात्पर्य किसी वस्तु को अच्छी तरह जानने से है। शास्त्रों में चित्त की जो पाँच गतियाँ बतायी गयी हैं, वे क्रमश: मूढ़ावस्था, क्षिप्तावस्था, विक्षिप्तावस्था, एकाग्रतावस्था और निरोधावस्था हैं। यहाँ भी हम देखते हैं कि प्रारम्भ मूढ़ावस्था से ही होता है।

विषाद की अवस्था में मनुष्य उन्हीं बातों की चिन्ता करता है, जिसकी चिन्ता उसे नहीं करनी चाहिये। विषादरहित व्यक्ति बीती बातों की चिन्ता नहीं करता और न ही वह भविष्य में घटित होने वाली बातों से घबड़ाता है। वह तो भविष्य की ठोस योजना बनाता है और अनासक्त भाव से उसके अनुसार कर्म करता है।

विषादग्रस्त व्यक्ति को नास्तिक भी कहा गया है। नास्तिक व्यक्ति वह है जो भविष्य से परेशान है, वर्तमान से असन्तुष्ट है और भूतकाल से क्षुब्ध है।

मनुष्य एक शिल्पकार है, और उसकी जीवात्मा एक अनगढ़ पत्थर। वह अपनी साधनाओं द्वारा उस पत्थर को तराश कर एक सुन्दर प्रतिमा का निर्माण करता है, जिसका नाम मोक्ष है।



कर्म ही जीवन का प्रधान तत्त्व

गीता का मुख्य विषय योग एवं ब्रह्मविद्या है। लेकिन साथ ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इस विद्या का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ही क्यों दिया और वह भी कुरुक्षेत्र के समरस्थल में। इसका उपदेश तो किसी त्यागी या वृद्ध व्यक्ति को देना चाहिए था जो संसार को त्याग चुका होता या उसके बंधनों से मुक्त होना चाहता था। ठीक इसके विपरीत अर्जुन एक सांसारिक व्यक्ति है, कुरुक्षेत्र के मैदान में सेनापति के रूप में मुकुट धारण किये उपस्थित है। अर्जुन ने अब तक लड़ाई जीती नहीं, उसे तो लड़ाई लड़नी है।

योग का सम्बन्ध त्याग या कर्म-पराङ्मुखता से नहीं, बल्कि कर्मठता एवं कर्त्तव्य-परायणता से है। यह मन को शक्तिशाली बना कर मानव-जीवन को उपयोगी एवं कर्मनिष्ठ बनाता है।

प्रत्येक कर्म करने वाले व्यक्ति को कर्म बाँधता ही है। कर्म करते-करते कर्म का आघात लगता ही है। आघात कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए श्रम के आघात को ही लें। इससे शरीर थक जाता है। फिर रोग का आघात लगता है। वैसे ही जीवन की असफलताओं का भी आघात लगता है। इन आघातों के कारण मनुष्य को जीवन का सही आनन्द नहीं मिल पाता। सुख एवं आनन्द समझ में ही नहीं आता। यदि मानव-जीवन से आघातों को निकाल दिया जाए, उसके प्रभाव को समाप्त कर दिया जाए तो जीवन आनन्दमय हो जाएगा।

यहाँ आघात से केवल दु:ख का ही आघात नहीं समझना चाहिए, सुख का भी आघात होता है। जो कर्म करेगा उसे आघात लगेगा ही और मनुष्य कर्म किये बिना रह भी नहीं सकता। यह मन की प्रवृत्ति है। उसकी प्रकृति उसे कर्म करने को विवश कर देती है। मन कभी बैठ नहीं सकता। जो साधु

एकान्त में बैठकर आध्यात्मिक साधना करता है, वह भी कर्म करता है। साधना भी कर्म है। यदि कोई मिथ्याचारी प्रत्यक्ष रूप से कर्म नहीं करता है तो इससे क्या! उसका मन तो अप्रत्यक्ष रूप से लगातार कर्म करता रहता है। लेकिन कर्म करना कोई पाप नहीं है। कर्म पर लोगों ने नाहक पाप थोप दिया है। कर्म तो करना ही चाहिये, केवल उसके आघात से बचना चाहिए, उसे दूर करना चाहिए।

गीता योगशास्त्र का विषय है – सिद्धि, मोक्ष या समाधि का नहीं। यह उपदेश देती है आघात-रहित जीवन का। यदि मनुष्य आसक्तियों को छोड़कर कर्म करे और सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय में अपने मनोभावों को संतुलित रखे, तो वह दु:खी नहीं हो सकता। योग की इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साधक को कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए। भक्ति-मार्ग या ज्ञान-मार्ग के पथिक को यदि यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तो वह कोल्हू के बैल की तरह सम्पूर्ण जीवन बिताने के बाद भी जब रुककर आँखें खोलता है तो अपने को वहीं पाता है, जहाँ से उसने अपनी साधना प्रारम्भ की थी। वह चाहे जब तक साधना करे, जीवन का बंधन नहीं खुलता, योग की अवस्था प्राप्त नहीं होती।

लेकिन प्रत्येक योगाभ्यासी को साधना प्रारम्भ करने के पूर्व सोचना चाहिए कि योग की उसे क्यों आवश्यकता पड़ी। अपने गंतव्य स्थान की कल्पना किये बिना साधना के पथ का पथिक आध्यात्मिक दिग्भ्रान्त बन कर रह जाता है। योग सिद्धि, मोक्ष या निर्वाण के लिए नहीं, बल्कि यह मानसिक व्यायाम है। मन जब मजबूत होता है तो उस पर कर्म का आघात नहीं पड़ता। आघातों से बचने के लिये मनुष्य को अपने जीवन को हर परिस्थिति के अनुकूल बनाना चाहिए। जीवन सादा एवं गरीब की तरह बिताना चाहिए। परिस्थितियों के अनुकूल जीवन को ढालने के लिये तैयार रहना चाहिए। इसी सिलसिले में हठ-योग, राज-योग या ज्ञान-योग की बात आती है।

मानव-जीवन का मुख्य तत्त्व कर्म है। अष्टांग योग मिश्रण है। भक्ति-योग, ज्ञान-योग और राज-योग के अभ्यास से मनुष्य में आघातों को बर्दाश्त करने की क्षमता आती है। इससे पूर्वार्जित अनन्त संस्कारों का क्षय भी होता है और नये संस्कार बनते भी नहीं हैं। इसलिए कर्म ऐसा करें कि पूर्व संस्कारों का क्षय तो हो, पर नये संस्कार बनें नहीं।

भक्ति-योग भगवान में आस्था उत्पन्न कर मनुष्य में निश्चिन्तता, निर्भीकता उत्पन्न करता है; राज-योग त्याग एवं एकाग्रता उत्पन्न करता है एवं ज्ञान-योग बुद्धि प्रदान करता है। कर्म-कुशलता कर्म-योगी व्यक्ति को आघातों से बचाने की क्षमता प्राप्त करने में मदद करती है।

मनुष्य की निष्ठा दो प्रकार की होती है। एक तो प्रवृत्ति मार्ग की, जो अधिकतर संसारी गृहस्थों में पायी जाती है और दूसरी निवृत्ति मार्ग की, जो संन्यासियों में देखने में आती है। ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न आश्रमों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि जीवन की दो व्यावहारिक दृष्टि-भंगिमाएँ मात्र हैं।

ज्ञान-योगियों को जो ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है, वही कर्म-योगियों को कर्म के द्वारा मिलता है। कर्म-त्याग से समाधि नहीं मिलती।

प्रवृत्ति-मार्ग कर्म का मार्ग है और निवृत्ति-मार्ग कर्म की आसक्ति के त्याग का। एक पिपीलिका मार्ग है, दूसरा विहंगम। जिस लक्ष्य को कर्म-योगी चींटी की तरह धीरे-धीरे प्राप्त करता हे, उसी लक्ष्य को त्यागी निवृत्ति मार्ग द्वारा पक्षी की तरह उड़कर प्राप्त करता है।

कर्म करते-करते मनुष्य के जीवन में सद्‌गुणों का संचय होता है तथा दु:ख के आघातों को सहन करने की क्षमता आती है। अत: कर्ममार्ग ही श्रेष्ठ एवं निरापद है। यह सब को प्राप्त भी है। कर्म का त्याग कठिन है और यदि कोई करे भी तो उसे उसका अभिमान नहीं करना चाहिए। भाव ग्रंथियों के प्रत्येक आयाम का परित्याग ही सच्चा त्याग है।

शरीर और प्राण से मोह न हो और त्याग का अभिमान भी न हो। त्याग महान् है, लेकिन सब को प्राप्त नहीं है। कर्म सर्वसुलभ है। कर्म करते-करते शान्ति प्राप्त होती है। आघातों से बचने की क्षमता भी उत्पन्न होती है और आनन्द भी मिलता है। लेकिन इसके लिये साधना करनी पड़ती है। इसके लिये मन को उचित शिक्षा की आवश्यकता है। इसी शिक्षा एवं उपाय का नाम योग है। जो योगी होता है वही आत्मज्ञ होता है। वह निर्भय हो जाता है। भय तो एक मानसिक स्थिति है, ग्रंथि है। योग की यह स्थिति गृहस्थों को भी प्राप्त होती है।

अब प्रश्न उठता है, क्या मनुष्य इच्छारहित बन सकता है? बौद्धों का मत है कि इच्छा से ही दु:ख की उत्पत्ति होती है। लेकिन गीता कहती है कि इच्छा कर सकते हो। जिस प्रकार अनेक नदियाँ समुद्र में आकर गिरती हैं, लेकिन

समुद्र अपनी मर्यादा को कभी भंग नहीं करता, उसी प्रकार कामनाएँ उठ सकती हैं, पर उसका असर योगी पर नहीं पड़ता; उसी प्रकार जैसे मजबूत देह वाला मौसम के प्रभाव को आसानी से बर्दाश्त कर लेता है। जो कामनाओं को पी जाता है, वही योगी है। संसार में कर्मयोगी इच्छाओं के बीच आघातरहित बन कर रहता है। योगी कामनाएँ करता है, उसके अनुकूल कर्म भी करता है और कर्मफल को हँसकर भोग भी लेता है। फल का असर उस पर नहीं होता। लेकिन भोगी फल के प्रभाव से प्रभावित होता है। मन के इसी स्वभाव को सुधारने के लिये उचित शिक्षा की आवश्यकता है। यह होता है हठ-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग और राज-योग के द्वारा।

शांति और आनन्द की प्राप्ति के लिये मनुष्य कर्म तो करें, परन्तु कर्मफल के आघात से अपने को बचायें। कर्म-मार्ग में रहकर कुशलतापूर्वक कर्म करते हुए कर्मों से उत्पन्न होने वाले आघातों से उसे बचना है।

अब प्रश्न उठता है, यह हो कैसे? इसके क्या उपाय हैं? इसका उत्तर हमें गीता देती है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को योग में स्थिर रहकर कर्म करने का उपदेश देते हैं। जो योग में स्थिर रहकर कर्म करता है, वह बंधन में नहीं बंधता। वह बंधनमुक्त हो जाता है। ठीक इसके विपरीत भोगी कर्मफल के बंधनों से बंधा रहता है। योगी का मन मजबूत होता है, भोगी का कमजोर। योग से मोक्ष की प्राप्ति होती है और भोग से रोग की।



गीता का कर्मयोग और चित्त की एकाग्रता

अब पुन: प्रश्न उठता है कि योग आखिर कहते किसे हैं? क्या कर्म त्याग को, गृह त्याग को, जटा बढ़ाकर साधु बनने को या हठयोग की क्रियाओं को करने का नाम योग है? इसकी परिभाषा क्या है? आजकल तो जो व्यक्ति जमीन के अन्दर जड़ समाधि लेता है, तेजाब पीता है, हठ-योग की कठिन क्रियाओं को करता है या भविष्य बताता है उसे ही योगी समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति में साधारण व्यक्ति को तो लगेगा कि योग की कोई एक परिभाषा है ही नहीं। लेकिन यह भ्रम है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण की वह वाणी, 'अर्जुन! योग में स्थिर रहकर कर्म करो', हमें वास्तविक परिभाषा की ओर इंगित करती है।

जिस प्रकार दिन भर शारीरिक श्रम करने वाला मजदूर रात्रिकाल में आराम करता है और शरीर को पुन: कार्य करने योग्य बनाता है, उसी प्रकार मनुष्य का मन भी थकता है। शरीर की ही तरह उसके भी उपचार की आवश्यकता होती है। यदि मन में अनावश्यक अधिक विचार आएँ या वह विचारशून्य हो जाए, तो दोनों ही अवस्थाओं में उसका बुरा हाल होता है। शरीर के ही जैसा मन का भी नियम है। जिस तरह अनियमित जीवन से मनुष्य का शरीर बीमार पड़ जाता है, ठीक उसी तरह अनावश्यक बातों को मन में स्थान देने से वह बीमार और कमजोर पड़ जाता है। उसे निरोग रखने के लिए स्वस्थ आदतों एवं स्वस्थ विचारों को ही प्रश्रय देना चाहिए।

योग में स्थिर रहकर कर्म करना चाहिये। इसके कुछ दिन के लगातार अभ्यास से मनुष्य का मन स्थिर हो जाता है, उसमें शक्ति आने लगती है।

हठ-योग के सिवा इसके और भी कई अंग हैं, जिनका अभ्यास आवश्यक है। वे हैं भक्ति-योग, राज-योग एवं ज्ञान-योग। कोई भी कर्मयोगी बिना इन सब का सहारा लिए, सही मायने में कर्मयोगी नहीं बन सकता। कर्मयोगी केवल बाहर ही कर्म नहीं करता, बल्कि घर में भी अपना नियमित कार्य करता है और साथ-ही-साथ भक्ति-योग, राज-योग और ज्ञान-योग का भी अभ्यास करता है।

कर्म-मार्गी और कर्म-योगी में अन्तर है। साधारण लोग जनता की नि:स्वार्थ सेवा को ही कर्म-योग की संज्ञा दे बैठते हैं। कोई व्यक्ति यदि निष्काम भाव से किसी की सेवा करता है तो लोग उस कार्य को भी कर्म-योग कह बैठते हैं। लेकिन ऐसा करने से कोई जरूरी नहीं कि वैसे नि:स्वार्थ सेवक का मन भी मजबूत हो। उसके मन पर भी सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय का प्रभाव पड़ सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति अपने दैनिक कार्यों को कुशलतापूर्वक करते हुए भक्ति-योग, राज-योग एवं ज्ञान-योग का अभ्यास करता है, उसके मन पर आघातों का प्रभाव नहीं पड़ता। अनासक्ति कर्ममार्गी को कर्मयोगी बनाती है। अनासक्ति से तात्पर्य यहाँ कर्म से अनासक्ति नहीं और न कर्मफल से। वस्तुत: कर्मफल की आशा से विरति ही सच्ची अनासक्ति है।

कुछ लोग अनावश्यक रूप से सोचते हैं कि योग का अभ्यास कम उम्र वालों को नहीं करना चाहिये। जब मनुष्य बूढ़ा हो जाए, घर-गृहस्थी से फुर्सत मिल जाए, तब इसका अभ्यास करना चाहिये। किन्तु यदि आप इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह तर्कहीन मालूम पड़ेगा। दवाई की आवश्यकता आखिर रोगी को पड़ती है न? योग का अभ्यास तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए है। वयस्क व्यक्ति तो अनुभवी होते हैं, उनकी विचार-शक्ति प्रबल हो जाती है। लेकिन जवान व्यक्ति अधिकतर अनुशासनहीन होता है। ऐसी स्थिति में योग की आवश्यकता तो उसे ही अधिक है। योग आज मनुष्य मात्र की आवश्यकता है।

लोग समझते हैं कि योग की आवश्यकता मोक्ष, समाधि या निर्वाण के लिए ही है। पर ऐसी बात नहीं। मनुष्य अपने दैनिक कार्यों को कुशलता एवं निपुणतापूर्वक करने के लिए योग की मदद ले सकता है। जो योग में सिद्ध होने लगता है, उसका आत्मबल मजबूत हो जाता है। उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता। वह जो कार्य करता है, ठीक ढंग से होता है।

कभी-कभी ऐसी भी शिकायतें सुनने में आती हैं कि कोई योग का अभ्यास करता है, ध्यान करता है फिर भी उसका मन कमजोर है, सिर भारी रहता है, शरीर बोझ जैसा मालूम पड़ता है, मस्तिष्क पर तनाव रहता है। यदि योगाभ्यासी की स्मरण-शक्ति या धारणा-शक्ति कमजोर हो रही है अथवा मन पर छोटी-छोटी बातों का प्रभाव लगातार पड़ रहा है तो समझना चाहिए कि योग का अभ्यास ठीक ढंग से नहीं हो रहा है। भगवान का स्मरण ठीक ढंग से करने से दु:ख दूर होते हैं। इसका अभ्यास जबरदस्ती नहीं किया जाता। ध्यान में चित्त को हल्का करने की कोशिश करनी चाहिए।

मनुष्य अपना दैनिक कार्य करते हुए भी योग की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। योगाभ्यास के लिए कार्यों का त्याग आवश्यक नहीं। यदि कोई सिर्फ सुबह दो घण्टे और रात्रि को एक घण्टा योग का अभ्यास करे तो उस पर कर्म के क्लेशों का असर नहीं पड़ेगा। इसमें चित्त को एकाग्र अर्थात् एक जगह स्थिर करना आवश्यक है। यह सब के लिए अधिक देर सम्भव नहीं है, यदि आप केवल पाँच मिनटों तक चित्त को एकाग्र कर सकें तो समझें कि आपने बड़ी शक्ति पा ली है। यदि पाँच मिनट चित्त एकाग्र हो जाए तो तीन घण्टों में नींद की कमी पूरी हो सकती है। लेकिन यह सब तब सम्भव है, जब इसका रोज अभ्यास किया जाए। रात को सोते समय और सुबह जगने पर इसका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से स्फूर्ति आती है।

तन्त्र-शास्त्र में एक प्रकरण आया है, जिसमें भगवती पार्वती ने भगवान शंकर से चित्त को एकाग्र करने की विधि पूछी है। तब भगवान शंकर ने भगवती पार्वती को तन्त्र के विषय में बतलाया। तन्त्र क्या है? यह एक तरीका है, विधि है। भगवान शंकर ने चित्त को एक जगह स्थिर करने को ही योग कहा है। उन्होंने पार्वती जी को इसकी एक लाख पच्चीस हजार विधियाँ बतायी हैं। इसी को तन्त्र कहते हैं। हम लोग इसे आज राज-योग के नाम से पुकारते हैं।

चित्त क्या है? आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने चित्त को Psyche के नाम से पुकारा है। उनके अनुसार इसके तीन स्तर होते हैं – चेतन, अवचेतन, और अचेतन; Conscious, Subconscious और Unconscious। ये चेतना के तीन स्तर या धरातल हैं। वेदान्त में चेतना के चार स्तर माने गये हैं। वे हैं – जाग्रत Conscious, स्वप्न Subconscious, सुषुप्ति Unconscious और चौथी अवस्था है तुरीय या समाधि की। इसी चौथी अवस्था के बारे में कहा गया है 'संतों मैंने चौथा पद पाया'।

जाग्रत अवस्था उसे कहते हैं जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार, कुल 19 तत्त्व जीवात्मा के साथ कार्य करते हैं। स्वप्न वह अवस्था है जिसमें उपरोक्त सभी भाग क्रियावान नहीं रहते, केवल उनके संस्कार ही कार्य करते हैं। सुषुप्ति में न तो इन्द्रियाँ काम करती हैं, न ही उनके अनुभव। केवल एक आनन्द का अनुभव रहता है। सुख या दु:ख, किसी का अनुभव नहीं रहता। इसमें चेतना लय अवस्था को प्राप्त होती है। लेकिन उस अवस्था में भी चित्त चेतन रहता है। जब आदमी नींद से जगता है तो उससे पूछिए कि उसने कैसा अनुभव किया, तो कहेगा कि आनन्द का। तो फिर प्रश्न उठता है कि वैसी अवस्था में जब उसकी सब इन्द्रियाँ सो रही थीं तो आनन्द का अनुभव कौन कर रहा था? अनुभव करने वाला कोई था तब तो। उसी को चित्त कहते हैं।

वेदान्त के अनुसार शरीर तीन प्रकार के हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। Theosophy में उसी को Material Body, Ethereal Body और Astral Body कहा गया है।

जिस चित्त को आप नियन्त्रण में लाना चाहते हैं, वह हमारे भीतर विचारों के रूप में, चेतना के रूप में वर्तमान है। जब वह नियन्त्रण में आ जाता है तब सुख-दु:ख आदि का अनुभव समाप्त हो जाता है। लेकिन ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि अनुभव करने वाला ही जब नियन्त्रण में है तो अनुभव करेगा कौन! इसे चित्त की एकाग्रता कहते हैं और ऐसे ही व्यक्ति को योगी कहते हैं।

उपनिषदों में कहा गया है कि जब हृदय की ग्रन्थियाँ दूर हो जाती हैं तब सारे संशय भी दूर हो जाते हैं। जो योग का अभ्यास करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसका अर्थ हुआ कि मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त कर लेता है।

उपनिषदों ने यह भी कहा है कि योगाभ्यासी को तीनों लोकों का ज्ञान होता है। मतलब यह कि उसे भू:, भुव: एवं स्व: के सूक्ष्म लोकों का ज्ञान हो जाता है। चेतना चारों आयामों में मालूम पड़ती है। योग का अभ्यास करने वाले को सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसे किसी वस्तु के लिए रोना नहीं पड़ता। योग जीवन का कल्याण करने वाला है। जो कोई व्यक्ति योग के इस कल्याणकारी मार्ग पर जायेगा, वह दुर्गति को प्राप्त नहीं होगा। योग कदापि व्यर्थ नहीं जाता। योगाभ्यासी चाहे जिस रूप में पुनर्जन्म ले, तो भी योग करता रहेगा। लोग चाहें या न चाहें, एक-न-एक दिन योग करना ही होगा। जब तक वृत्तियाँ अन्तर्मुख नहीं होतीं, तब तक शान्ति मिलने वाली नहीं।

वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। बहिर्मुखी वृत्ति देखती एवं सुनती है, लेकिन अन्तर्मुखी वृत्ति केवल अपने अन्दर ही अनुभव करती है। अन्तर्मुखी वृत्ति के बारे में ही कहा गया है कि 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना...।' अन्तर्मुखी वृत्ति से चैन मिलता है और बहिर्मुखी से तनाव। जब भी आप कार्य करते-करते थक जायें तो केवल दो मिनट अर्थात् बीस बार उज्जायी का अभ्यास करें, फिर काम में लग जाएँ। आपको चैन का अनुभव होगा। यह मनुष्य की कार्य-क्षमता को बढ़ाता है, इन्द्रिय-ग्राह्यता को दूर करता है, मानसिक भावयुक्त व्यक्तित्व को कम करता है।

योग का सामाजिक जीवन में व्यावहारिक प्रयोग एवं उपयोग है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लड़ाई के मैदान में जो गीता सुनाई, उसका यही प्रयोजन था। यह गीता उन्होंने न तो साधु-संन्यासियों को सुनाई और न ही धर्मराज युधिष्ठिर को।

योग का ज्ञान आवश्यक है ताकि हमारा कर्म उन्नत हो, चित्त एकाग्र हो, मन संतुलित हो, सम भावना हो और हम दुःख क प्रभाव से प्रभावित न हों। आघातों से बचने की क्षमता प्राप्त हो। जीवन में बहुमुखी प्रतिभा का विकास हो। सफलता मिले तथा जीवन कल्याणमय हो।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या मनुष्य कामनारहित हो जाए? गीता आदमी को कामनारहित होने के लिए भी नहीं कहती है। कर्मयोगी के लिए कामना बन्धन नहीं। बन्धन तो आसक्ति है, अविद्या है। आसक्ति अपने यश के प्रति हो, देह के प्रति हो, त्याग के प्रति हो, भगवद्भक्ति के प्रति हो या स्वयं ब्रह्म के प्रति हो, वह आसक्ति ही है और बन्धन का कारण भी। हथकड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, बांधने का काम एक-सा ही करेगी। अनासक्त भाव से कर्म करने वाला मनुष्य कर्म करते हुए भी अकर्त्ता रहता है। सुख-दुःख भोग कर भी अभोक्ता रहता है।



ध्यान और उसके विक्षेप

पिछले अध्याय में आघातों से बचने के उपायों की चर्चा की गयी है। यह भी कहा जा चुका है कि योग इसका एकमात्र उपादान है।

मन के ऊपर पड़ने वाले आघातों को योग-अभ्यास के द्वारा दूर किया जा सकता है। लेकिन यदि आघात मन की गहराइयों तक पहुँच चुका है, यदि मनुष्य इस अवस्था में है कि वह अपने बुद्धि-विवेक, सोचने तथा अनुसरण करने की क्षमता को खो चुका है तो वैसी अवस्था में योग उसका सहयोग नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, और वह योग अभ्यास करने में असमर्थ रहता है। यह दूसरी बात है कि किसी सिद्ध पुरुष का आशीर्वाद मिल जाए और उसका जीवन सफल हो जाए। लेकिन ऐसी बातें कम होती हैं, और ऐसे संत भी कम मिलते हैं।

यह सही है कि योग मनुष्य में भाव, बुद्धि एवं उत्तम ज्ञान को जन्म देता है, किन्तु इसकी भी एक सीमा है। जिसका जीवन अशान्त हो चुका है, और जो अपनी बुद्धि को खो चुका है, उसकी सहायता योग भी नहीं कर सकता। योगाभ्यास के लिये बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है। योग के विषय में अतिशयोक्तिपूर्ण बातें करना अच्छा नहीं।

योग का प्रमुख विषय ध्यान है। यह मुख्य तत्त्व भी है और मध्यम तत्त्व भी। प्रत्याहार और धारणा की क्रियायें भी ध्यान के भीतर ही आती हैं। लेकिन ध्यान करने के पहले आवश्यक है कि अपने पूर्व-संस्कारों का क्षय किया जाए। ध्यान के द्वारा स्वयं ही बुरे संस्कारों का क्षय होता है।

ध्यान में कई बातें सोचने की हैं। ध्यान करते समय जैसे-जैसे चित्त एकाग्र होता है, वैसे-वैसे अनेक विचार भी मानस-पटल पर उदित होते हैं। वे इस प्रकार आते हैं कि कभी-कभी तो ध्यान ही खत्म हो जाता है। ऐसी बातें,

जिनका जीवन में कोई स्थान नहीं, वे भी ध्यान की अवस्था में प्रकट होती हैं। तब ऐसी अवस्था में साधक घबड़ा जाता है। लेकिन इसमें घबड़ाने की कोई बात नहीं है। जिस तरह आदमी जब जुलाब लेता है तो पुराने और सड़े मल पेट से बाहर आते हैं। उनको निकलना ही चाहिये। ठीक उसी प्रकार ध्यान की अवस्था में भी जब चित्त एकाग्र होने लगता है तो अन्त:प्रक्षालन प्रारम्भ हो जाता है। पुराने दबे संस्कार बाहर आकर नष्ट होते हैं। उन्हें रोकना अच्छा नहीं। यदि उस समय मन भटकता है तो भटकने देना चाहिये। निरुत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है। घबड़ाना तो भोगी को चाहिए। यदि योगी का मन भटकता है तो यह बुरा लक्षण नहीं है।

ध्यान की क्रिया सीखने पर प्रारम्भ में तो बड़ा अच्छा ध्यान लगता है, किन्तु धीरे-धीरे वह अवस्था समाप्त हो जाती है और विचारों की उलझनें प्रारम्भ हो जाती हैं। ध्यान में जैसे ही चित्त की एकाग्रता प्रारम्भ होती है, मन एक चक्कर लगाकर वापस आ जाता है। मन के इसी भटकने की क्रिया को विक्षेप कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है, बहिरंग और अन्तरंग।

बहिरंग विक्षेप विचारों के माध्यम से चेतन अवस्था में आते हैं। और अन्तरंग, स्वप्नों या दृश्यों के रूप में चित्त की एकाग्र अवस्था में आते हैं। बहिरंग विक्षेप को विवेक के द्वारा जीता जा सकता है, लेकिन अन्तरंग विक्षेप को जीतना बहुत कठिन है। बहिरंग विक्षेप बहुत दूर तक साथ देते हैं, लेकिन इस पर नियंत्रण पाया जा सकता है। जैसे-जैसे सफलता मिलनी प्रारम्भ होती है, वैसे-वैसे बहिरंग विक्षेप समाप्त होने लगता है और अंतरंग प्रारम्भ हो जाता है।

बहिरंग विक्षेप ध्यान की जाग्रत अवस्था में आता है, इसलिये उसे विवेक के द्वारा जीता जा सकता है, लेकिन अंतरंग विक्षेप की अवस्था में विवेक काम नहीं करता। यही कारण है कि उसे जीतना कठिन हो जाता है। अंतरंग विक्षेप की अवस्था में बुद्धि, विवेक एवं चेतना, तीनों का लय हो जाता है। ध्यान की इन्हीं अवस्थाओं को वैतरणी कहा जाता है, जिसे मनुष्य को पार करना है।

ध्यान की अवस्था में एक प्रकार का और विक्षेप आता है, जिसे लय-विक्षेप कहते हैं। यह कम साधकों को प्राप्त होता है और इससे छुटकारा एक सिद्ध गुरु ही दिला सकता है। जब लय-विक्षेप हो तो साधक को शीघ्र गुरु की शरण में जाना चाहिये। ध्यान की इस अवस्था में, जिसे हम लय-विक्षेप कहते हैं, भीतर-बाहर कुछ पता नहीं चलता। हम यहाँ ध्यान की जिन अवस्थाओं की चर्चा कर रहे हैं, ये तीनों साधक के महान शत्रु हैं। इन्हें ही शास्त्रों में त्रिपुरासुर

राक्षस के नाम से पुकारा गया है और भगवान शंकर ने इसी का नाश किया था। विक्षेप बाधायें हैं। हम इन्हें तीन अन्य नामों से भी पुकार सकते हैं, वे हैं स्थूल विक्षेप, सूक्ष्म विक्षेप और कारण विक्षेप।

अंतरंग विक्षेप में भी चेतना का कुछ अंश बाकी रह जाता है, किन्तु लय-विक्षेप में तो कुछ पता नहीं रहता।

इन विक्षेपों को उत्पन्न करने में इन्द्रियों का बड़ा हाथ है, इनमें भी सबसे ज्यादा विक्षेप उत्पन्न करने वाला कान है। यह बहिरंग विक्षेप उत्पन्न करता है। इस बाधा को दूर करने के लिये संतों ने अनेक प्रयत्न किये और उपायस्वरूप नाद-योग मिला। इसमें प्रारम्भ में कान बन्द करना पड़ता है। एक दूसरा उपाय भी है। यदि कान बहिरंग विक्षेप उत्पन्न कर रहा हो तो ऐसी अवस्था में बाजे-गाजे का सहारा लेकर नाम-कीर्तन करना चाहिये। इस अवस्था में केवल अपनी ही आवाज सुनाई पड़ती है और एकाग्रता उत्पन्न होती है। दूसरी बाधक त्वचा होती है। यह भी एक ज्ञानेन्द्रिय है। मनुष्य शरीर की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, जो उसे रूप, रस, ध्वनि, गंध और स्पर्श का अनुभव कराती हैं, बहिरंग विक्षेप उत्पन्न करती हैं। त्वचा स्पर्श का ज्ञान कराती है। यह शरीर के अंगों को स्थिर नहीं रहने देती। बीच-बीच में नाहक खुजलाहट उत्पन्न कर चित्त को चंचल कर देती है।

अब मन की बारी आती है। इसकी चार प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। मन विचार उत्पन्न करता है। बुद्धि निर्णय कराती है, चित्त स्मरण करता है और अहंकार भेद-ज्ञान पैदा करता है।

साधना प्रारम्भ करते समय ध्यान साकार से प्रारम्भ करना चाहिये। निराकार चाहे कितना भी सच्चा हो और है भी, पर साकार का ध्यान अधिक सहायक होता है और उसे ही ग्रहण करना चाहिये।

मोक्ष प्राप्त करने के पहले पूर्व संस्कारों को निकालना आवश्यक है और वह होगा ध्यान से ही।

ध्यान में सबसे पहले शरीर का ज्ञान समाप्त होता है। इसके बाद मन का, फिर चित्त का और अन्त में संस्कारों का प्रभाव समाप्त होता है। इसी चौथे पर्दे के उठने के बाद आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है, परम शान्ति मिलती है और जीवन मुक्त हो जाता है।



चेतना के आधार

जब हम विक्षेप की चर्चा करते हैं तो एक प्रश्न सामने आता है कि विक्षेप आखिर है क्या और यह किसे नहीं होता।

जिन प्रत्याशित बातों का वर्त्तमान से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं, उनका ध्यान की अवस्था में प्रकट होना विक्षेप कहलाता है। यह ध्यान की अनिवार्य स्थिति है। विचार और विक्षेप में अन्तर है। विचार का वर्त्तमान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है।

जो साधक जीवन में राज-योग, भक्ति-योग और ज्ञान-योग को ही मुख्य मानकर चलता है, या जो केवल कर्म ही करता है, उन दोनों को अधिक विक्षेप होते हैं। लेकिन जो योगाभ्यास के साथ-साथ कर्म भी करता है, उसे विक्षेप से शीघ्र मुक्ति मिल जाती है। राज-योग, भक्ति-योग या ज्ञान-योग स्वयं योग की पूर्णता नहीं है। पहले कर्म करना चाहिए उसके बाद भक्ति, ज्ञान तथा राज-योग। जो जितना अधिक कर्म करेगा, योग की सिद्धि उसे उतनी ही शीघ्र होगी।

हमेशा भक्ति या राज-योग का अभ्यास विक्षेप का कारण होता है। विक्षेपपूर्ण मस्तिष्क भद्दा हो जाता है। जिस व्यक्ति को भक्ति, ज्ञान-योग या राज-योग के अभ्यास का अवसर नहीं मिलता, उसे भी सिद्धि मिल सकती है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इसी सिलसिले में कहा था, *'स्वे स्वे कर्मणि अभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।'*

मेहनत करने वाले को, कर्म करने वाले को ध्यान में सिद्धि केवल चिन्तन करने वाले की अपेक्षा अधिक आसानी से प्राप्त होती है। लेकिन यदि शरीर अधिक थका हो या सोकर उठा हो तो तुरंत ध्यान नहीं करना चाहिये। वैसी अवस्था में ध्यान ठीक नहीं लगता है। कर्म ध्यान की महिमा को बढ़ा देता है।


ॐ
धर्मक्षेत्रे =
कुरुक्षेत्रे =
समवेता =
युयुत्सवः =
मामकाः पाण्डवाश्चै
किमकुर्वत संजय
Ki-me-Kur-wate











ध्यान कर्मरत गृहस्थों के जीवन में ज्यादा सफलतापूर्वक उतरता है। ठीक इसके विपरीत गैर-जवाबदेह साधुगण इससे वंचित रह जाते हैं। ध्यान की आवश्यकता भी गृहस्थों को ठीक उसी प्रकार अधिक है, जैसे भूखे को भोजन और प्यासे को जल की। यहाँ साधु शब्द से उन थोड़े-से महापुरुषों या महात्माओं को नहीं समझना चाहिये जिन्हें आत्म-दर्शन हो चुका है। ध्यान की चरम सफलता के लिए साधक को कई भूमिकाओं और प्रक्रियाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हें ही योग में प्रत्याहार की क्रिया कहा जाता है। इन्द्रियों को विषयों की आसक्ति से वापस लाना ही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार के लिये प्राणायाम सर्वोत्तम उपादान कहा जा सकता है। लेकिन यह सब के लिये समान रूप से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। जो रात को अधिक देर तक जगते हैं, मद्यपान करते हैं या जिनका जीवन अनियमित या अनियंत्रित है, वे इसके अधिकारी नहीं कहे जा सकते।

प्रत्याहार का दूसरा उपाय मूर्ति पूजा है। उपनिषदों में इसे मूर्ति पूजा या साकार तथा निराकार के रूप में नहीं लिया गया है। ध्यान के तीन लक्ष्य कहे गये हैं – स्थूल, मध्यम तथा सूक्ष्म। चित्त को एकाग्र करने के लिये साधक को बारी-बारी से एक लक्ष्य को अपनाना चाहिये। मूर्ति पूजा, गुरु के शरीर का ध्यान या अपने ही चेहरे का ध्यान स्थूल लक्ष्य है। त्राटक, बिन्दु साधन, सुषुम्ना में प्राण चढ़ाना, चक्रों के सूक्ष्म स्वरूप पर मन में ध्यान, आदि मध्यम लक्ष्य है। स्थूल को लक्ष्य बनाकर उसके स्वरूप का केवल मन में चिन्तन करना भी मध्यम लक्ष्य है।

स्थूल लक्ष्य को इन्द्रियों से देखा जा सकता है, मध्यम को नहीं। स्थूल को बहिरंग पूजा कहा गया है। मध्यम लक्ष्य के लिए गुरु द्वारा मार्गदर्शन आवश्यक है। बिना गुरु के भी इसकी साधना की जा सकती है, कोई खतरा नहीं। किन्तु बीच-बीच में संशय उत्पन्न हो जाते हैं, गुरु उनका निवारण करता है।

सूक्ष्म लक्ष्य उच्च कोटि का है और यह वैसे ही लोगों के लिये है भी। उदाहरणस्वरूप कोई यह चिन्तन करे कि मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ तो यह सूक्ष्म होगा। विचारों पर ध्यान करना सूक्ष्म ध्यान है। यह जितना ही उत्तम है, उतना ही कठिन।

जिसका स्थूल ध्यान सध जाता है, उसी को मध्यम की प्राप्ति होती है और जिसका मध्यम सिद्ध हो जाता है, वही सूक्ष्म में प्रवेश करता है। यह प्रगति स्वयं धीरे-धीरे होती है। इसके लिये कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

विक्षेपों को दूर करने के लिये यह भी आवश्यक है कि लक्ष्य का पूर्व निर्धारण किया जाय।

स्थूल के जिस स्वरूप का ध्यान किया जाय, उसका अनुभव होना चाहिये। जब यह सधने लगता है तब साक्षात्कार के रूप में प्रकट होता है। जब तक ध्यान में स्थूल स्वरूप चैतन्य न हो जाय, तब तक आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं है। स्थूल के साथ-साथ मध्यम का भी ध्यान किया जा सकता है, पर आधार स्थूल का ही रहना चाहिये। स्थूल का त्याग करने से ही विक्षेप उत्पन्न होता है।

मध्यम या सूक्ष्म ध्यान में यदि विक्षेप उत्पन्न हो जाता है तो पता भी नहीं चलता कि साधक निद्रा में है या समाधि में। लेकिन जब साधक स्थूल का ध्यान करता है और वैसी अवस्था में विक्षेप होता है तो एकाएक स्थूल स्वरूप गायब हो जाता है और साधक को पता चल जाता है कि विक्षेप हो रहा है। वह चेत जाता है कि विक्षेप हो रहा है और तब उसका निराकरण करता है।

यही कारण है कि संतों ने सब कुछ मानते हुए भी स्थूल का त्याग नहीं किया।

ध्यान पथ सुरंग के जैसा अन्धकारमय है। दिन में पथिक सूर्य के प्रकाश के सहारे चलता है। सूर्यास्त होने पर चन्द्रमा के प्रकाश के सहारे। जब यह भी अस्त हो जाता है तो नक्षत्रों के प्रकाश का सहारा मिलता है और इसकी समाप्ति पर आत्मा का प्रकाश सहायक होता है। ध्यान की भी यही अवस्था है। इन्द्रियाँ सूर्य हैं, मन चन्द्रमा, संस्कार नक्षत्र और इन सबके पार आत्मा का प्रकाश ही चरम प्रकाश है।



स्थूल लक्ष्य और उसका साधन त्राटक

स्थूल लक्ष्य को अच्छी तरह से ग्रहण करने से साधक को चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। लेकिन प्रश्न उठ सकता है कि इसे किन तरीकों से ग्रहण किया जाय? योगशास्त्र में इसके लिये एक क्रिया वर्णित है, जिसे त्राटक कहा जाता है।

किसी भी वस्तु को एकाग्र भाव से लगातार देखने की क्रिया को त्राटक कहा जाता है। जब किसी वस्तु पर त्राटक किया जाता है तो उसकी छाप मानस पटल पर पड़ती है।

त्राटक के अभ्यास दो प्रकार के होते हैं, स्थूल त्राटक तथा सूक्ष्म त्राटक। पहले को त्राटक तथा दूसरे को दृष्टि-साधन कहा जाता है।

जब किसी वस्तु पर एकाग्र भाव से त्राटक किया जाता है और उसका प्रभाव मन पर पड़ता है तो उसे त्राटक कहते हैं। लेकिन जब आँखें बन्द रहती हैं और केवल वस्तु के स्वरूप को अन्दर देखा जाता है तो उसे दृष्टि-साधन कहा जाता है।

आँखें भी दो प्रकार की होती हैं, एक चर्म-चक्षु जिसे हम सब देखते हैं और दूसरी अन्तर्दृष्टि। अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही हम बंद आँखों से किसी वस्तु की झाँकी को देखते हैं। इस अन्तर्दृष्टि को तीसरी आँख भी कहते हैं। यह कपाल के अन्दर कपाल की हड्डी से आधा या पौने इंच दूर भ्रू-मध्य में स्थित है। दृष्टि-साधन से यह जाग्रत होती है। बाह्य नेत्र बन्द करने से अन्दर की आँखें खुलती हैं। जिसकी भीतरी आँख जगती है, वह आत्म-संप्रेषण भी कर सकता है।

त्राटक के द्वारा साधक की अन्तर्दृष्टि जागती है।

किसी स्थूल पदार्थ को लें। अच्छा हो कि शिवलिंग को ही माध्यम बनाया जाय। उसे धीरे-धीरे निर्निमेष नेत्रों से देखें। इसका समय धीरे-धीरे बढ़ाना

चाहिए। फिर आँखें बंद करके उसी वस्तु को अन्दर में देखने का प्रयास करें। ऐसा करने से अन्तर्दृष्टि में चेष्टा होने लगती है।

कुछ लोग खुली आँखों से त्राटक करते हैं। धीरे-धीरे वे अन्तर्मुख हो जाते हैं और आँखें खुली रहने पर भी बाह्य पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। वे अपने अन्दर ही उक्त वस्तु को देखते हैं। ऐसा करने से भी उनकी अन्तर्दृष्टि जाग्रत हो जाती है।

त्राटक अधिक देर लगातार नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से आँखों की ज्योति खराब हो सकती है।

त्राटक किसी काली वस्तु पर या चित्र पर भी किया जाता है। त्राटक में पहले स्थूल पदार्थ को ही देखा जाता हे। उसके बाद उसके ज्योति रूप को और तब धूम्र रूप को।

जिन्हें भक्ति में विश्वास है, वे शिवलिंग या स्फटिक लिंग पर त्राटक करते हैं, पर जो भक्त नहीं हैं वे किसी काले बिन्दु पर भी त्राटक कर सकते हैं।

त्राटक के साथ ध्यान और ध्यान के साथ जप भी चलना चाहिए। इसे जप सहित ध्यान कहते हैं। ऐसा करने से मन लगातार वश में रहता है।

त्राटक साधारणत: 30-45 मिनटों तक किया जा सकता है।

प्रत्येक वस्तु पर त्राटक करने के नियम भी अलग-अलग हैं।

स्थूल शिवलिंग पर त्राटक करते समय तब तक एकाग्र भाव से देखने की चेष्टा करनी चाहिए, जब तक कि शिवलिंग के चारों ओर एक ज्योति की रेखा न प्रकट हो जाय। ऐसा होने पर आँखें बन्द करके पुन: उसी दृश्य को अपने अन्दर देखने का प्रयास करना चाहिये। कुछ देर के बाद वह चित्र लुप्त हो जाएगा। पुन: आँखें खोलकर त्राटक करना चाहिये और फिर आँखें बन्द करके। उसी तरह जो बिन्दु पर त्राटक करते हैं, उन्हें अन्दर एक श्वेत बिन्दु नजर आयेगा और जो ज्योति पर त्राटक करते हैं, उन्हें एक चमकता तारा दिखाई देगा।

स्फटिक पर त्राटक करने से एक और विचित्र अनुभव होता है। कभी-कभी तो पूर्व-संस्कार या पूर्व-जन्म की बातें चित्रपट की तरह दृष्टिगोचर होने लगती हैं। लेकिन यह इतना सरल नहीं है।

त्राटक का उपयोग सम्मोहन के लिये भी किया जाता है। वह चाहे किसी अस्वस्थ व्यक्ति पर उसकी चिकित्सा के रूप में किया जाय या स्वयं अपने ऊपर। सम्मोहन के द्वारा रोगी के विचारों पर प्रभाव डालकर उसके मस्तिष्क में

अच्छे गुणों का, इच्छा शक्ति का या अन्य उपयुक्त विचारों का प्रवेश कराया जाता है।

आत्म-सम्मोहन के लिये प्रयोक्ता स्वयं चित् लेट जाता है तथा हाथ-पाँव अलग-अलग रख कर शरीर को ढीला कर देता है। फिर अपनी आती-जाती श्वासों पर द्रष्टा की तरह ध्यान करता है। ऐसा करने से वह सम्मोहित हो जाता है।

त्राटक योग का एक उत्तम साधन है। इसे आस्तिक या नास्तिक सभी समान रूप से कर सकते हैं। उन दोनों को एक ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी। रुचि के अनुसार माध्यम चुनना चाहिए।

मुख्य तौर पर त्राटक के सात भेद हैं। वे क्रमश: इस तरह हैं –

उन्मनि मुद्रा – आसन में बैठकर साधक आँखों को उन्मनि अवस्था में कर लेता है, जिसमें आँखें न अधिक खुली और न बन्द ही रहती हैं। उसी अवस्था में वह सामने रखे पदार्थ पर त्राटक करता है, ध्यान करता है।

अगोचरी – इसमें आँखें खुली रहती हैं और साधक अपने नासिकाग्र से चार अंगुल आगे देखकर त्राटक करता है। सुविधा के लिए लोग धागे में बाँध कर कोई पदार्थ लटका देते हैं और उसी पर त्राटक करते हैं। इसके लिए सामने की दीवाल सफेद होनी चाहिए और यह किसी भी समय किया जा सकता है, लेकिन अच्छा हो कि इसका अभ्यास खुले में नहीं किया जाय। धीरे-धीरे उस लटकती वस्तु को हटा लिया जाता है पर ध्यान ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

नासिकाग्र – वज्रासन में बैठकर नासिका के अग्र भाग पर त्राटक करना।

शाम्भवी – भ्रू-मध्य में आँखें खोलकर ध्यान किया जाता है या यों कहें कि नेत्र दृष्टि को भ्रूमध्य में टिकाकर ध्यान किया जाता है।

भूचरी मुद्रा – इस मुद्रा में साधक पृथ्वी को तो आँखें खोलकर देखता है, किन्तु उसे पृथ्वी नहीं दिखती, बल्कि पृथ्वी के भीतर की वस्तुओं पर ध्यान किया जाता है।

चाचरी मुद्रा – इसमें साधक रात को चित् लेटकर आकाश की ओर एकाग्र भाव से खुली आँखों से देखता है, किन्तु आँखें न तो आकाश को और न नक्षत्रों को ही देखती हैं।

खेचरी मुद्रा – इसमें साधक अपनी जिह्वा को उलट कर कपाल गुहा में स्थित करता है और चित्त एकाग्र करने की चेष्टा करता है।

सन्तों ने इन क्रियाओं के बारे में लिखा है कि ये सब चित्त एकाग्र करने के उत्तम साधन हैं। पहले तो ये क्रियाएँ चित्त एकाग्र करने में सहायक सिद्ध होती हैं, किन्तु फिर बाद में ये ही सिद्धिदात्री हो जाती हैं। जिसका मन अपने कब्जे में है, सिद्धियाँ उसके सामने तुच्छ हैं। मनोविजय और मनोनिग्रह से बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं है।

पर स्थूल लक्ष्य को ग्रहण करने से ही गति प्राप्त हो सकती है। इसके विपरीत शास्त्रों में कोई प्रमाण नहीं मिलता। चित्त की शक्तियों को अन्तर्मुख किए बिना कुछ भी नहीं हो सकता है।

गीता में भ्रूमध्य-दृष्टि और नासिकाग्र-दृष्टि की चर्चा की गयी है, और कहा गया है कि इससे साधक को आलोक-दर्शन होता है।

सिर और शरीर को एक सीध में बिना तनाव के स्थिर रखकर ये क्रियाएँ की जाती हैं। यदि लगातार 4-5 मिनटों तक सध जाय तो प्रकाश का दर्शन होना कठिन नहीं; किन्तु इसे सिद्ध करने के लिए कम-से-कम एक वर्ष का अभ्यास चाहिये। यही बात नासिकाग्र के बारे में भी कही जा सकती है।

इन क्रियाओं को करने से चित्त को शान्ति प्राप्त होती है। यदि किसी कारण से चित्त चंचल हो जाय तो वैसी अवस्था में इन क्रियाओं को करने से चित्त शांत होता है।



ध्यान का मध्यम लक्ष्य – प्राणायाम

अब बात प्राणायाम की आती है। ध्यान के मध्यम लक्ष्य में प्राणायाम सर्वोत्तम कहा जा सकता है। जो अनीश्वरवादी हैं, उन्हें भी इससे लाभ ही होगा। यह मानव मस्तिष्क की क्षमता को बढ़ाता है। जो प्राणायाम करते हैं, उनका जीवन साधारण व्यक्ति से कुछ भिन्न अवश्य होता है। इसके द्वारा मानसिक असंतुलन दूर होता है। प्राणायाम ध्यान की पहली सीढ़ी है। इससे ध्यान सिद्ध होता है। प्राणायाम के समय पूर्ण मनोयोग की आवश्यकता है।

प्राणायाम भौतिक भी है और आध्यात्मिक भी। यदि हम प्राणायाम के साथ अपनी भावनाओं को जोड़ें तो वह आध्यात्मिक हो जाता है, नहीं तो शारीरिक लाभ तो होगा ही। प्राणायाम करते समय योगी कल्पना करता है कि वायु के साथ सद्‌विचार उसके शरीर में प्रवेश कर रहे हैं और उसी के निष्कासन के साथ कुसंस्कार भी बाहर आ रहे हैं। इन विचारों का सम्पूर्ण शरीर में संचार होता है।

प्राणायाम के कई प्रकार हैं। कुछ प्राणायाम तो मस्तिष्क में रक्त-संचार को बढ़ाते हैं और कुछ कम करते हैं। वैज्ञानिकों का विचार है कि सही ध्यान के लिए मानव-मस्तिष्क में संतुलित रक्त-संचार की पूर्ण आवश्यकता है।

प्राणायाम करते समय कुछ लोग गिनती के लिए गायत्री मंत्र या किसी अन्य मंत्र का सहारा लेते हैं। लेकिन जो मंत्रों को नहीं मानते, वे अन्य स्थूल पदार्थ का सहारा लेते हैं। जैसे, घड़ी की टिक-टिक को ही लें। इसके द्वारा श्वास लेना, उसे रोकना, फिर छोड़ना और छोड़कर श्वास बाहर रोकना अर्थात् उनकी गिनती पर समय निर्धारित करना स्थूल साधन है। प्राणायाम प्राणों की लम्बाई को कहते हैं। इसके समय को बाद में बढ़ाया भी जाता है।

कर्म भेद से प्राण पाँच प्रकार के हैं। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान। ये मानव शरीर में अपना अलग-अलग महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

प्राणायाम करते समय प्रारम्भिक अवस्था में साधक को सबसे पहले नाड़ीशोधन करना चाहिये। इसके भी कई भेद हैं और इसमें भी तीन-चार महीने तक पहले पचास बार केवल एक नासिका-रंध्र से श्वास लिया जाय और दूसरे से छोड़ा जाय। जब यह सिद्ध हो जाय, तब श्वास रोककर इसका अभ्यास करना चाहिये। तीन-चार वर्षों तक इसके लगातार अभ्यास से चित्त एकाग्र होने लगता है। इसके साथ-साथ जप भी किया जाता है। जप के लिये मध्यम मंत्र को ही चुनना चाहिये।

यदि कभी कोई चिन्ताजनक विचार मन में आये या किसी कारण से हृदय में घबराहट पैदा हो जाय तो वैसी अवस्था में यदि 10-15 मिनटों तक नाड़ी-शोधन किया जाय तो निश्चित लाभ होगा।

नाड़ीशोधन के बाद कपालभाति का स्थान आता है। यह एक प्रकार का रेचक प्राणायाम है। इसके अभ्यास के समय चिदाकाश में ध्यान करना चाहिये। यह केवल सिद्धासन या पद्मासन में बैठ कर ही करना चाहिये। इसको करते समय जालन्धर, मूल और उड्डियान बन्ध, तीनों को एक साथ किया जाता है। चिदाकाश का ध्यान करते समय बहिरंग कुंभक भी लगाया जाता है। इसे करने से बुद्धि प्रखर होती है। इसका अभ्यास आधे घण्टे तक किया जा सकता है।

इन दोनों प्राणायामों के अभ्यास के बाद उज्जायी प्राणायाम का स्थान आता है। इसकी प्रशंसा प्रायः सभी धर्मों के संतों ने की है और सब ने इसे अपनी साधना का आधार बनाया है। यह सब में श्रेष्ठ है भी।

इसके दो भेद हैं। पहला सरल उज्जायी कहलाता है, जिसे प्रायः अधिक लोग करते हैं। दूसरा वास्तविक उज्जायी होता है। यह सब के लिये नहीं है।

साधारण उज्जायी में साधक खेचरी मुद्रा में गले से खर्राटे की आवाज के साथ रेचक-पूरक करता है, साथ ही अन्तरंग और बहिरंग कुम्भक भी। वास्तविक उज्जायी में खर्राटे की आवाज तो नहीं होती, पर एक स्वर अवश्य निकलता है।

इस प्राणायाम को करते समय पहले तो श्वास लम्बा होता है, फिर सूक्ष्म हो जाता है और बाद में पता भी नहीं चलता कि श्वास चल रहा है या नहीं। इसके सिद्ध होने पर पूरे चौबीस घण्टे में 21600 बार स्वतः प्राणायाम की क्रिया होने लगती है और इसमें जप भी सो-हं या हं-सो का होने लगता है।

प्राणायाम नियमपूर्वक प्रातः नहा-धोकर करना चाहिये। पेट साफ रहे अन्यथा कुपरिणाम हो सकते हैं। किसी अनुभवी गुरु से सीखकर इसका अभ्यास करना चाहिये।

गीता का मध्यम लक्ष्य

मध्यम लक्ष्य वह है, जिस पर मन से ध्यान तो किया जाता है, पर वह इन्द्रियों से अगोचर होता है।

नादयोग – नादयोग इसी श्रेणी में आता है। इसमें साधक एक विशेष प्रणाली से अपने कानों को बन्द करके अपने ही अन्दर उत्पन्न होने वाले शब्दों को सुनता है। इसमें अनेक स्वर सुनाई पड़ते हैं और साधक को उन शब्दों को बारी-बारी से पकड़ना पड़ता है। इसमें चिड़ियों की आवाज से लेकर शंख, घण्टा, मृदंग और अन्त में 'ॐ' का स्वर सुनाई पड़ता है। ऐसा लगता है कि करोड़ों कंठ एक स्वर से 'ॐ' की अखण्ड ध्वनि का उच्चारण कर रहे हैं।

इसे अनाहत स्वर भी कहा गया है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति बिना किसी आघात के होती है। इसमें आवाज होती नहीं, केवल स्वर सुनाई पड़ता है। इसे बहरा भी सुन सकता है। *सः शृणोति अकर्णः*।

ब्रह्मांड में अनन्त कोटि ग्रह-उपग्रह चक्कर लगा रहे हैं। उनके घूमने से एक प्रकार का स्वर उत्पन्न होता है, जो 'ॐ' है। यह सृष्टि का स्वर लगातार होता रहता है, पर साधारण कानों से इसे नहीं सुना जा सकता। जो स्वर आंदोलन के ऊपर या नीचे होता है, उसे नहीं सुना जा सकता है। शब्द चार प्रकार के होते हैं – बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा।

जो साधारण कान से सुना जा सके उसे बैखरी कहा जाता है। जो फुस्फुसाहट के साथ उच्चरित हो, उसे मध्यमा; जो केवल मन-ही-मन बोला जाय उसे पश्यन्ती तथा इन तीनों के ऊपर जो है, उसे परा कहते हैं। ईसाई इसे नैसर्गिक शब्द कहते हैं, थियोसोफिस्ट अन्तर्वाणी और पुराणों में इसे ही आकाशवाणी कहा गया है।

यह शब्द अभी भी हो रहा है। पर हमारी इन्द्रियाँ एक सीमा के भीतर हैं, इसलिए हम इस शब्द को नहीं सुन सकते हैं। नाद योग में इसी शब्द को सुना जाता है।

कुण्डलिनी-योग – इसमें शरीर के अन्दर मुख्य चक्रों का ध्यान किया जाता है। यह भी मध्यम लक्ष्य है। प्रथम चक्र मूलाधार है और अन्तिम सहस्रार। इससे विचार-शक्ति आती है और चित्त एकाग्र होता है। अंत में कुण्डलिनी शक्ति जागती है। कोई हठ-योग से तो कोई प्राणायाम या ध्यान से भी इसे जगाता है। यह कर्म-योग, भक्ति-योग, राज-योग, ज्ञान-योग और नाम जप से भी जगती है। यदि कोई अपने चित्त को शुद्ध कर ले और दूसरों के प्रति कुविचारों को अपने मन में प्रश्रय न दे तो वैसी अवस्था में भी कुण्डलिनी शक्ति स्वयं जागती है।

कीर्त्तन – यह भी मध्यम लक्ष्य है। इसका सम्बन्ध चित्त से है। कीर्त्तन करते समय चित्त में इतनी एकाग्रता उत्पन्न हो जाय कि बाहरी वस्तु का कुछ भी ज्ञान न रहे। यह नाम जप की साधना है, जो सबसे ऊँची साधना है।

सूक्ष्म का अधिकार कम लोगों को है।

मध्यम लक्ष्य का अभ्यास करते-करते कई बातें हो जाती हैं। सबसे पहले आसन जय की प्राप्ति हो जाती है। लगातार तीन घण्टों तक एक आसन पर श्वास-प्रश्वास को नियंत्रित करके काष्ठवत् बैठना पड़ता है। विक्षेपों की मात्रा कम हो जाती है। इसके लिये प्राणायाम का अभ्यास तथा शरीर का नीरोग रहना अत्यावश्यक है। पतंजलि ने रोग को सबसे पहला विघ्न बतलाया है।

प्रत्येक साधक को सोचना चाहिये कि रोग शरीर का धर्म है, पर आत्मा, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, वह सदा नीरोग है। जो रोग की चिन्ता करता है, उसे ही रोग सताता भी है।

साधना के समय जम्हाई आना भी एक विघ्न ही है। यदि ऐसा अनुभव हो तो मूलबंध आदि का सहारा लेकर उसे समाप्त कर देना चाहिये, नहीं तो ध्यान नहीं लगेगा। ध्यान के लिये स्थान का चयन भी सोचकर करना चाहिये। गीता के अनुसार स्थान समतल हो, पवित्र हो, शिलाखण्ड या जल से कुछ दूर हो। वैसी जगह में बैठकर पहले चित्त को और इन्द्रियों की चेष्टाओं को नियंत्रित करने का प्रयास करना चाहिये। उसके बाद ध्यान की क्रिया प्रारम्भ होती है।

शरीर के चक्रों का मानव-जीवन तथा उसकी कार्यक्षमता के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। इसलिये चक्रों पर ध्यान करने से पहले यह अच्छी तरह सोच लेना चाहिये कि किस व्यक्ति के लिये कौन-से चक्र पर ध्यान करना उचित होगा।

यदि कोई युवा स्त्री, जो गृहस्थ-जीवन बिता रही है, सहस्त्रार पर ध्यान करेगी तो उसकी सन्तानोत्पत्ति की क्षमता समाप्त हो जायेगी। इसी प्रकार कम उम्र वाली लड़की को विशुद्धि चक्र पर ध्यान नहीं करना चाहिये। गृहस्थ आदमी के लिये अनाहत चक्र पर ध्यान करना अधिक उचित है। योग का अभ्यास करने वाले या सिद्धि चाहने वाले नासिकाग्र पर ध्यान करते हैं।

ध्यान के लिए चक्रों का चुनाव करते समय एक बड़ी विचित्र बात होती है। यदि किसी चक्र विशेष का ध्यान उस व्यक्ति विशेष के लिये उपयुक्त नहीं होता है तो उस चक्र पर ध्यान करने से उसे अच्छा अनुभव नहीं होता। इस तरह चक्रों का चुनाव साधक स्वयं कर लेता है। गुरु तो केवल इसकी पुष्टि करता है।

ध्यान के अभ्यास में सदा आनन्द का अनुभव होना चाहिये। उपनिषदों में कहा गया है कि जिस व्यक्ति को ध्यान करने में कष्ट का अनुभव होता है, उसे कष्ट की ही प्राप्ति होती है और जिस व्यक्ति को ध्यान के सिलसिले में आनन्द का अनुभव होता है, उसे आनन्द की प्राप्ति होती है।

ध्यान प्रारम्भ करने वाले को पहले जप प्रारम्भ करना चाहिये, फिर जप सहित ध्यान और तब केवल ध्यान। जप भी तीन प्रकार के होते हैं – बैखरी, उपांशु और मानसिक। इसकी सिद्धि के बाद ही सूक्ष्म लक्ष्य में प्रवेश करने का प्रयास करना चाहिये।

ध्यान न तो विचार-शून्यता है और न पूर्ण सावधानी। यह सर्वदा चैतन्य एवं एकाग्र भाव है, जो साधक को बनाना पड़ता है।



ध्यान का सर्वोत्तम लक्ष्य

ध्यान का सर्वोत्तम लक्ष्य सूक्ष्म लक्ष्य ही कहा जा सकता है। पर उसे वाणी से व्यक्त करना कठिन है। निराकार सूक्ष्म लक्ष्य है। परमेश्वर को कोई नहीं देख सकता, क्योंकि वह स्वयं निराकार है और इन्द्रियों की पहुँच से परे भी है। सूक्ष्म मार्ग में बढ़ने के लिए साधक को ज्ञान-मार्ग का सहारा लेना पड़ता है।

लेकिन इसकी भी एक सीमा है। जिसका अन्त:करण आसक्ति, राग और मानसिक विक्षेपों से घिरा है, वह चाहे कितना ही प्रयास क्यों न करे, उसका ध्यान निराकार पर लग ही नहीं सकता।

जो अव्यक्त, निर्विकार, निराकार की उपासना करता है, उसे क्लेश की प्राप्ति होती है। उसका मन उद्विग्न रहता है। उसमें अस्थिरता रहती है। यह एक ऐसा मार्ग है, जिसमें सामान्य पथिक को पता नहीं चलता कि वह किस ओर बढ़ रहा है। यह निवृत्ति मार्ग वालों के लिये, जिसे अनासक्ति सिद्ध हो गयी है, उपयुक्त है। यह उसके लिये है जिसे वैराग्य प्राप्त हो गया है।

जिस प्रकार स्थूल लक्ष्य वाला पार्थिव पूजा या मध्यम लक्ष्य वाला चक्रों पर ध्यान करता है, उसी प्रकार सूक्ष्म लक्ष्य वाला विचारों पर चिंतन करता है।

सूक्ष्म लक्ष्य का साधक जब चिंतन करने बैठता है तो वह एक सूत्र को लेता है और मनन करता है। जैसे वह सोचेगा कि मैं सच्चिदानन्द हूँ और इसी पर चिंतन करता जायेगा। उसके अन्तर में भाव आयेगा कि मैं शरीर नहीं हूँ। फिर सोचेगा, क्यों नहीं? तब गुरु के पास जायेगा, इस पर उनके विचारों को श्रवण करेगा और उस पर मनन करेगा। वह सोचेगा कि मैं द्रष्टा हूँ। कर्त्ता और द्रष्टा में उसे भेद दिख पड़ेगा। फिर एक भाव आयेगा कि वह मन नहीं है और विचार भी नहीं है। इसके बाद पता चलेगा कि वह विचार कर रहा है, अर्थात् विचार करने वाला और देखने वाला दो भिन्न व्यक्ति हैं, आदि-आदि।

योगी को जिस तत्त्व की प्राप्ति ध्यान के द्वारा समाधि में होती है, ज्ञानी को उसी की उपलब्धि विचार-चिन्तन के द्वारा मन में होती है। विचारों में वे सारी बातें उसे स्पष्ट हो जाती हैं। वह देखता है कि परमात्मा जो उसके अन्दर है, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और इन्द्रियों से परे है।

मानव शरीर में दो तत्त्व हैं – प्रकृति और पुरुष। इसे शिव और पार्वती या अंग्रेजी में मैटर और एनर्जी भी कह सकते हैं।

मनुष्य की पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के समन्वय को प्रकृति कहते हैं। इसके अलावे एक और है जो इस पुरी में सोता है। वही परम पुरुष, परमात्मा या अनादि पुरुष कहलाता है।

पुरुष चेतन है और प्रकृति जड़। मनुष्य की इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सभी जड़ हैं। लेकिन एक बात और है। पुरुष चेतन है, पर चेष्टावान् नहीं, और प्रकृति जड़ है फिर भी कार्य करने में सक्षम। सृष्टि में हमें पुरुष की चेतना और प्रकृति की कर्मठता का योग मिलता है।

पुरुष और प्रकृति के वियोग का ही नाम योग और संयोग का नाम भोग है। यह जीवात्मा शरीर के बंधन में पड़कर अपने स्वरूप को भूल जाती है।

सूक्ष्म लक्ष्य में प्रवेश करने वाले साधक को अपेक्षित पृष्ठभूमि तैयार कर लेनी चाहिये। सर्वप्रथम पुरुष और प्रकृति के रूप, गुण, धर्म आदि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। तभी उस पर चिन्तन किया जा सकेगा और मन एकाग्र होगा। इसमें गलतियाँ भी होगीं। इसका अभ्यास अनधिकारी को नहीं करना चाहिये।

सूक्ष्म ध्यान विचारों का प्रत्यक्षीकरण हैं, अत: इसका अनुसरण विचारवान् व्यक्ति ही करते हैं, विचारहीन या कुविचारी नहीं। विचारहीन को ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, बल्कि वह निरर्थक ही स्वयं अपने आपको ब्रह्म समझ बैठता है।

चित्त शुद्धि, वैराग्य एवं दृढ़ भक्ति की प्राप्ति के बाद गुरु शिष्य को इस लक्ष्य की प्राप्ति कराता है।

मानव जीवन स्वयं एक मिश्रित वस्तु है। अत: साधक को कर्म, भक्ति और ज्ञान का एक साथ सहारा लेना चाहिये। कर्म से चित्त की शुद्धि होती है। चित्रगुप्त के बही-खाते में रखे जन्म-जन्मान्तर के संस्कार, जो सूक्ष्म रूप में मनुष्य के अन्त:करण में पड़े रहते हैं, जिन्हें भोगने के लिये उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है, उनका क्षय कर्म करने से ही होता है। कर्म ताप भी है और साधना भी। यह योग मार्ग में जाने के लिये साधक का मार्ग प्रशस्त करता है। गृहस्थ आश्रम में अनेक परिस्थितियों के बीच रहकर मनुष्य को सहनशीलता प्राप्त होती है।

गीता में ब्रह्म विद्या

योग से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या योग का अन्तिम लक्ष्य चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करना भर है या इससे आगे भी और कुछ है?

चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति एक महान् उद्देश्य के लिये है। ऐसा देखा गया है कि जब आदमी को एकाग्रता की प्राप्ति होती है, तब उसके मन में एक प्रकार की स्फूर्ति उत्पन्न होने लगती है और वह प्रश्न करने लगता है – आत्मा क्या है, जीवन क्या है, पुनर्जन्म क्या है, आदि। एकाग्रता उत्पन्न होने पर वैसे लोग जो इन विचारों का विरोध करते थे, जिज्ञासा प्रकट करने लगते हैं। इस प्रकार योग नास्तिकों को आस्तिक बनाने में सहायक साबित होता है।

एकाग्रता के बाद आदमी आत्म-चिंतन और आत्म-ज्ञान की दिशा में बढ़ने लगता है। पर इसमें कम लोग ही आत्म-सिद्धि को प्राप्त करते हैं और उसमें भी शायद ही कोई ठीक तरह से उसे जान पाता है।

जहाँ योग-विद्या समाप्त होती है, वहीं से ब्रह्म-विद्या का प्रारम्भ होता है। ब्रह्म-विद्या के द्वारा हम आत्मा का सही ज्ञान करते हैं। गीता में योग और ब्रह्म-विद्या, दोनों की विवेचना की गयी है। अत: गीता योगशास्त्र भी है और ब्रह्म-विद्या भी।

उपनिषद् में तो ब्रह्म-विद्या के विषय में यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त किये बिना मर जाता है, वह कृपण है, शूद्र है और जो इसे जानता है, वह ब्राह्मण है।

मनुष्य के पास उसकी सबसे बड़ी पूँजी उसका शरीर और उसका ज्ञान है। पर मनुष्य शरीर का उपयोग भोग में करता है। आत्मा, जो जानने योग्य है, उसे जानने में नहीं। आदमी को परा विद्या का, जिसके जानने के बाद कुछ भी

जानने योग्य बाकी नहीं रह जाता है, ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। लेकिन इसके विपरीत वह अपरा अर्थात् इन्द्रियातीत ज्ञान के पीछे ही परेशान रहता है।

आत्मा का चिंतन ईश्वर का चिंतन है, ब्रह्म का चिंतन है। लेकिन इसे वही कर सकता है, जिसका मन पर कब्जा हो गया है। आत्मा एक बृहद् विषय है। वह स्वयं एक रहस्य है, जिसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी प्राप्त नहीं कर सके।

आत्मा के प्रकाश के सामने सूर्य, चन्द्र किसी का प्रकाश प्रकट नहीं होता, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। आत्मा और परमात्मा एक ही है, वह अग्नि के समान जिस वस्तु में प्रवेश करता है, वैसा ही रूप ग्रहण करता है। जेवर अनेक होते हैं, पर सबके पीछे एक ही वस्तु है, जो सब में समान है; वह है सोना। मिट्टी एक ही है, पर उसके बर्त्तन अलग-अलग रंग-रूप के तैयार होते हैं। वास्तव में सम्पूर्ण विश्व आत्मा का ही विस्तार है और भिन्न-भिन्न नामों से विख्यात है। जिस प्रकार बरगद का बीज छोटा है, पर उससे विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा सूक्ष्म बीज की तरह है और उसी से अखिल विश्व पैदा हुआ है।

आत्मा हम सब के भीतर सुषुप्त है। जो तपस्वी होते हैं, संयमी होते हैं तथा राग-द्वेष से दूर रहते हैं, वे इसे जान लेते हैं। जिसकी यह शक्ति जग जाती है, वह महान् बन जाता है। यह अणु से भी सूक्ष्म है। जिसको इसकी अनुभूति हो जाती है, वह धन्य हो जाता है।

ब्रह्म के ज्ञान के लिये इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है और इसकी साधना के लिये ज्ञान-योग का सहारा लेना ही होगा।

ज्ञान-योग के माध्यम से साधक लगातार चिंतन करता जाता है। वह सोचता है कि इस जगत् में क्या सार है और क्या असार; क्या नाशवान् है और क्या अविनाशी। चिंतन की धारा में जब साधक प्रवाहित होता है तो वह सार पदार्थ ग्रहण करता है और असत्य एवं असार को छोड़ता जाता है। उसे अनुभव होने लगता है कि इस जगत् में एक आत्मा ही है जो अविनाशी है, अन्यथा सृष्टि की प्रत्येक वस्तु नाशवान् है।

लेकिन इसे कहना जितना आसान है, अनुभव करना उतना ही कठिन। लाख यत्न करने पर भी शरीर का ही अनुभव होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा भी जन्म-जन्म से इन्द्रियों की संगत में पड़कर अपने निजी संस्कारों को भूल जाती है। वह विषयासक्ति में पड़कर एक शरीर से दूसरे शरीर में भटकती रहती है और भोग भोगती रहती है।

गीता में आत्मा शब्द की व्याख्या

आत्मा शब्द का प्रयोग साधारणतः लोग तीन प्रकार से करते हैं। एक तो किसी विशेष परिस्थिति में आदमी कहता है कि इससे हमारी आत्मा को कष्ट होता है। यहाँ आत्मा का प्रयोग मन के स्थान पर होता है। दूसरा, जब किसी की मृत्यु होती है तो कहते हैं कि आत्मा शरीर को छोड़ कर चली गयी। यहाँ आत्मा का प्रयोग जीवात्मा के लिये किया जाता है। आत्मा शब्द का तीसरा प्रयोग परमात्मा के लिये किया जाता है। यहाँ उससे उस परम पुरुष का बोध होता है, जिसका सम्बन्ध न तो शरीर से है और न मन से। उसका पुनर्जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि अधिकतर लोग उस शक्ति को ही आत्मा समझते हैं, जिसका पुनर्जन्म होता है।

गीता के दूसरे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा का ज्ञान कराया था।

आत्मा से बढ़कर कोई दूसरी उपलब्धि नहीं है। इसकी प्राप्ति होते ही मनुष्य की अविद्या नष्ट हो जाती है। वह शोक और मोह से मुक्त हो जाता है। उसे आनन्द की प्राप्ति होती है और वह सुखी हो जाता है।

संतों का कहना है कि आत्म-ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। यहाँ मुक्ति का अर्थ विषयों से मुक्ति नहीं, बल्कि उनकी आसक्ति से मुक्ति है।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के बाद मानव-जीवन में जो सबसे बड़ा परिवर्तन होता है, वह है मनुष्य का स्थितप्रज्ञ हो जाना। वैसा व्यक्ति सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय में समान भाव से स्थिर रहता है। उसके ऊपर इनका धक्का नहीं लगता। वह पद्मपत्र-सा जल में पल कर भी जल से लिप्त नहीं होता है। वह संसार से विमुख नहीं होता, बल्कि संसार में अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए तथा प्राकृतिक नियमों का यथायोग्य पालन करते हुए भी स्थिर रहता है। वह चंचल नहीं होता।

यदि मनुष्य की इच्छा के विपरीत कोई बात हो गयी तो उसे क्लेश होता है। उसके मन पर जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं का असर पड़ता रहता है और अन्तःकरण में सुख-दुःख संचित होते रहते हैं। वे ही बाद में अनेक रोगों के रूप में बारी-बारी से प्रकट होते हैं और आदमी दुःख भोगता रहता है।

जिस किसी ने भी जन्म लिया, उसे दुःख भोगना ही होगा। पर जो आत्मज्ञ है, स्थितप्रज्ञ है, वह दुःख तो भोगता है, पर दुःखी नहीं होता। दुःख भोगना और दुःखी होना, दो अलग बातें हैं। जिस प्रकार पत्थर पर वर्षा होती है और वह भींग भी जाता है पर वर्षा छूटते ही पूर्ववत् सूख जाता है, केवल उसकी गंदगी ही वर्षा से धुलती है, उसका कुछ अनिष्ट नहीं होता, ठीक यही अवस्था आत्मज्ञ या स्थितप्रज्ञ की होती है। पर जो अज्ञानी होता है, वह स्याहीसोख की तरह प्रत्येक वस्तु को, चाहे वह सुख हो या दुःख, पी जाता है और जीवन भर कष्ट भोगता है। आत्म-ज्ञान से जिस सुख की प्राप्ति होती है वह अखण्ड है। पर जिस सुख की प्राप्ति इन्द्रियों के भोग से होती है, उसका आदि भी है और अन्त भी। आत्मज्ञ इन्द्रियों के सुख में भटकता नहीं। पर जो अज्ञानी हैं, वे पतंगे की तरह इन्द्रिय-सुख के लोभ में पड़कर अपनी जान को गंवाते रहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दो महान् इच्छाएँ होती हैं। वे हैं परमानन्द की प्राप्ति और दुःख से पूर्ण निवृत्ति। इन दोनों की प्राप्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त होने से होती है, भौतिक साधनों की उपलब्धि से नहीं।

जो व्यक्ति मृत्यु के पूर्व अपने जीवन में काम, क्रोध और मोह के झंझावातों को अविचल भाव से सहन कर लेता है और उनके आघातों का अपने ऊपर असर नहीं होने देता, वही सचमुच में योगी है। योग का अन्तिम लक्ष्य भी तो आत्म-ज्ञान की प्राप्ति ही है।

जिस व्यक्ति को आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियों की तरह अपना सारा कार्य करता है। वह अकर्मण्य नहीं होता।

लेकिन यह पूछा जा सकता है कि इस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हमें आखिर हो कैसे?

योगशास्त्रों में इसके उपाय बताये गये हैं। उनमें एक ध्यान-योग भी आता है। ध्यान करते-करते जब साधक का मन धीरे-धीरे अंतर्मुख हो जाता है तो वैसी अवस्था में सूक्ष्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके लिये ज्ञान और योग दोनों की आवश्यकता है। सत्संग से भी इसकी कुछ प्राप्ति हो सकती है।

आत्मा निर्गुण है। उसका न कोई गुण है और न कोई धर्म। जिस प्रकार नींबू से उसकी खटास का बोध होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा शब्द से सदा सच्चिदानन्द का बोध होता है। इसे *'ॐ तत् सत्'* भी कह सकते हैं। वह पूर्ण है। सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा का व्यक्त रूप है। अत: वह भी पूर्ण है।

आत्मा भूत, वर्त्तमान और भविष्य से परे है। वह सदा समान रहती है। इसीलिये वह सत् है। वह चेतन भी है। यदि वह चेतन न होती तो सृष्टि असम्भव हो जाती। इसलिये यह चित् है। और अक्षय आनन्द का स्रोत भी है।

आत्मा और परमेश्वर, दोनों आदमी के इतने नजदीक हैं कि कोई जब चाहे इन्हें देख सकता है। आदमी भ्रम में पड़कर, इसे न तो जानता है और न जानना ही चाहता है और अलग सुख खोजता है।

साधारणत: लोग आत्मा शब्द से केवल उस आत्मा के बारे में सोचते हैं जो मृत्यु के बाद इस शरीर को छोड़ देती है। पर शरीर छोड़ देने के बाद भी पूर्वार्जित कर्मफल एवं अच्छे-बुरे संस्कारों के बंधन छुड़ाये नहीं छूटते। परिणामत: आत्मा कष्ट भोगती रहती है। परन्तु आत्म-ज्ञान से इस आत्मा का भी उद्धार हो सकता है।

इस आत्मा की प्राप्ति केवल अधिक ज्ञान की उपलब्धि से, केवल प्रवचन सुनाने से या अधिक जानने से भी नहीं होती। वह तो उसे मिलती है, जिस पर स्वयं उसकी कृपा होती है।

जो केवल ध्यान करता है उसे भी आत्म-ज्ञान नहीं मिलता। उसे तो अंधकार की प्राप्ति होती है। जो केवल कर्म करता है वह तो अंधकार पाता ही है। आत्म-ज्ञान के लिये ध्यान और कर्म, दोनों का संयोग आवश्यक है। पुनश्च जो केवल साकार की उपासना करता है, उसे भी अंधकार की प्राप्ति होती है। आवश्यकता है कि साधक साकार एवं निराकार, दोनों की सम्यक् साधना करे।

कर्म और योग, दोनों का एक साथ अभ्यास करने से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है, और अमृत ब्रह्म की भी।



गीता का त्रिगुणातीत

गीता में तीनों गुणों की भी चर्चा की गयी है। यह संसार तीनों गुणों से बना है। साधारणत: सुनने में आता है कि अमुक व्यक्ति सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी है। इसके परे कोई चौथा गुण नहीं है। पर इन सब के परे एक ऐसी अवस्था होती है, जिसे त्रिगुणातीत कहते हैं। ऐसी अवस्था में आदमी अवधूत हो जाता है।

केवल व्यक्ति ही नहीं, बल्कि देश, समाज, ऋतुएँ, साहित्य, साधनाएँ, यहाँ तक कि सम्पूर्ण सृष्टि भी किसी-न-किसी गुण विशेष से प्रभावित रहती है। मनुष्य तो मनुष्य, उसका एक-एक आचरण भी किसी गुण विशेष से प्रभावित रहता है।

गीता में चर्चा आयी है कि सत्त्वगुण सुख पैदा करता है, रजोगुण कर्म करने की जिज्ञासा उत्पन्न करता है और तमोगुण आलस्य एवं निद्रा पैदा करता है।

सतोगुण के क्षण में व्यक्ति को परम शान्ति प्राप्त होती है। उसकी रुचि त्याग, वैराग्य, विवेक, सत्संग और साधना में होती है।

रजोगुण की अवस्था में लोभ, कर्म, आसक्ति एवं स्पृहा की ओर रुचि अधिक होती है।

तमोगुण की अवस्था में आलस्य, निद्रा, भोजनप्रियता, तप संयम से घबड़ाहट एवं प्रमाद में अधिक प्रवृत्ति होती है।

प्रत्येक व्यक्ति में इन तीनों गुणों का सम्मिश्रण मिलेगा। किसी के अन्दर केवल एक गुण नहीं हो सकता। निकृष्ट-से-निकृष्ट प्राणी के भीतर भी सतोगुण का प्रभाव देखा जा सकता है। आलसी व्यक्ति में भी रजोगुण मिल सकता है और महान् वैरागी में भी तमोगुण एवं रजोगुण हो सकता है।

मनुष्य इन तीनों गुणों की खिचड़ी है। यदि इनमें से किसी एक गुण का भी लोप हो जाए तो आदमी का व्यक्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। वह विक्षिप्त हो जायेगा। यहाँ तक कि केवल सतोगुणी होने से भी आदमी असंतुलित हो जाता है।

ये तीनों गुण एक-दूसरे को समय-समय पर संतुलित करते रहते हैं। यह आदमी के व्यक्तित्व को सबल बनाने का एक प्राकृतिक नियम है।

उदाहरणार्थ हम देख सकते हैं कि यदि कोई आदमी अधिक काम करता है तो उसके इस रजोगुणी अवस्था को सीमित करने के लिये आलस्य एवं निद्रा स्वाभाविक रूप से आती है। ठीक इसके विपरीत यदि आदमी अधिक सोता है तो उसे काम करने में अधिक रुचि लगेगी। यहाँ रजोगुण तमोगुण को संतुलित करता है।

ऐसी अवस्था में हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति विशेष में किसी गुण विशेष की प्रधानता होती है। वह सतोगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान या तमोगुण प्रधान होता है। कोई भी व्यक्ति सर्वांशत: सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी नहीं हो सकता।

जिस समाज में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, वहाँ निर्भयता दिखाई पड़ती है। रजोगुणी समाज में ईर्ष्या और तमोगुण प्रधान समाज में भय व्याप्त रहता है। सतोगुण प्रधान समाज विधान का आदर करता है। आज का हमारा समाज तमोगुण-प्रधान रजोगुणी है।

एक ही व्यक्ति दिन में कई बार तमोगुण, रजोगुण या सतोगुण प्रधान बनता रहता है।

इन गुणों पर मनुष्य के विचारों का ही नहीं, संगति का भी प्रभाव पड़ता रहता है। अपने विचारों की अभिव्यक्ति मनुष्य स्वयं करता है। वह अपने विचारों के माध्यम से ही अपने अंदर के संस्कारों का अभ्युदय, विकास और ह्रास करता है।

विचार शक्ति का ही नाम है। यह केवल अधीनस्थ होकर मनुष्य-मन के अंदर ही नहीं रहता, बल्कि दूर तक जाता है। जैसे फूल की गंध दूर तक फैलती है, वैसे ही अच्छे विचारों का भी प्रसारण होता है। एक मनुष्य का विचार दूसरे को प्रभावित करता है। एक का विचार जब दूसरे के पास जाता है तो उसकी क्षमता दुगुणी और वहाँ से निकलने पर चौगुणी होकर आगे बढ़ती है।

विचार भी साहित्य एवं आचरण की तरह गुणपूर्ण होता है। मनुष्य में संतुलित रूप से तीनों गुणों का रहना आवश्यक है। कोई एक गुण ही मनुष्य के लिए वरेण्य नहीं।

सामान्यत: सतोगुण का प्रभाव विचारों पर, रजोगुण का कर्म पर और तमोगुण का निद्रा पर पड़ता है।

यही वजह है कि सोते समय सोचना मना है। एक कार्य करते समय उस पर दूसरे का प्रभाव पड़े, यह ठीक नहीं।

मनुष्य जो सोचता है, वही बोलता है और वही करता है। इसीलिये जीवन में अच्छे विचारों का चयन करना अत्यावश्यक है।

विचारों की प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं, चाहे वे अच्छी हों या बुरी। इसीलिये संतों ने बुरे विचारों से दूर रहने का उपदेश दिया है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि जीवन में किसी एक गुण की प्रधानता हो जाय और उसे दूर करने की इच्छा हो तो कौन-सा उपाय है।

उदाहरणार्थ हम तमोगुण को लें। इसे दूर करने के लिये सतोगुण का सहारा नहीं लिया जा सकता। रूप में तमोगुण और सतोगुण दोनों एक-से ही होते हैं, केवल गुण में फर्क होता है। अत: तमोगुण पर विजय प्राप्त करने के लिये रजोगुण का सहारा ही लिया जा सकता है। रजोगुण बड़ा शक्तिशाली होता है। जब भी कभी निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि का प्रकोप हो तो उसे दूर करने के लिये कर्म का ही सहारा लेना होगा।

कुछ दिन रजोगुण प्रधान वृत्ति होने से स्वयं सतोगुण का उदय होने लगेगा। जीवनमुक्त महात्मा और ज्ञानरत साधक त्रिगुणातीत होते हैं।

साधक को चाहिये कि अपने जीवन में तीनों गुणों का सामंजस्य उत्पन्न करे, उन्हें संतुलित रखे। तभी वह सफल होगा।

मनुष्य के कर्म के पीछे उसकी श्रद्धा होती है। वह भी तीन प्रकार की होती है – सात्त्विकी, राजसी और तामसी।

साधारणत: लोग श्रद्धा और विश्वास दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में एक-सा करते हैं। पर दोनों में बड़ा अंतर है। श्रद्धा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव से है और विश्वास का अप्रत्यक्ष ज्ञान अथवा श्रवण से। जो जैसा है, उसका वैसा ही अनुभव करना श्रद्धा है। यह सत्य का साधारणीकरण है। इसका आधार आन्तरिक अनुभूति है। यह जीवन का सम्बल है। यह चमत्कारों का भी आधार है और मानव जीवन को कुछ-से-कुछ बना सकता है। इसमें शांति है।

साधना में तामसी श्रद्धा उसको कहते हैं, जिसमें आदमी अपनी भलाई के लिये या दूसरे का अनिष्ट करने के लिये तंत्र की सहायता लेता है और दैत्यों या प्रेतों की उपासना करता है। भगवान के घर, इस शरीर को कष्ट देता है, भले ही वह कष्ट स्वयं भगवान की प्राप्ति के लिये ही क्यों न हों। इससे न अपनी भलाई होती है, न दूसरों की। उसमें कभी सफलता और कभी विफलता मिलती रहती है।

तमोगुणी साधना मनुष्य को पतन की ओर ले जाती है। इससे नास्तिकता उत्पन्न होती है, समाज खराब होता है। निम्न कोटि के देवता कभी सर्वशक्तिमान् नहीं होते। इसमें जब साधक असफल होता है तो उसकी श्रद्धा खत्म हो जाती है।

राजसी साधना मिश्रित श्रद्धा पर आधारित रहती है। इसमें साधक आकांक्षाओं को लेकर बढ़ता है। यही सकाम साधना है। इसमें यक्षों की उपासना होती है।

राजसी साधना वाला साधक जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह जाता है।

सात्त्विकी साधना चित्तशुद्धि के लिये की जाती है। परहित के लिये होती है। यह मनुष्य को ऊपर उठाती है।



श्रद्धा – जीवन का आधार

साधक को साधना प्रारम्भ करने के पूर्व अपनी श्रद्धा का निश्चय कर लेना चाहिये। जो जैसी श्रद्धा करता है, अपनी साधना से उसको वैसे ही फल की प्राप्ति होती है।

जो साधक जितना ही सरल होता है, उसको उतनी ही श्रद्धा की विभूति का पता चलता है।

शक्ति स्वयं मनुष्य के अंदर है, पर आवश्यकता है उसको जगाने की। यह संतों में भी है और दुष्टों में भी। जब एक शक्ति जागती है तो दूसरी नियंत्रित हो जाती है।

सत्य को पहचानने के लिये तो अपने अंदर ही जाना पड़ेगा। वह सभी प्राणियों के भीतर स्थित है। जो जानता है, उसे प्राप्त होता है। परमात्मा, खुदा कहीं दूर स्वर्ग में नहीं है, वह तो अंदर है। उस महान् शक्ति को पहचानना चाहिये।

वह शक्ति इतनी गहराई में रहती है कि जहाँ साधारण आदमी की पहुँच नहीं है। भले ही वह रॉकेट पर चढ़कर कहीं चला जाय, पर वहाँ पहुँचना इतना आसान नहीं। इसे हम देख भी नहीं सकते, सुन भी नहीं सकते। यदि इसे जाग्रत किया जाय तो बड़ा काम हो सकता है। आज तक जितने भी प्रतिभावान् व्यक्ति हुए हैं, उनकी प्रतिभा का सीधा सम्बन्ध इसी शक्ति से रहा है। यह मूल शक्ति ही हर प्रकार की प्रतिभा का रहस्य-स्रोत है।

इसे जाग्रत करने के उपाय तो अनेक हैं, पर अपनी-अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुकूल ही इसे ढूँढ़ना चाहिये। श्रद्धा व्यावहारिक होनी चाहिये। श्रद्धा स्वयं सत्य नहीं है, सत्य का आधारमात्र है। सत्य तो कहीं और है, जो अनिर्वचनीय है।

बड़े-बड़े संत-महात्मा बोलते-बोलते थक गये, पर उसकी असली शक्ति का पता नहीं चला। जिस दिन उसका पता चल जायेगा, उस दिन वह शक्ति ही नहीं रहेगी। आत्मा अनन्त है, इसे कौन नाप सकता है। परम सत्य क्या है, कोई नहीं जानता। सत्य के प्रकटीकरण का दम्भ किसी को नहीं करना चाहिये। इसकी तो मात्र झलक भर किसी-किसी को मिलती है।

पर चाहे जो भी श्रद्धा हो, उसे जाग्रत करने का प्रयास करना चाहिये।

तंत्र में भावना को श्रद्धा का आधार बनाकर क्रियाएँ की जाती हैं और उनका असर होता है। मनुष्य की अपनी भावना ही सक्रिय रूप लेकर दूसरे का कल्याण या अनिष्ट करती है। पर जो उसे मानेगा, उसी पर उसका प्रभाव पड़ेगा।

श्रद्धा के लिये दो बातों का होना अनिवार्य है। श्रद्धा करने वाला और श्रद्धा पाने वाला। कोई विपरीत शक्ति इसका मुँह मोड़ने के लिये नहीं होनी चाहिये, अन्यथा इसका प्रभाव नहीं होगा। विचारों में तो दो बातें होती ही हैं। विचारों का ग्रहण और विचारों का क्षेपण।

यदि सच्चे हृदय से यह सोचते हुए कि अपने विचार प्रक्षेपित हो रहे हैं, किसी के हित के लिये प्रार्थना की जाय तो उसका असर हुए बिना नहीं रह सकता है।

विचारों में गति होती है, गुरुत्वाकर्षण होता है, फैलाव और रंग भी होते हैं। ये दूर-दूर तक जाते हैं।

श्रद्धा एक शक्तिशाली रॉकेट है, जिस पर मिसाइल की तरह भावना को आधारित करके भेजा जाता है। यह शब्दों से भी तीव्र गति से चलती है।

भक्त को चाहिये कि शास्त्रोचित मर्यादा का पालन करते हुए अपने मन में सात्त्विक भावना को ही स्थान दे।



पुरुष सूक्त

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

श्री पंच दशनाम परमहंस अलख बाड़ा द्वारा प्रकाशन – 1992
बिहार योग विद्यालय द्वारा प्रकाशन – 2013

व्याकरण एवं वाङ्मय – संन्यासी श्रीपूजानन्द



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

पुरुष सूक्त

वैदिक वाङ्मय में पुरुष सूक्त का विशेष महत्त्व है। चारों वेदों में इसकी उदात्त ऋचाओं का उल्लेख मिलता है। यह स्तोत्र परब्रह्म तत्त्व की विशद व्याख्या करता है, इसीलिए संन्यास परम्परा में इसका अति विशिष्ट स्थान है।

सन् 1991 में गंगा दर्शन में संचालित एक-वर्षीय संन्यास सत्र के प्रतिभागियों को स्वामी निरंजनानन्द जी ने पुरुष सूक्त पर जो सत्संग दिये थे, उन्हें संन्यासी श्रीपूजानन्द ने वैदिक वाङ्मय और व्याकरण के आधार पर शास्त्रीय परम्परानुसार प्रस्तुत किया है।

– *सम्पादक*

पुरुष सूक्त का परिचय

जीवन की एक अदृश्य वास्तविकता भी है, जो इस चराचर जगत् के प्रत्येक प्राणी का संचालन और नियंत्रण करती है। आधुनिक मनुष्य ने स्वयं को भौतिकता से सम्मोहित कर रखा है, जिसके कारण वह जीवन के वास्तविक तत्त्व की खोज इन्द्रियगत, मनोगत और भौतिक जीवन में करता है। प्रयत्नों के बावजूद भी वह उस अदृश्य वास्तविकता को इस दृश्यमान जगत् में प्राप्त नहीं कर पाता है। यह प्रयत्न उसी प्रकार का है, जैसे कोई किसी वृक्ष के मूल बीज की खोज उसके तने, शाखाओं, पत्तों एवं फूलों में करे।

इस मूल तत्त्व, या अदृश्य वास्तविकता को अनेकों नामों, रूपों एवं गुणों से सम्बोधित किया गया है। परब्रह्म परमात्मा या परम चेतना इसकी कुछ संज्ञायें हैं। इस तत्त्व को अदृश्य, निर्विकार, निराकार एवं निर्विचार माना गया है। इसे सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान् भी माना गया है। इस तत्त्व पर चिंतन एवं शोध सभी आध्यात्मिक जिज्ञासुओं और साधकों ने किया है। जिन्होंने इसकी आत्मिक और आंतरिक अनुभूति प्राप्त की है, वे संत, ऋषि, आत्मज्ञानी, महात्मा आदि कहलाए हैं। और इन आत्मज्ञानियों ने इसे पुरुष रूप में जाना है।

इन आत्मज्ञानियों ने उस परम तत्त्व को पुरुष रूप में क्यों सम्बोधित किया? जहाँ पर पुरुष शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ पर उस सत्ता को एक रूप, एक नाम और एक गुण से विभूषित कर, उसे व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। पुरुष का तात्पर्य मानव लिंग या रूप से नहीं है। यह पुरुष शब्द दो संस्कृत शब्दों के मेल से बना है – *पुरी* और *श:*। पुरी का मतलब है नगर। नगर का तात्पर्य पदार्थ शरीर या व्यक्त सृष्टि से है। स्थावर, जंगम, पदार्थ, चर, अचर सृष्टि की अनुभूति जिस रूप में होती है, वह पुरी या नगर का रूप

है। जिस प्रकार से नगर की एक सीमा होती है, उसी प्रकार सृष्टि के समस्त पदार्थों एवं अभिव्यक्तियों की एक सीमा है। इस संदर्भ में पुरी का मतलब विश्व है, जो एक नाम, रूप और गुण द्वारा सीमित है। श: का मतलब सुषुप्त, गुप्त या सूक्ष्म है। वह सत्ता जो सृष्टि में गुप्त, सूक्ष्म और सुषुप्त रूप से व्याप्त है, उसे पुरुष कहते हैं। सामान्यत: श: का सम्बंध निद्रावस्था या सुषुप्ति से किया जाता है। श: को यहाँ इसलिये जोड़ा गया कि उस निराकार तत्त्व को साकार रूप में मनश्चतुष्टय के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। अगर उसे व्यक्त रूप से जानना संभव रहता तो श: का प्रयोग नहीं होता। वह अदृश्य, निराकार ब्रह्म पदार्थ में गुप्त रूप से विद्यमान है, वही पुरुष है।

पुरुष सूक्त परब्रह्म तत्त्व का स्तोत्र है। इसमें सृष्टि तथा दैविक और मानविक कर्म एवं लक्ष्य की चर्चा है। ये उन प्राचीन मनीषियों के उद्‌गार हैं जिन्होंने इस परमतत्त्व को पहचाना और इसकी अनुभूति को प्राप्त किया। गौतम स्मृति और बौधायन स्मृति में भी पुरुष सूक्त का उल्लेख है। यह ॠग्वेद के तैत्तिरीय संहिता का एक अंग है। ॠग्वेद में यह अष्टम अष्टक, चतुर्थ अध्याय, वर्ग 17, मंडल 10, अध्याय 7, सूक्त 90 के अंतर्गत पाया जाता है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा के अध्याय 31 में इसका उल्लेख है। अथर्ववेद में काण्ड 19, सूक्त 6 में इसका वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण में 13-6-2-12 मंत्रों में इसका उल्लेख है। सामवेद में आरण्यक काण्ड, अध्याय 6, खण्ड 4/2, मंत्र 3-6 में इसका वर्णन है।

इस सूक्त के ॠषि या द्रष्टा नारायण हैं। देवता पुरुष तथा छन्द अनुष्टुप् (गांधार) 1-15, त्रिष्टुप् (धैवत) 16-19, अनुष्टुप् (गांधार) 20-21 तथा त्रिष्टुप् (धैवत) 22 हैं।

संन्यासियों को संन्यास परम्परा में निर्देशित किया जाता है कि पुरुष सूक्त का पाठ गीता, विष्णु सहस्रनाम आदि के पूर्व होना चाहिए। पुरुष सूक्त का पाठ परब्रह्म तत्त्व की व्याख्या करता है, यह चेतना को सूक्ष्म एवं ग्रहणशील बनाता है और उस अदृश्य तात्त्विकी अनुभव को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रोत्साहित करता है।

– परमहंस निरंजनानन्द सरस्वती

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात् ।
स भूमिं विश्वतोवृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥1॥

अन्वय

पुरुषः सहस्त्रशीर्षाः, सहस्त्राक्षः, सहस्त्रपात्। सः भूमिं विश्वतः वृत्वा दशांगुलं अत्यतिष्ठत्।

अनुवाद

पुरुष के सहस्त्र सिर, असंख्य नेत्र तथा अनन्त पैर हैं। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके उससे परे दश अंगुल-प्रमाण में स्थित है।

व्याख्या

सम्पूर्ण प्राणिमात्र का समष्टिरूप, परम पुरुष, परमेश्वर सभी जीवों के सिर, आँख, पैर आदि का अन्त:पात होने के कारण असंख्य सिर वाला, हजार आँखों वाला और अनन्त पैरों वाला है। सबको उत्पन्न करने वाली भूमि के समान सर्वाश्रय प्रकृति को चारों ओर से व्याप्त कर वह परम पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से, एक छोर से दूसरे छोर तक ढककर, उससे परे अवस्थित है। वह महत् आदि दस अंग-विकार और पृथ्वी आदि स्थूल एवं सूक्ष्म भूतों का अतिक्रमण कर, उनमें व्याप्त होकर, उनसे भी अधिक शक्तिमान् अध्यक्ष होकर विराजता है।

हजार सिर का तात्पर्य बोध-शक्ति से है। वह शक्ति सर्वज्ञ और सर्व-ज्ञाता है। उसकी हजार आँखें सर्वद्रष्टा-शक्ति हैं और हजार पैर क्रियाशील-शक्ति हैं।

व्यक्ति में जब ज्ञानोदय होता है तब उसके लिए कोई सीमा और बंधन नहीं रह जाते हैं। ज्ञान होने पर व्यक्ति अविद्या की स्थिति से ऊपर उठ जाता है। अविद्या से ऊपर उठने का मतलब आंतरिक जागृति है। अन्त:करण में बोध की जागृति होने पर अन्तर्जगत् में परिवर्तन होता है तथा इस अवस्था को आत्मबोध कहते हैं। ज्ञान या विद्या की आन्तरिक अनुभूति 'बोध' कहलाती है और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति 'विवेक'। यह अभिव्यक्ति कर्म द्वारा होती है। प्राणी विवेक से कार्य एवं चिन्तन करता है, इसलिए ज्ञान का आन्तरिक रूप 'बोध' है और बाह्य रूप 'विवेक'।

ज्ञान सब प्राणियों की सामूहिक ज्योति है, लेकिन प्राणी अपनी-अपनी ज्ञेय-शक्ति के अनुरूप अनुभव प्राप्त करते हैं।

परम पुरुष परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा है। द्रष्टा का तात्पर्य यहाँ इन चर्म-चक्षुओं से देखना मात्र नहीं, अपितु जीवन की सभी व्यक्त और अव्यक्त अवस्थाओं का अनुभव करना है। जो व्यक्त और अव्यक्त, दृश्य और अदृश्य अनुभवों को देखता है, वही सर्वद्रष्टा कहलाता है।

क्या मनुष्य सर्वद्रष्टा है? नहीं। अपने शरीर में कब, कहाँ, क्या हो रहा है, हम यह भी नहीं जान पाते हैं। यह भी मालूम नहीं कि वस्तुत: हम हैं कैसे? अच्छे या बुरे? हमारी भावनाएँ, हमारे संस्कार, हमारे कर्म किस प्रकार के हैं? ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ, मोह आदि कितनी मात्रा में विद्यमान हैं? इन सभी बातों से अनभिज्ञ रहने के कारण मानवीय स्थिति सर्वद्रष्टा की स्थिति नहीं कहला सकती है। जो चारों ओर, भीतर-बाहर देख सकता है, अपने आपको परख सकता है और परख कर ज्ञानार्जन कर सकता है, वह 'सर्वद्रष्टा' पुरुष है।

हजार पैर क्रियात्मक-सत्ता या शक्ति के प्रतीक हैं। मनुष्य के क्रम विकास के पीछे अन्तर्निहित शक्ति बीज-शक्ति है। यह चेतना के विकास और आत्म-विकास की परिचायक होती है।

पैर का मतलब चलने के काम में आने वाला अंग ही नहीं अपितु क्रियात्मक-सत्ता है, जिसे दर्शाने के लिए परब्रह्म पुरुष चराचर जगत् में हमेशा क्रियाशील और चलायमान रहता है। यह मानवीय क्रम-विकास का द्योतक है। विकास के पीछे अन्तर्निहित शक्ति वह पुरुष है एवं उस क्रम-विकास को रोका नहीं जा सकता है। उदाहरण के लिए, शरीर-जन्म से देहान्त पर्यन्त शरीर के प्रतिदिन होने वाले विकास-क्रम को हम रोक नहीं सकते। जैसे ही हमारा जन्म होता है उसी क्षण से हमारे शरीर में निर्माण और विनाश की प्रक्रिया एक साथ आरम्भ हो जाती है। शैशव, यौवन, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु के प्रति उन्मुख शरीर-यात्रा के क्रमिक-विकास को न हम देख पाते हैं, न समझ पाते हैं और न रोक पाते हैं। शरीर के समान ही चेतना के विकास-क्रम को भी हम रोक नहीं सकते हैं।

विकास-क्रम का जो शक्ति-स्रोत है, मूल बीज-शक्ति है, वह चेतना के विकास को दर्शाता है। यह प्रक्रिया बौद्धिक या विचारात्मक विकास की नहीं अपितु आत्म-विकास की है। चेतना के विकास का तात्पर्य आंतरिक सजगता या अंतर्जागृति से है।

जागृति की अवस्था में प्राणी के भीतर कर्म क्षमता उत्पन्न होती है और वह क्रियाशील होकर विकास-क्रम की ओर अग्रसर हो जाता है। इस प्रकार चेतना का सम्बन्ध जागरूकता या सजगता से है और चेतना जागृति का तात्पर्य ज्ञान, कर्म एवं क्रियाशीलता की क्षमता से है। 'सहस्रशीर्षा:' शब्द सम्पूर्ण सृष्टि और शून्य-मात्र से उत्पन्न चराचर जगत् एवं जीवन-मात्र के अस्तित्व का द्योतक है।

कहा गया है कि पुरुष भूमि को चारों ओर से व्याप्त कर, उससे परे दस अंगुल प्रमाण में फैला है। भूमि या सृष्टि, चराचर जगत् में जिस भी पदार्थ का अनुभव होता है, वह पंचतत्त्वों के मिश्रण से उत्पन्न परिणाम है। भूमि का तात्पर्य व्यक्त प्रकृति से है। प्रकृति की अनुभूति के साधन और माध्यम हैं-पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच तत्त्व, पंच तन्मात्राएँ एवं मन: चतुष्टय। इन सबके परे शुद्ध, निर्लिप्त, विकार रहित चेतना का वास है, जिसे आत्मा के नाम से संबोधित किया गया है। वह आत्मा प्रकृति का एक अंग बनकर भी प्रकृति बंधन से मुक्त एवं स्वतंत्र है। वही आत्मा पुरुष है, वही आत्मज्ञान स्वातंत्र्यावस्था है।

वह पुरुष सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, सतत्-चलायमान और क्रियाशील है। वह व्यक्त और अव्यक्त, दोनों चराचर जगत् का द्रष्टा है। वह इस दृश्य जगत् या प्रकृति में व्याप्त है और इससे परे भी विद्यमान है।

विशेष

पुरुष सूक्त चारों वेदों और शतपथ ब्राह्मण में संकलित पाया जाता है। यह इसके महत्त्व की ओर संकेत करने के लिए पर्याप्त है। यजुर्वेद में 'विश्वतो वृत्वा' के स्थान में 'सर्वत: स्पृत्वा' का प्रयोग हुआ है।

अथर्ववेद में 'सहस्रशीर्षा:' के स्थान में 'सहस्रबाहु:' शब्द का प्रयोग किया गया है। काव्यात्मक दृष्टि से सहस्रबाहु: शब्द और दार्शनिक दृष्टि से सहस्रशीर्षा: शब्द उपयुक्त है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में केवल 1 से 16 तक की ऋचाएँ ही संकलित हैं। यजुर्वेद इन सोलह ऋचाओं को 'षोडशकल-ब्रह्मोपासना' और 'पूर्व-नारायणी' नाम से सम्बोधित करता है। यजुर्वेद में और भी छ: मन्त्रों का संकलन है, जिन्हें शतपथ ब्राह्मण (13-6-2-12) में 'उत्तर-नारायणी' कहा गया है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

सहस्त्र – पु., सह: बलं राति ददाति इति सहस्त्रं, हस्त्रेण सहितं इति सहस्त्रं–(हास, मादकता-युक्त), हननेन सहितं इति सहस्त्रं–(अनित्यतापूर्ण) (अन्तरिक्ष, पृथ्वी, द्यौ: त्रिपूर्णं मधूनिं–ये तीनों ही मादकता से युक्त माने गये हैं), समानं हसति इति – (हस्+र) = सहस्त्रं। सहस्त्रं = हजारों (दशशत संख्यायां, बहुसंख्यायां)।

शीर्ष –पु., शीर्षा: – पु., शिरस् वा शीर्षादेश:। मस्तके शृ हिंसायाम्–शीर्यन्ते इति शीर्षम् – शीर्यन्ते अज्ञानं अस्मिन् इति शीर्षम्। शीङ् स्वप्ने – शेरते ज्ञानेन्द्रियाणि अस्मिन् इति शीर्षम्।

सहस्त्रशीर्षा: – हजारों सिर वाला। सहस्त्र शब्दस्य उपलक्षणत्वाद् अनन्तै: शिरोभि: युक्त: इत्यर्थ:। यानि सर्वं प्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्त: पातित्वात्तदीयान्येवेति सहस्त्रशीर्षत्वम्। 'सहस्त्र' शब्द केवल उपलक्षण है। अभिप्राय यह है कि वह अनन्त सिरों से युक्त है।

सहस्त्राक्ष: – हजार आँखों वाला। सहस्त्रं अक्षीणि यस्य स:। सहस्त्र+अक्षिन्–समासान्त षच् प्रत्यय, टि का लोप – सहस्त्राक्ष:।

सहस्त्रपात् – हजार पैरों वाला। सहस्त्रं पादा: यस्य स:। सहस्त्र+पाद् 'पादस्यलोपोऽहस्त्यादिभ्य:' सूत्र से पाद के अ का लोप होता है। 'सहस्त्राक्ष:' और 'सहस्त्रपात्' सहस्त्र के साथ बनने वाले बहुव्रीहि समास के केवल दो ऐसे शब्द हैं, जिनका स्वर नियमानुसार नहीं है।

पुरुष: – पु., पुरिशेते इति पुरुष:। पुरिषदतीति पुरुष: (बृ.अ.उ. 34:1-4-17, श.ब्रा. 13-6-2-1)। पुर+शीङ् स्वप्ने धातु से 'क' प्रत्यय होकर वैदिक निपातनात् रूप बना हुआ है। छन्दपूर्ति के लिए उकार हुआ है।

पुरुष: – प्रथमा विभक्ति, एक वचन। पुरुष: पुरिषाद: पुरिशय:–पुर अर्थात् शरीर में बैठने वाला, शरीर में रहने वाला पुरुष कहलाता है। पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य। अन्तर् पुरुष अन्तर्यामी परमात्मा के अभिप्राय से पूरणार्थक धातु से बना है। परमात्मा सर्वत्र पूर्ण है, इसके

प्रमाण देते हैं–'यस्मात् परं नापरमस्ति किंचित् यस्मान्नाणी यो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥' (नि. प्र., अ. 2,ख,3) (श्वे. उ. 3-9) इत्यपि निगमो भवति। जिस परमात्मा से न कुछ परे (अधिक व्यापक) है और न कुछ ऊपर (सूक्ष्म) है। जिससे न कुछ छोटा (आणविक) है और न कुछ उससे बड़ा (बृहद) है, आकाश में वृक्ष के समान जो अकेला ही अविचल रूप से स्थित है, उस पुरुष से यह जगत् व्याप्त है। श्वेताश्वतर उपनिषद् 3-9 और निरुक्त के वचन भी इसमें प्रमाण होते हैं।

नाना इमे वै लोकाः पूः। अयमेव पुरुषोयोऽयं पवते। सोऽस्यां पुरिशेते-तस्मात् पुरुषः इति (श.ब्रा.) सोऽस्यां पुरिशेते तस्मात्पुरुषः (तै.उ. 34-2-3-4)। सर्व प्राणि समष्टि रूपो ब्रह्माण्ड देहो विराडारव्यो यः पुरुषः इति सायणः। 'नारायणाख्य' इत्युव्वटः। 'सर्वत्र पूर्णोजगदीश्वरः' इति दयानन्दः। पुरः – स्त्री., पिपर्ति-ष्ट दीर्घे क्विप्। नगर्याम्। पुर-अग्रगमने+क – गेहे-देहे। पुरिः – स्त्री., पूर्यते इति – पृ+'कृगृशृपृकुटीति' इ, स चकित्। पुरी – नदी, शरीरम्। पुरुषः – पु., पुरति अग्रे गच्छतीति। पुर+'पुरः कुषन्'। इति कुषन्=आत्मा। सायण के मत से सब प्राणियों का समष्टि रूप, ब्रह्माण्ड के समान देह धारण करने वाला विराट् नामक पुरुष है। उव्वट के मत से नारायण नामक पुरुष है। महर्षि दयानन्द के मत से सर्वत्र पूर्ण परमेश्वर पुरुष है। पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषि देवताः। शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ 'इति भागवते'। पुरु संज्ञे शरीरेऽस्मिन् शयनात् पुरुषोहरिः शकारस्य षकारोऽयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते 'इति शंकर विजये' (अ. 13, पृ. 331)। पिपर्ति पूरयति बलं यः, पुर्षु शेते य इतिवा पुमान् पुरुषः – कुम्भीकः, पुरुषस्तुंगः पुन्नागो–रक्तकेशरः – 'इति वैद्यक रत्नमालायाम्'। पुरुषः विष्णुः – एवं पुराणः पुरुषो विष्णुर्वेदेषु पठ्यते। अचिन्त्यश्चाप्रमेयश्च गुणेभ्यश्च परस्तथा 'इति हरिवंशे' (128-20)। पुरुषः शिवः – याम्यायाव्यक्तरूपाय सद्वृतेशंकराय च क्षेभ्याय हरिकेशाय स्थाणवे पुरुषाय च। इति 'महाभारते' (14-8-14)। पुरुषः जीवः – प्रकृतिः क्षरमित्युक्तं पुरुषोऽक्षर उच्यते। ताविमौ प्रेरयत्यन्यः स परः परमेश्वरः – इति 'शिव पुराणे'। पुरुषः दुर्गा – महानिति च योगेषु प्रधानश्चैव कथ्यते। त्रिगुणा व्यतिरिक्ता सा पुरुषश्चेति चोच्यते – इति 'देवी पुराणे'। पुरुषः मेष मिथुन सिंह तुला धनुः कुम्भ राशयः – 'क्रूरोऽथ सौम्यः पुरुषोऽङ्गनाच ओजोऽथयुग्मं विषमः समश्च। चर स्थिर द्वयात्मक नामधेया मेषादयोऽभी क्रमशः प्रदिष्टाः – इति 'ज्योतिष्तत्त्वम्' (134)।

यह पुरुष सब पुरियों का या तत्त्वों का वासी अर्थात् उनमें सोने वाला है (श.ब्रा. 14-5; 5-18)।

पुरुष सोम पवमान है, उसकी पुरी में सोने से पुरुष है (श.ब्रा. 16-6-2-1)।

पुरुष प्राण रूप सोने वाला पुरुष है (गो.पू. 1-39)।

यह पुरुष प्राण रूप होने से ब्रह्म और अमृत है (जै.उ. 1-25-10)।

पुरुष यज्ञ का नाम है (श.ब्रा. 3-1-4-23, सभी ब्राह्मणों में)।

पुरुष आप: का गर्भ है (गो. 95-1-39)।

पुरुष उद्‌गीथ है (जै.उ. 1-33-9, 4-9-1)।

पुरुष अग्नि है (श. ब्रा. 10-4-1-6, 14-9-1-15)।

पुरुष सविता है, होमा है, चक्षु है, नारायण है (जै.उ. 34-27-17)।

पुरुष शतायु शतपर्वा है (कौ. 18-10)।

शतवीर्य, शतेन्द्रित है (तै. 3-5-15-3, कौ. 25-7, ऐ. 2-17, 4-19)।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर:॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम:। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम:॥ (गी. 15:16, 17, 18)।

भूमिम् – स्त्री.। भवन्ति भूतान्यस्यामिति। भू – सत्तायाम्+मिक्+ङीप्। (भू+'भुव: कित्' इति मि स च कित्) पृथ्वी, यज्ञवेदी, परिष्कृता भू:, जिह्वा, योगिनामवस्था विशेष: – यथा – 'निरुद्धे चेतसि पुरा सविकल्प समाधिना निर्विकल्प समाधिस्तु भवेदत्र त्रिभूमिक:। व्युत्तिष्ठते स्वतन्त्राद्ये द्वितीये पर बोधित: अन्ते व्युत्तिष्ठते नैव सदाभवति तन्मय:। एवं प्राग्भूमि सिद्धावप्युत्तरोत्तर भूमये विधेया भगवद् भक्तिस्तां विना सा न सिद्धयति।' (योग शास्त्रे 156)। ब्रह्माण्ड गोलरूपान् इति सायण:। भुवन कोशस्य भूमिरिति – उव्वट:। भूमि पद का अर्थ सायण के अनुसार ब्रह्माण्ड लोकों की भूमि या पंचमहाभूत है। उव्वट के अनुसार भुवन कोष की भूमि है। भूमिम् – द्वितीया विभक्ति, एकवचन। भूमिम्=भूमि को।

दशांगुलम् – दशन् – त्रि. दशन्+कीनन्। दश संख्या विशेषे। दशानाम् अंगुलीनाम् समाहारः। दश+अंगुली – समासान्त अच् प्रत्यय, टि का लोप=दशांगुलम्। अंगुल – पु. अंग+उल (स्त्रियां वाङीप्) करशाखा, शरीरावयव विशेषः, कायमंगुलिमूलेऽग्रे देवं पित्र्यं तयोरधः इति मनुः। दशांगुलम् में अंगुली शब्द प्राणों का और दश शब्द प्राणों की दस संख्या का वाचक है। वह पुरुष दस प्राणों में स्थित है। हस्तपाद शाखायां आंगुल इति ख्यातायाम्, वात्स्यायनमुनौ, अंगुष्ठे च। यवोदरैरंगुलयष्ट संख्यैरिति भास्कराचार्योक्तेः, अष्ट यवोदर परिमाणे तु नः। 'दशांगुलम्' इत्युपलक्षणम्– ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्य स्थितः इत्यर्थः – इति सायणः। यह दशांगुल पद उपलक्षण मात्र है। ब्रह्माण्ड को घेरकर और दस अंगुल बाहर तक भी वह व्याप्त है, अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी सर्वत्र व्याप्त होकर विराजता है। दश च तानि अंगुलानि दशांगुलानीन्द्रियाणि। केचिदन्यथा रोचयन्ति दशांगुलप्रमाणम् हृदयस्थानम्। अपरे तु नासिकाग्रम् दशांगुलम् – इत्युव्वटः। दश अंगुल दस इन्द्रियाँ हैं। आत्मा उनसे परे है, उनको विषय गोचर नहीं है। कई लोगों के मत में हृदय दस अंगुल प्रमाण है, वह पुरुष उसमें विराजता है। कोई नासिकाग्र के आगे दस अंगुल मापते हैं। 'पंचस्थूल सूक्ष्मभूतानि दशांगुलान्यंगानि यस्य तत् जगत्।' इति दयानन्दः। पांच स्थूलभूत और पांच सूक्ष्मभूत, इन दस अंगों वाला जगत् दशांगुल कहलाता है, ऐसा महर्षि दयानन्द का मत है। वह परमेश्वर इस समस्त जगत् को व्याप्त कर विराजता है, जैसा कि लिखा भी है – 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।' (नि. 2-3, श्वे.उ. 3-9)।

विश्वतः – विष्लृ व्याप्तौ – वेवेक्ति इति। विश् प्रवेशने – विशति इति। विस् प्रेरणे – विस्यति इति। विश्व+तस्=चारों ओर से।

वृत्वा – वृतु वर्तने – वर्तते इति। वृञ् वरणे – वृणोति इति। वृ+क्त्वा। वृत्वा=व्याप्त करके।

अतिष्ठत् – ष्ठागतिनिवृतौ – लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन। अतिष्ठत्= पार करके स्थित है।

पुरुष एवेद्ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानः यदन्नेनातिरोहति ॥2॥

अन्वय

इदम् सर्वम् पुरुषः एव। यत् भूतम् यत् च भव्यम्। उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति।

अनुवाद

यह दृश्यमान ब्रह्माण्ड रूप जगत् पुरुष है। जो भूतकालीन, अतीत जगत् हो चुका है और जो भविष्यत् कालीन जगत् होने वाला है, वह भी सब पुरुष है। जैसे वर्तमान में सभी प्राणियों के शरीर विराट पुरुष के अवयव हैं, उसी प्रकार अतीत और अनागत काल भी विराट पुरुष के अवयव हैं।

पुरुष देवत्व एवं अमरत्व का स्वामी है। पुरुष जीवों द्वारा भोग्य निमित्त-कारण भूत अन्न के द्वारा अपनी कारणावस्था को पारकर, परिदृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त कर बढ़ता है। जीव-कृत कर्मफल के भोग के लिए इस दृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त होता है।

व्याख्या

पुरुष ही यह सब कुछ है। उसी में यह सब कुछ व्याप्त है। वह भूत, वर्तमान और भविष्यत् है। तीनों काल उसी की सृष्टि हैं। जो कुछ हो चुका है, जो होने वाला है और जो हो रहा है, वह वर्तमान भी पुरुष है। 'जो कुछ' का तात्पर्य केवल उससे नहीं है जो प्राणी को दिखलाई दे या जिसका उसे ज्ञान हो, अपितु वह भी है जो उसके दृश्य एवं ज्ञान परिधि के बाहर है।

इस मंत्र में जीव की चर्चा की गई है। जीव ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् का अनुभव करता है तथा उन्हें जानने का प्रयास करता है। यह जीव की उस विशेष अवस्था का द्योतक है जो प्राकृतिक सीमाओं के अन्तर्गत, प्रकृति निर्मित नियमों तथा बंधनों से स्वयं को जकड़ा पाता है। इस मंत्र में जीवात्मा शब्द का प्रयोग शब्दतः तो नहीं किया गया है, किन्तु अमरत्व की चर्चा अवश्य की गई है। अमरत्व वही प्राप्त कर सकता है जो स्वयं को प्रकृति के बंधनों से मुक्त कर सके। सृष्टि और संहार प्रकृति के पाश, बन्धन हैं। बन्धन का प्रथम चरण सृष्टि या सृजन प्रक्रिया है और अन्तिम चरण संहार या लय।

सृष्टि के प्रारंभ से लय तक जीव अपने आपको बंधन में जकड़ा हुआ अनुभव करता है। सृष्टि और संहार के बंधन में पड़े हुए जीव की यह स्थिति केवल व्यक्त, दृश्य जगत् में ही हो सकती है, अव्यक्त में नहीं।

उदाहरणार्थ – नींद में सोते हुए किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर यह ज्ञात नहीं हो पाता है कि उसके प्राण कब निकले, किन्तु जाग्रतावस्था में मृत्यु होने पर छटपटाहट, बेचैनी आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। योगियों का कथन है कि एक बार बन्धन में आ जाने के पश्चात्, अविद्याग्रस्त जीव जगत् के बन्धन को त्यागना ही नहीं चाहता है। यदि त्यागने का प्रयास करता भी है तो उसके भीतर प्रबल रूप से मोह और आसक्ति उत्पन्न होने लगती है। इस स्थिति को देखते हुए हम यहाँ जीव का मतलब 'बन्धन-युक्त प्राणी' और आत्मा का मतलब 'बन्धन-मुक्त अवस्था' लगा सकते हैं। बन्धन मुक्त अवस्था में भी 'अहं' का आभास होते रहने के कारण आत्मा-परमात्मा की एकरूपता संभव नहीं हो पाती है।

चेतना (Consciousness) + शक्ति (Energy) = ब्रह्म (कारण) है। चेतना+शक्ति+अहं (Individuality) = आत्मा (सूक्ष्म) है, और चेतना+शक्ति+अहं+आकार या अभिव्यक्ति (manifestation) = जीवात्मा (स्थूल) है।

इस मंत्र में अमरत्व की चर्चा की गई है। परब्रह्म पुरुष प्राणी को बन्धन मुक्त कर अमरत्व प्रदान करता है। बन्धन मुक्ति की दिशा में प्रयास करने पर पहले आकार या अभिव्यक्ति को हटाना पड़ता है। आकार के हट जाने पर तीन बच जाते हैं। इस स्थिति का बोध हो जाने पर अहं की अनुभूति समाप्त होते ही प्राणी अपने बन्धन से मुक्त हो जाता है। बन्धन मुक्ति अर्थात् सृष्टि और संहार के चक्र से मुक्ति तथा अमरत्व की प्राप्ति। परमात्मा, आत्मा और जीवात्मा में फर्क नहीं है, अंतर केवल 'अहं' के कारण है। अहं को खत्म करते ही अंतर समाप्त हो जाता है। 'फूटही कुम्भ, जल जलहि समाना।'

पुरुष दृश्य-अदृश्य, बोधगम्य-अबोधगम्य दोनों है। सृजन-संहार के नियमों से परिवेष्ठित, प्रकृति के बन्धन से बंधा हुआ जीव भूत, वर्तमान और भविष्यत् को जानने की कोशिश करता है, छुटकारे का प्रयत्न नहीं। भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब उस परम पुरुष की ही अभिव्यक्ति है। वही अविनाशी पुरुष अमृतत्व का स्वामी और मोक्ष-प्रदाता है।

विशेष

यजुर्वेद में 'भव्यम्' के स्थान पर 'भाव्यम्' पाठ है। अर्थ दोनों का समान है। अथर्ववेद ने इस ऋचा को चौथे मंत्र में दिया है, जिसमें ईशान के स्थान पर 'ईश्वर' और 'यदन्नेनातिरोहति' के स्थान पर 'यदन्नेनाभवत्सह' का पाठान्तर है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

भूतं – भू सत्तायां+क्त, भवतीति। भूतं=जो हो चुका है।

भव्यम् – भू सत्तायां+यत्=भव्यम्। भव्यम्=जो होगा।

अमृतत्वस्य – अमृतस्य भाव: अमृतत्वं। नञ्+मृङ् प्राणत्यागे+क्त=अमृत। अमृतस्य भाव: में त्व प्रत्यय। अमृतम्-क्ली. (मृ+'भावेक्त') नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तत्, तत्पायिनां मरणाभावात् तस्य तथात्वम्, मुक्ति:, पीयूषं, सुधा इति। समुद्रोद्भवदेवमक्ष्याभरत्व जनक द्रव्य विशेष:, निर्जर:।

'यदा पृथुराजभयेन पृथ्वी गौर्भूता तदा देवा इन्द्रं वत्सं कृत्वा हिरण्यमयपात्रेऽमृतरूपं पयोऽदूदुहन्, तत्तु दुर्वाससः शापात् समुद्रमध्ये गतं पश्चात् समुद्र मथनेऽमृतपूर्ण कलशं गृहीत्वा धन्वन्तरिरुत्थित:।' इति भारत भागवते (648)। अमृतं यज्ञशेषद्रव्यम्, अयाचित वस्तु, परब्रह्म, सूर्य: सुरपति: इन्द्र:, आत्मा च –

इन्द्रियेभ्य: पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन:
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर:।
महत: परभव्यक्तमव्यक्तादमृत: पर:
अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागति:॥

'अमृतत्वस्य ईशान:' पद की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। अमृत का अर्थ जल, सुधा और मोक्ष भी है। वह पुरुष जल, सुधा या मोक्ष का स्वामी है।

ईशान:–पु., ईष्टे, ईश् ऐश्वर्ये+शानच्, चानश्। 'ताच्छील्यवयौवचन शक्तिषु चानश्' इति चानश्वा, महादेव:, परमेश्वर:, शिवस्य अष्टमूर्तिमध्ये सूर्य्यमूर्तौ च। 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति श्रुति:। ईशान: = स्वामी।

अन्नेन – अन्नं–क्ली., अनिति जीवतनेन, जीविकोपायत्वात्। अनप्राणने, अद् भक्षणे+'कर्मणि' क्त=अन्नं स्विन्न तण्डुलं, यज्ञोहिदेवानामन्नम् (श.ब्रा., 5-1-1-2)। अदनीय द्रव्य मात्रम्। अन्नंसोमो अन्नादश्च (श.ब्रा., 1-5-2-17, तै.उ. 34)।

सस्यं क्षेत्रगतं प्राहु: सतुषं धान्यमुच्यते।
आमं वितुषमित्युक्तं स्विन्नमन्नमुदाहृतम्॥
ब्रह्म-हत्या कृतं पापमन्नदानात् प्रणश्यति।
अन्नद: पाप कर्मापि पूत: स्वर्गे महीयते॥
अन्नस्य हि प्रदानेन नरो याति परां गतिम्।
सर्वकाम समायुक्त: प्रेत्य चेहाधिकं शुभम्॥
अन्नमूर्ज्जस्वलं लोके दत्त्वोर्जस्वी भवेन्नर:।
सतां पन्थानमाश्रित्य सर्वपापै: प्रमुच्यते॥
अन्ने प्रतिष्ठिता लोका इति।
जीवदानात् परं दानं न किंचिदपि विद्यते।
अन्नाज्जीवति त्रैलोक्यं त्रैलोक्यस्येह तत्फलम्॥

'भोग्येन अन्नेन निमित्तभूतेन स्वकीयकारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति। तस्मात्प्राणिनां कर्मभोगाय जगदवस्था स्वीकारान्नेदम् तस्य वस्तुतत्वम्' इति सायण:।

यह चन्द्रमा, वृक्ष, सोम या अग्निरूप भौतिकात्मा अग्निरूप उदर भी है और स्वयं पोषक तत्त्व भी अन्न की तरह है।

भोग्य अन्न के कारण अपनी कारण दशा से पार होकर पुरुष दृश्य जगत् का रूप प्राप्त करता है। फल भोग के लिए वह जगत् की दशा में आता है, लेकिन वह वैसा है नहीं। सायण के मत में ब्रह्म परिणामी हो जाता है। जीवों के कर्मफल भोग के लिए जीव शरीर धारण करे, यह युक्ति-युक्त है। ईश्वर ही स्वयं ब्रह्माण्ड शरीर में बंधे, यह अनुचित है।

अतिरोहति – अति+रुह् प्ररोहे+लट्। प्र. एकवचन। अतिरोहति=बढ़ता है। यह शब्द सृष्टि वृक्ष की ओर संकेत करता है। अतिरोहण सदा वृक्ष का ही होता है। इस अखिल ब्रह्माण्डीय सृष्टि-वृक्ष के अतिरोहण का क्रम इसी अन्न नाम सोम, चन्द्रमा या भौतिकात्मा के अभ्युदय के पश्चात् होता है।

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥3॥

अन्वय

एतावान् अस्य महिमा। पुरुषः च अतः ज्यायान्। विश्वा भूतानि अस्य पादः। अस्य त्रिपात् अमृतम् दिवि।

अनुवाद

यह दृश्य जगत् परम पुरुष की महिमा और महान् सामर्थ्य का प्रतीक है। वह पुरुष इससे भी बढ़कर है। उत्पन्न होने वाले समस्त प्राणी, पृथ्वी आदि लोक, उस पुरुष के चतुर्थ अंश के रूप में हैं। शेष तीन अंशों वाले परमेश्वर का तेजोमय स्वरूप नित्य, अविनाशी, स्वप्रकाशित अमृत रूप है।

व्याख्या

अतीत, अनागत, वर्तमान रूप कालत्रयवर्ती यह दृश्य जगत् उस पुरुष के सामर्थ्य और महिमा का प्रतीक है, उसका वास्तविक स्वरूप नहीं। वास्तविक रूप इससे भी अधिक, अतिशय विराट् तथा इस दृश्य जगत् से परे है। उसके एक अंश से इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। उसी ने भूत, भविष्य और वर्तमान जैसे कालों का निर्माण किया है। कालत्रयवर्ती सम्पूर्ण जगत् इस पुरुष का केवल एक पाद (चौथाई अंश) है। इस पुरुष के अवशिष्ट तीन पाद (तीन चौथाई अंश) अविनाशी रूप से द्योतनात्मक स्वप्रकाशरूप द्युलोक में अवस्थित रहते हैं।

यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.आ. 8-1, तै.उ. 2-1) इत्याम्नायस्य परब्रह्मणः इयत्ताभावात् पाद चतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षया अत्यल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः। इति सायणः।

तैत्तिरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' शब्दों के द्वारा परब्रह्म का स्वरूप-बोधक लक्षण बताते हुए कहा है कि परमात्मा नित्य, सत्, ज्ञान-स्वरूप और अनन्त अर्थात् देश-काल की सीमा से परे है। इयत्ता के अभाव के कारण परब्रह्म के चतुष्पाद का निरूपण सर्वथा असंभव है। यह जगत् परब्रह्म स्वरूप की अपेक्षा अत्यल्प

है, यही बताने के लिय यहाँ त्रिपाद् शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुत: यह दृश्य जगत् उस पुरुष की महिमा का प्रतीक है। वह परम पुरुष इस दृश्य जगत् से भी परे है। उसके एक अंश से विश्व की उत्पत्ति हुई है। वह विश्व में भूत, भविष्य और वर्तमान को सजाए हुए है। उसके तीन अंश अमरता का प्रतिनिधित्व करते हुए दृश्य-जगत् के परे हैं। उदाहरणार्थ, जैसे समुद्र में प्लावी हिमशैल का मात्र एक चौथाई भाग ऊपर दिखाई पड़ता है और शेष तीन चौथाई भाग जल के भीतर डूबा रहता है, उसी प्रकार परब्रह्म पुरुष का मात्र एक अंश प्रकट सृष्टि का द्योतक है और शेष तीन अंश अव्यक्त, अमरत्व के प्रतीक हैं।

इस मंत्र का जो भाव है, वही भाव अथर्ववेद के 'अर्धेन विश्वं भुवनं जजान। पादस्यार्धक्व तद् बभूव' और यजुर्वेद के 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त: अजायमानो बहुधा विजायते' मंत्रों में दिखलाई देते हैं।

विशेष

अथर्ववेद में 'एतावान्' की जगह 'तावन्तो' और 'अत:' के स्थान पर 'तत:' का पाठ है। परन्तु अर्थ में अन्तर नहीं है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

एतावान् – एतद्-त्रि. इण्-अदि तुकृ च=एतद् पुरोवर्तिनि बुद्धिस्थे। एतद्+मतुप्। 'आ सर्वनाम्न...' सूत्र से आकार आदेश। एतावान्=इतनी विस्तृत।

महिमा – पु., महतोभाव: इमनिच् डित्वेन टि लोप:। महत्+इमनिच्=महिमन्। महत्वे, ईश्वरे, ऐश्वर्य भेदे च। महिमा=महत्व। महिमा=प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

ज्यायान् – 'अयमनयो: अतिशयेन प्रशस्य:' अर्थ में वृद्ध और प्रशस्य का अदिष्ट रूप ज्ञा अवबोधने धातु से ईयसुन् प्रत्यय होकर 'ज्य च' सूत्र से प्रशस्य के स्थान पर 'ज्य' आदेश और ईयसुन् के 'ई' को 'आ' आदेश। ज्यायान्=अधिक विराट्।

त्रिपात् – त्रयाणां पादानां समाहारः। 'पादस्यलोपोऽहस्त्यादिभ्यः' सूत्र से पाद के 'अ' का लोप।

पादः – पु., पद्गतौ+णिच्+क्विप्। पद् गतौ+'करणे' घञ्। पद्यते गम्यते अनेन इति पात्। पत् अङ्घ्रि, अंहि, चरणे, पादे। मयूखः, तुरीयांशः, शिवः। त्रिपात्=तीन चौथाई।

विश्वा – विश्वः – त्रि., विश् प्रवेशने+क्वन्। 'अशूप्रषिलटि फणीति' क्वन्। सकलं, सर्वं, समग्रं, समस्तं, कृत्सनं। विश्वः का वैदिक रूप विश्वा। विश्वा=सम्पूर्ण।

भूतानि – भूतं–न., भूसत्तायाम्+क्त। पृथ्वी जल तेजो वायु गगन रूपेषु-गन्धादि विशेष गुणवत्सु द्रव्येषु, सत्ये, यथार्थे, योगीन्द्रे। भूतानि=प्राणी, जीव। भूतानि–प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

दिवि – दिवि-पु., द्यु अभिगमने दिव्+क्विप्, ष्ट ह्रस्वः। बाहुलकात् तुगभावः। अग्नौ, सूर्ये, आकाशे, स्वर्गे। दिवि – सप्तमी विभक्ति, एकवचन। दिवि=द्युलोक में। मैक्डौनल्ड ने दिवि का अर्थ स्वर्गलोक में और पीटर्सन ने आकाश में किया है।



त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवात् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥4॥

अन्वय

त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्वः उदैत्। अस्य पादः इह पुनः अभवत्। ततः साशनानशने अभि विष्वङ् व्यक्रामत्।

अनुवाद

संसार रहित, तीन अंशों वाला यह विराट् पुरुष सबसे ऊँचा, संसार से पृथक्, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप होकर जगत् से ऊपर है। वह विश्व के समग्र गुण-दोषों से रहित है। उसका एक अंश इस संसार में व्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। उस एक अंश से ही वह परम पुरुष खाने वाले चेतन और न खाने वाले जड़ चराचर जगत् को अभिलक्षित कर विविध रूपों को धारण कर सर्वत्र व्याप्त है।

व्याख्या

यह मंत्र पिछले मंत्र की पुनरावृत्ति है। इसमें बतलाया गया है कि तीन पादों वाला परम पुरुष अव्यक्त रूप में व्यक्त जगत् की परिधि से बाहर है।

'संसरति इति संसारः' 'गच्छति इति जगत्'– संसार का मतलब है जन्म-मृत्यु, बन्धन और मुक्ति का निरन्तर चलने वाला प्रवाहमान् चक्र। यह पुरुष मायामय संसार, अज्ञानकार्य रूपी दृश्य जगत् की उत्पत्ति का कारण है। उसके एक अंश से यह सारा दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें सजीव-निर्जीव, जड़ और चेतन दोनों समाहित हैं। यह सम्पूर्ण दृश्य जगत्, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पंचमहाभूतों से निर्मित है। भूत का तात्पर्य सूक्ष्म अवस्था और तत्त्व का तात्पर्य स्थूल अवस्था से है। इनका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है।

सांख्य और योग दर्शन किसी भी पदार्थ को निष्प्राण नहीं मानते। सजीव से तात्पर्य यहाँ मनुष्य, पशु, पक्षी के अतिरिक्त पेड़-पौधे, पाषाण आदि से भी है। जीवन का मतलब सभी पदार्थों में सन्निहित चेतना शक्ति से है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु के भीतर भी ऊर्जा का स्पन्दन होता है, वहाँ भी चेतना का निवास है। जहाँ भी, जिस अवस्था में शक्ति और चेतना का संचार होता है, उसे निष्प्राण नहीं माना जा सकता है।

चराचर जगत् का अधिष्ठाता, परम-पुरुष समग्र गुण-दोषों से अस्पृष्ट, उत्कृष्ट रूप में स्थित है। उसका केवल एक पाद (चतुर्थांश) ही माया रूप जगत् के रूप में प्रकट होता है, अर्थात् सृष्टि क्रम में उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। संसार में रूप उत्पन्न होने के पश्चात् माया रूप में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि नानाविध चेतन और पर्वत, नदी, वनस्पति आदि अचेतन रूप, दोनों प्रकार के चराचर जगत् को अभिलक्षित कर स्वयमेव वह विराट् पुरुष सर्वत्र स्थित हो जाता है। वह जरा, जन्म, मृत्यु आदि के बन्धनों से मुक्त है। अव्यक्त रूप में वह सृष्टि की परिधि से बाहर है।

जगत् में लेशमात्र परमात्मा की अवस्थिति के बारे में गीता में कहा है– 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'॥ (गी. 10:42)।

विशेष

अथर्ववेद ने इस मंत्र को द्वितीय स्थान दिया है और द्वितीय को चतुर्थ स्थान में रखा है। अथर्ववेद पाठान्तर निम्नवत् है – 'त्रिभिः पद्भिः द्यामरोहत्पादस्येदाभत्पुनः'। 'व्यक्रामत् विष्वङ् शनानशने अनु'। इसके अनुसार 'त्रिपादूर्ध्वमुदैतपुरुषः' का अर्थ 'त्रिभिः पद्भिः द्यामरोहत्' हुआ। वह पुरुष तीन पादों से द्याम में आरूढ़ हुआ। यह भाव वामनावतार से लिया गया है जिसका वर्णन श.ब्रा. 1-2-3-5 से 10 तक में दिया गया है। वामनावतार विष्णु का मूल स्रोत 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'' (ऋ. 1-22-17) मंत्र है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

ऊर्ध्वः – त्रि. उत्+हाङ्+ड, आदि वर्गस्य ऊरादेशः पृषेदरादित्वम्। उच्चे, उपरि, उपरिष्टात्, दण्डवत् स्थितः। ऊर्ध्वः = जगत् से ऊपर।

ऐत् – इण् गतौ धातु, लङ्, प्र. एकवचन। उदैत्=ऊपर उठा हुआ है।

इह – अव्यय, इदम्+ह, इ आदेशः – अस्मिन् काले, देशे, दिशि वा। इह=इस भौतिक जगत् के रूप में।

पुनः – अव्यय, पुनर्+वीप्सायां द्वित्वम्। मुहुः मुहुः इति। पुनः = बार-बार।

उत – अव्यय, उ+क्त, विकल्पे, समुच्चये, वितर्के, प्रश्ने, अत्यर्थे च।

अभवत् – भू सत्तायाम्-लङ् प्रथम पुरुष, एकवचन। अभवत्=हुआ।

ततः – अ., तन्+क्त, व्यापे, विस्तृते। तद्+तस्=ततः=पश्चात्।

साशनानशने – अश् भोजने+'भावे' ल्युट्=अशन। अशनेन सहितः साशनः। अशनेन रहितः अनशनः। साशनश्च अनशनश्च साशनानशने–द्वन्द्व समास। अनशनम् – क्ली., उपवासः। न अशनं भोजनं – नञ् समास, भोजनाभावः।

भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले, चेतन और अचेतन। 'साशनानशने' पद का द्वन्द्व समास वैदिक पारिभाषिक शब्द है। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रारम्भ में ही इसका प्रयोग करते हुए लिखा है –'नैवेह किंचनाग्र आसीद् मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनो कुरतमन्वीस्यामिति' (बृ.उ. 1-1-1, श.ब्रा. 10-6-5-1)।

यहाँ पर अशनायया और अशनाया पदों का प्रयोग है। अशनाया की मृत्यु ही मृत्युरूप स्थिति है, वह स्थिति अशनाया है। भौतिकात्मा का स्वरूप इससे पहले था ही नहीं, जो कुछ था उसका भौतिक शरीर न होने से उसे मृत्यु या अशनाया स्वरूप कहा जा सकता है। आत्मा का भौतिकता से या शरीर से पृथक् रहना ही मृत्यु है, अशनाया है। तब इस भौतिक ब्रह्माण्ड के विकास-ह्रास का कोई कारण रहा ही नहीं। छा.उ. 6-8-3 में अशनाय की उत्तम और स्पष्ट व्युत्पत्ति देते हुए कहते हैं –'अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एवं तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनायः एवं तत्तेज आचक्षते उदन्येति।' आप एव तदशितं नयन्ते...अप आचक्षते अशनाय।'

अशनाय नाम 'अपः' या 'आपः' का है, आपः को धारण करना या भौतिकता को धारण करना अशनाय या अशनाया कहलाता है, जैसे गाय ले जाने वाला 'गोनाय' कहलाता है। इसीलिए कहा है – मृत्युरेवापः (बृ.उ.1-1-1)। ऐसी परिस्थिति में चतुष्पाद्-ब्रह्म उस अनशन और अशन रूप मृत्यु को चारों ओर से व्याप्त करके मनस्वी वाग्मी और अदिति के अत्ता रूप को प्राप्त हुआ। आदित्य रूप में या सूर्य, चन्द्र, सोम, वैश्वानर आदि देवों के मनः, वाक्, प्राण रूपों में विकसित हुआ। यहाँ पर साशनानशने एक शब्द है, अनशन

पूर्वार्द्ध है, अशन उत्तरार्द्ध। वह इन दोनों से युक्त पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों को (अभि) सर्वत: व्यतिक्रमण कर गया और इस मृत्यु रूप अशनाया को अपनी आत्मा बनाकर, मृत्युंजय रूप महादेव बन गया। 'स मृत्युंजयति मृत्युरस्यात्मा भवति।' (श.ब्रा. 10-6-5-8, 10-5-1-4)। मृत्यु संबोधन उन तत्त्वों का है जो आदित्य से अर्वाचीन हैं। जो इन तत्त्वों को अपनाता है वह मृत्यु से आप्त या व्याप्त हो जाता है। इस मृत्यु रूप आत्मा को विद्या से जीता जा सकता है, विद्या उसे आदित्यों से ऊर्ध्व, वसु, रुद्रों के पूर्व तत्त्वों में ले जाती है और इसी को ऊर्ध्वंचित कहते हैं। इस मृत्यु रूप तत्त्व का विस्तृत व्याख्यान पुन: शतपथ ब्राह्मण (10-5-2-3 से 18 तक के ब्राह्मणों) में दिया है। मृत्यु सम्बोधन मरने का नहीं बल्कि एक तत्त्व है, पुरुष का नाम है, अमृत है, मृत्यु के अन्तर्भाग में अमृत है। मृत्यु विस्वान् में बसती है। यह भौतिकात्मा अमृत है, अमर है। जब भौतिकात्मा मृत्यु का उच्छेद करके त्रिपादामृत शुद्ध रूप में रहती है, तब लोग कहते हैं कि मृत्यु हो गई। वहाँ समझना चाहिए कि मृत्यु पृथक् हो गई। तब उसे प्रेत कहते हैं – वह प्र+इत, अलग हो गया (वह अमर है)। ऐसी परिस्थिति में त्रिपादात्मा पुरुष प्राण रूप में अपने में सब आशयति करके रहता है, तब लोग कहते हैं कि वह 'स्वाप:' बन गया, सोता है या स्वप्नमय हो गया है। इस परिस्थिति में वह न तो कुछ ज्ञान रखता है, न मन से संकल्प करता, न प्राण से गन्ध लेता, न आँख से देखता और न कान से सुनता है। इन उपकरणों वाले शरीर से वह पृथक् हो गया, वह अनेकों बीजों को एक बीज रूप में समाविष्ट कर, एक होकर रहता है, तब उस मृत्यु को एक कहें या अनेक? उसे अनेक कहना चाहिए, वह समीप भी है, दूर भी है। इन्हीं दो रूपों को 'अशनाया-मृत्यु' या 'अशनानशने' कहते हैं। इसी को अत्ता कहते हैं, शरीर को अन्न कहते हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।' (ऋ.वे. 1-164-20)। इस ऋचा में 'स्वाद्वत्ति अनश्नन्' पद साशनानशने भाव को अभिव्यक्त करता है। ईशावास्योपनिषद् के 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' में भी यही भाव वर्णित है।

महीधर ने 'साशनानशने' का अर्थ स्वर्ग और मोक्ष किया है।

अभि – अव्यय, न भाति भा+कि। आभिमुख्ये, समन्तात्, अभिलाषे, वीप्सायां। अभि=ओर, तरफ, चारों ओर।

विष्वङ् – विषु+अंजूव्यक्तिभ्रक्षण कान्ति गतिषु+क्विप्। विषु सर्वतः अंचति गच्छति इति विष्वङ्। विष्वङ्=विविध रूपों वाला, चारों ओर।

वि – अव्यय, वा+कि। नियोगे, निश्चये, असहने, निग्रहे, हेतौ, अव्याप्तौ, ईषदर्थे। वि=विशेष रूप से।

अक्रामत् – क्रमुपादविक्षेपे – लङ् प्रथम पुरुष, एकवचन। अक्रामत्=व्याप्त करके स्थित है।

त्रिपात् – पु., त्रयः पादा अस्य – पाद भावः। त्रयाणां पादानां समाहारः। त्रिपात्=तीन चौथाई।

तीन अंशों वाला पुरुष, अविनाशी, परमात्मा, अक्षर और 'ॐकार' रूप है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान आदि कालों से अबाधित, सगुण और निर्गुण रूपों में विद्यमान्, आदि, मध्य और अन्त रहित, मायातीत, गुणातीत, अनन्त, प्रमाणों से अज्ञेय, अखण्ड, परिपूर्ण, अद्वितीय, परमानन्द स्वरूप, स्वयं प्रकाशमय, स्वयं ज्योतिरूप, सत्य-संकल्प, सत्य-स्वरूप, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, उपाधि रहित, व्यापक, आत्माराम, भेदहीन एवं अपरिच्छिन्न है। सच्चिदानन्द स्वरूप, मन-वाणी से अतीत, देश, काल और वस्तु से परिच्छेदहीन, निराकार, अवर्णनीय, तुरीय स्वरूप, प्रणव स्वरूप, समस्त मंत्रों का आश्रय, प्रणवात्मा रूप है। सभी श्रुतियों द्वारा परब्रह्म जानने योग्य है।

सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् परमात्मा स्वरूप ॐकार की महिमा का विस्तार है। अतीत, वर्तमान और अनागत कालों से अनुभव होने वाला यह सारा जगत् ॐकार रूप है। तीनों कालों से अतीत एवं जगत् से भिन्न जो भी तत्त्व है, वह भी ॐकार है। यह सब कुछ ब्रह्म है और यह आत्मा भी ब्रह्म ही है।

इस आत्मा का ओऽम् नाम से अभिहित ब्रह्म के साथ एकता करके तथा ब्रह्म की आत्मा के साथ, ॐकार के वाच्यार्थ रूप से एकता करके, उस अद्वितीय, जरा-मृत्यु रहित, चिन्मय, अमृत स्वरूप तत्त्व ओऽम् की अनुभूति की जा सकती है।

परमात्मा स्वरूप ॐकार में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों वाला एक परमात्मा ही सत्य है। उसी के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत् की कल्पना

हुई है। विवेक द्वारा अनुभव करके यह निश्चय किया जा सकता है कि यह जगत् सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा ही है। जगत् को ओऽम् के वाच्यार्थ परमात्मा में विलीन कर, उस सत्य को परिलक्षित किया जा सकता है।

स्थूल, विराट जगत् का भोक्ता, सूक्ष्म जगत्स्वरूप एवं सूक्ष्म जगत् का भोक्ता होने के कारण वह परमात्मा एकमात्र आनंद स्वरूप तथा आनंद मात्र का उपभोक्ता और उन सबसे विलक्षण, चार पादों वाला है। ब्रह्म के निम्न चार पाद हैं–(1) अविद्या पाद (2) सुविद्या पाद (3) आनन्द पाद और (4) तुरीय पाद।

(1) अविद्या पाद

मूल अविद्या प्रथम पाद में ही है, दूसरों में नहीं। विद्या, आनन्द एवं तुरीय के अंश सभी पादों में व्याप्त होकर रहते हैं। इन चार पादों में से एक नीचे का पाद ही अविद्या मिश्रित होता है।

जागृत अवस्था तथा इसके द्वारा उपलक्षित यह सम्पूर्ण जगत् का स्थान शरीर ही है, जो वैश्वानर कहलाता है तथा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं आदि सात लोक इसके सात अंग हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मनः चतुष्टय (ये उन्नीस समष्टि रूप कारण) इसके मुख हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थ इसके स्वरूप हैं एवं स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी के स्वरूपों में इसकी अभिव्यक्ति होती है। विश्व शरीर में स्थित नर होने के कारण जो वैश्वानर कहलाता है, वह सर्व स्वरूप परमात्मा का प्रथम पाद है।

(2) सुविद्या पाद

सुविद्यादि तीनों पादों में शुद्ध ज्ञान और आनन्दमय अमृतत्व शाश्वत रूप में विद्यमान रहते हैं। ये तीनों पाद अलौकिक, परमानन्द स्वरूप, अखण्ड, अमित तेजोराशि के रूप में प्रकाशित हैं। वे अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य एवं आनन्दैकरसात्मक हैं।

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् भी परमेश्वर का शरीर है, जिसका ज्ञान आन्तरिक या सूक्ष्म जगत् में व्याप्त है। वह पुरुष पूर्वोक्त सात अंगों और उन्नीस मुखवाला तथा सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों का अनुभव और पालन करने वाला है। वह पूर्ववत् चार स्वरूपों वाला तैजस (प्रकाश का स्वामी) सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ रूप में परमात्मा का द्वितीय पाद है।

(3) आनन्द पाद

आनन्द पाद में अमित तेज के प्रवाह रूप में, निरतिशय आनन्द एवं अखण्ड ब्रह्मानन्द स्वरूप मूर्ति प्रकाशित रहती है। जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भी भोग की कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति अवस्था है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत् की प्रलयावस्था (जब सम्पूर्ण विश्व अपने कारण में विलीन हो जाता है) परमेश्वर का शरीर है।

समष्टि कारण तत्त्व रूप में जिसकी स्थिति है, जिसकी अभी नाना रूपों में अभिव्यक्ति नहीं हुई है, घनीभूत विज्ञान ही जिसका स्वरूप है, जो केवल आनन्दमय है, चिन्मय प्रकाश जिसका मुख है, ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प स्वरूपों में जिसकी अभिव्यक्ति होती है, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति काल में अनुभव किया जाने वाला जो प्राकृत प्रपंच या सुख है, वह सब कार्य है और तुरीय उसका कारण है। कारण में ही कार्य की कल्पना होती है, इसलिये कारण को सत्य माना गया है। कारण का भी एक साक्षी है – सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा। वह कहीं सत् रूप में, कहीं चित्त रूप में, कहीं आनन्द रूप में और कहीं सच्चिदानन्द रूपों में व्याप्त है। कारण में परमात्मा की व्यापकता का चिन्तन करना ओतयोग कहलाता है।

व्याप्त वस्तु की सत्ता व्यापक के ही अधीन होती है। इस न्याय से परमात्मा के द्वारा व्याप्त कारण-तत्त्व की स्वत: कोई सत्ता नहीं है। वह परमात्मा के ही अधीन सत्ता का प्रकाशक होने के कारण परमात्मा में आरोपित एवं कल्पित है। इस प्रकार का चिन्तन अनुज्ञातृ योग कहलाता है।

अध्यस्त, आरोपित या कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान से पृथक् अस्तित्व नहीं रखती, वह अधिष्ठान स्वरूप ही समझी जाती है। अत: परमात्मा में आरोपित कारण-तत्त्व भी उससे पृथक् नहीं, परमात्मारूप ही है। इस प्रकार का चिन्तन अनुज्ञा योग कहलाता है।

ये तीनों योग कारण ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं एवं कारण में इनका अन्तर्भाव है। इसीलिए इनके पृथक् अस्तित्व को सुषुप्त, स्वप्न एवं माया मात्र बताया गया है। इन भोगों द्वारा कारण का लय या संहार होता है। लय का आधार है तुरीय परमात्मा, अत: इन सबको तुरीय पाद रूप कहना उचित होगा। परमात्मा ही अविकल्प नाम से निर्दिष्ट पारमार्थिक तुरीय है। 'अथायमादेश:' आदि के द्वारा श्रुति उसी स्वरूप की ओर संकेत करती है। जो एक मात्र अपने स्वरूपभूत

आनन्द का उपभोक्ता है, जिसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है, वह प्राज्ञ नाम से प्रसिद्ध ईश्वर परमात्मा का तृतीय पाद है।

इस प्रकार तीनों पादों के रूप में वर्णित यह परमात्मा सबका ईश्वर है। वह सर्वज्ञ एवं अन्तर्यामी, सम्पूर्ण विश्व का कारण तथा प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का केन्द्र है।

जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्था में लक्षित होने वाला यह जगत् वास्तव में सुषुप्त रूप है, क्योंकि इससे मोहित और प्रभावित मनुष्य को कभी भी किसी वस्तु का तात्विक ज्ञान नहीं होता। यह त्रिविध जगत् स्वप्नवत् भी है, क्योंकि यहाँ वस्तु का प्राय: विपरीत ज्ञान ही होता है। इतना ही नहीं, बल्कि कुछ का कुछ, अर्थ का अनर्थ प्रतीत होने के कारण यह सब कुछ माया मात्र है। परमात्मा इनसे विलक्षण माना गया है।

उक्त तीनों पादों के अतिरिक्त, चौथा पाद ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प रूपों वाला है। उपर्युक्त चारों पाद तुरीय कहलाते हैं, क्योंकि प्रत्येक रूप का तुरीय में ही लय होता है। इस तुरीय पाद में भी जो ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञा रूप तीन भेद हैं, इन्हें सुषुप्ति एवं स्वप्न के समान तथा माया मात्र समझना चाहिए, क्योंकि पारमार्थिक तुरीय रूप निर्विकल्प एवं निर्विशेष परमात्मा का एकमात्र चिन्मय स्वरूप है।

जिसे देखा नहीं जा सकता, व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जिसका कोई लक्षण, चिह्न अथवा आधार नहीं है, जो चिन्तन की परिधि में नहीं आ सकता, जिसे किसी विशिष्ट रूप से बताया नहीं जा सकता, एकमात्र आत्मसत्ता की अनुभूति ही जिसका सार एवं स्वरूप है तथा जिसमें प्रपंच का सर्वथा अभाव है, वह सर्वथा कल्याणमय, शान्तमय, परमशान्त, अद्वितीय तत्त्व ही पूर्णब्रह्म परमात्मा का चतुर्थ-पाद है।

इस प्रकार चार पादों में जिसका वर्णन किया गया है, वह परमात्मा सबकी आत्मा है। वही कारणात्मा ईश्वर को भी अपना ग्रास बनाकर, अपने में लीन कर लेता है। वह तुरीय का भी तुरीय, तुरीयातीत विष्णु (व्यापक) एवं समस्त ब्रह्म वाचक शब्दों का वाच्य और परमज्योति स्वरूप है।



तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥5॥

अन्वय

तस्मात् विराट् अजायत। विराजः अधि पुरुषः। सः जातः अत्यरिच्यतः। पश्चात् भूमिम् अथो पुरः।

अनुवाद

उस आदि परम पुरुष से विराट् ब्रह्माण्ड-देह, व्यक्त जगत् अर्थात् विविध पदार्थों, नाना सूर्यादि लोकों से प्रकाशमान ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। ब्रह्माण्ड देह का आश्रय लेकर उससे पुरुष (जीवात्मा) उत्पन्न हुआ। वह सबसे पूर्व कार्य जगत् में शक्ति रूप से प्रकट होकर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में चेतनता को प्राप्त कर अन्य अवस्थाओं से बढ़कर था। तत्पश्चात् भूमि और शरीर की उत्पत्ति हुई।

व्याख्या

सर्वत्र नाना रूपों में व्याप्त होने के पश्चात् उस आदि पुरुष से ब्रह्माण्डीय देह, व्यक्त जगत् रूप विराट् उत्पन्न हुआ। वही परमात्मा अपनी माया से ब्रह्माण्ड रूप विराट् देह का सृजन कर, उसमें जीव रूप में प्रविष्ट होकर, ब्रह्माण्डाभिमानी देवात्मा रूप जीव हुआ। वह देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, आदि रूपों में चेतनता प्राप्त कर अन्य अवस्थाओं से परे है। वह व्यक्त होकर भी व्यक्त ब्रह्माण्ड से भिन्न है।

इस मन्त्र में सृष्टि संरचना की कल्पना की गई है। उस आदि पुरुष से सर्वप्रथम विराट् ब्रह्माण्ड देह रूप व्यक्त जगत् अथवा सृजनात्मक शक्ति उत्पन्न होती है। यहाँ जगत् को विराज्, यूनिवर्स या ब्रह्माण्ड कहा गया है। यही जगतोत्पत्ति अन्य सृष्टियों का आधार बनती है। इस आधार से सर्वप्रथम पृथ्वी उत्पन्न होती है।

किसी कार्य को करने के लिए व्यक्ति पहले इच्छा या कल्पना करता है, फिर योजना बनाकर, उसे कार्यान्वित कर अपनी कल्पना को साकार रूप प्रदान करता है। उसी प्रकार उस अव्यक्त पुरुष ने सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड, व्यक्त जगत् की रचना कर अपनी सृजनात्मक शक्ति का परिचय दिया। संपूर्ण

ब्रह्माण्ड ब्रह्म की इच्छा शक्ति या संकल्प का द्योतक है। इच्छा सीमित होती है और ब्रह्माण्ड भी सीमित है। सृजनात्मक शक्ति से दृश्य जगत् में वैश्वानर पुरुष (चेतना) की उत्पत्ति होती है। दृश्य जगत् में व्याप्त चेतना वैश्वानर है। सृष्टि का आधार पृथ्वी तत्त्व है एवं इसी से अलग-अलग शरीर उत्पन्न होते हैं।

शरीरधारी जीव की तीन श्रेणियाँ हैं – देव, मानव और दानव। तीन गुण हैं – सत्त्व, रजस् और तमस्। श्रेष्ठ वह है जिसमें सत्त्व, रज और तम तीनों संतुलित हों और जिसमें उन्हें समझने की शक्ति हो। सुख-दु:ख से मुक्त कोई नहीं है। सात्त्विकता में प्रकाशशीलत्व को खोजना देवत्व है। संतुलित सात्त्विक गुण देवता या प्रकाशमान जीव का प्रतीक है। सात्त्विक गुणों से पूर्ण और पाशविक वृत्तियों से निवृत्ति प्राप्त व्यक्ति देव श्रेणी में आता है।

राजसिक वीरभाव से परिपूर्ण, पुरुषार्थ करने की क्षमता से सम्पन्न, अपने गुणों को नियन्त्रित करने में समर्थ, इच्छापूर्ति के लिए संघर्षशील व्यक्ति मानव श्रेणी में आता है।

पशुभाव युक्त, तामसिक गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति दानव कहलाता है।

ये तीनों गुण पंचमहाभूतों और पंच तत्त्वों में विद्यमान हैं। पंच तत्त्वों से निर्मित शरीर पृथ्वी तत्त्व का विलास है। सृष्टि-संरचना की प्रक्रिया को इस प्रकार भी देखा जा सकता है –

व्यक्ति	+	इच्छा	+	योजना	+	कर्म	+	परिणाम
|		|		|		|		|
आदि पु. परब्रह्म	+	विराट, ब्रह्माण्ड, व्यक्त जगत् अथवा सृजनात्मक शक्ति	+	जीवात्मा चेतना शक्ति, वैश्वानर	+	पृथ्वी	+	शरीर

अव्यक्त पुरुष ने सबसे पहले ब्रह्माण्ड की रचना की। ब्रह्माण्ड का आकार-प्रकार कितना बड़ा या छोटा रहा होगा या है यह अज्ञात है। 'मैं सृष्टि करने का इच्छुक हूँ', उस अव्यक्त पुरुष की सृष्टि करने की यह जो इच्छा

तथा परिणाम है, उसी केन्द्र बिन्दु को ब्रह्माण्ड नाम दिया गया है। यह इच्छा शक्ति का बोधक है जिसे सामान्य भाषा में 'हरि इच्छा' कहते हैं। वह इच्छा रूपी संकल्प शक्ति व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति में परिणत हो जाती है। इच्छा की भी एक सीमा है तथा व्यक्त और अव्यक्त सृष्टि की भी एक सीमा होती है। इच्छा यदि सीमा के बाहर हो तो हम योजना नहीं बना सकते, कर्म नहीं हो सकता, और परिणाम देख नहीं सकते हैं। जिस प्रकार किसी अभिनेता का अलग व्यक्तिगत नाम-रूप होने पर भी किसी अन्य पुरुष की भूमिका निभाते समय, रंगमंच पर उस समय उसी नाम-रूप से जाना और पहचाना जाता है, उसी प्रकार यह चेतना जब संकल्प शक्ति को माध्यम बना कर इच्छा करती है, विचार करती है कि मैं स्वयं को अनेक बनाऊँ, अद्वैत से द्वैत रूप में परिवर्तित हो जाऊँ, तब परम पुरुष का वह 'मैं' स्वयं को व्यक्त करता है। तब वह चेतना शक्ति 'वैश्वानर' नाम से अभिहित होने लगती है।

'वैश्वानर' शब्द दो पदों के मेल से बना है, विश्व+नर। विश्व का मतलब है सम्पूर्ण जगत् और नर का मतलब है सीमित व्यक्तित्व। जैसे नर या मानव कहने से जन्म-मृत्यु के बन्धन से युक्त, नश्वर एवं मरणधर्मी मनुष्य का बोध होता है और नारायण से परम पुरुष का, उसी प्रकार वैश्वानर से उस चेतना का बोध होता है जो समग्र जगत् में व्याप्त है। यह ब्रह्माण्ड उसी वैश्वानर का निवास स्थान माना जाता है। वैश्वानर ने पंच तत्त्वों में एक आधार को जन्म दिया जिसे पृथ्वी तत्त्व कहते हैं। सृष्टि का आधार यह पृथ्वी तत्त्व ही है। हम वायु तत्त्व से उत्पन्न नहीं हुए हैं। पक्षी के समान हवा में उड़ नहीं सकते। मछलियाँ जल में जीवित रहती हैं, हम जल में श्वास नहीं ले सकते। स्वयं को अग्नि में जलने से रोक भी नहीं सकते। हमारे शरीर में बनावट उस प्रकार की नहीं है और न हम में उस प्रकार की क्षमता है, किन्तु पृथ्वी तत्त्व में हम जीवित रह सकते हैं। पृथ्वी को मूल आधार मानकर 84 लाख योनियों का वर्णन किया गया है। इन योनियों में असंख्य जीव-जन्तु, कीट-पतंग, पशु-पक्षी सम्मिलित हैं, और मनुष्य का स्थान उनमें सबसे ऊँचा है। एक चींटी अपने से कई गुणा अधिक वजन उठाकर, खींचकर ले जा सकती है। यदि शक्ति के आधार पर मापा जाये तो चींटी में मनुष्य से कहीं अधिक शक्ति विद्यमान रहती है। किन्तु शक्ति में सभी जीव-जन्तुओं में समानता रहने पर भी चेतना के धरातल पर दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। अन्य जीवों की चेतना का अन्तिम विकास वहाँ तक ही हो

पाता है जहाँ से मानव की मूलाधार शक्ति और क्षमता का प्रारम्भ माना जाता है। मनुष्य की चेतना का विकास मूलाधार से सहस्रार तक होता है। 84 लाख योनियों में से मनुष्य में वीरभाव और पुरुषार्थ के साथ-साथ अपने गुणों को नियन्त्रित करने की भी शक्ति है। वह इच्छा पूर्ति के लिये प्रयास और संघर्ष करता है। भौतिकता में लिप्त मनुष्य अपनी शक्ति का प्रयोग स्वार्थ-पूर्ति के लिए करता है। अपनी शक्ति, क्षमता और शरीर उपलब्धि की सार्थकता उस परम पुरुष को जानने में है, जिसने भूमि संरचना के पश्चात् जीवों का अधिष्ठान, यह शरीर प्रदान किया है।

उत्तर तापनीय में भी ऐसा ही वर्णन देते हुए कहा गया है – स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवता कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययेव।

विशेष

यजुर्वेद में तस्मात् के स्थन पर ततो पाठान्तर है। अर्थ में अन्तर नहीं। अथर्ववेद में 'तस्माद्विराडजायत' के स्थान पर 'विराडग्रे समभवत्' का पाठ भेद है। यह पाठ भेद पुरुष सूक्त की विविध व्याख्यान शैली की ओर इंगित करता है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

विराट् – वि+राज् दीप्तौ धातु+क्विप्। विशेषेण राजते इति विराट्, विविधानि राजन्ते वसूनि अत्रेति विराट्, विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्, ब्रह्माण्डात्मक स्थूलदेहाभिमानिनि आदि पुरुषे, छान्दोभेदे च। विराड् वाग्, विराट् पृथ्वी, विराडन्तरिक्षं, विराट् प्रजापतिः। विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु॥ (अ.वे.10-5-10-24)।

विराट् शब्द ब्रह्म है, सोम या पृथ्वी नामक भौतिक ब्रह्म है, अन्तरिक्ष नामक गार्हपत्याग्नि है। शतपथ ब्राह्मण (7-2-1-23) में भी उक्त चर्चा का समर्थन मिलता है।

अन्तर्बहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश (अ.वे. 10-5-1-2)। विराट् प्रजापति है जिसमें 'सर्वाः प्रजाः' अपने भौतिक रूप में सन्निविष्ट रहती है। वही विराट् साशनानशने या मृत्यु रूप चराचर जगत् है। वही साध्या ऋषियों में सर्वप्रथम है तथा उसी के नियंत्रण में भूत और भविष्य है।

अजायत – जनी (प्रादुर्भावे) – लङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन। अजायत=उत्पन्न हुआ।

अधि – अव्यय, न+धा+क्ति, अधिकारे, ऐश्वर्ये, आधिक्ये, उपरि।

जातः – जनी (प्रादुर्भावे)+क्त। जातः = उत्पन्न हुआ।

अत्यरिच्यत – अति+रिचिर् (विरेचने) – लङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अति – अव्यय, अत+इ। अत्यरिच्यत=सबसे आगे बढ़ गया।

पश्चात् – अव्यय, अपर+प्रथमा पंचमी – सप्तम्यर्थे आति पश्चादेशः पश्चात् – इति अपरस्य पश्चभावः आतिश्च प्रत्ययोऽस्तातेर्विषये। प्रथमाद्यर्थवृत्तेरपरशब्दस्यार्थे, चरमे, अधिकारे च। अपरस्मिन् अपरस्मात् अपरो वा वसति आगतो रमणीयं वा। पश्चात्=बाद में।

अथ – अव्यय, अर्थ+ड, पृषोदरादित्वाद् रस्य लोपः। आरम्भे, आनन्तर्य्ये, प्रश्ने, संशये, विकल्पे, समुच्चये, पक्षान्तरे च। मंगलं तु नास्यार्थः किन्तु अर्थान्तरप्रयुक्तोऽयं श्रुत्या मंगलसाधनं भवति। अथ=तदनन्तर।

पुरः – पु., क्ली., स्त्रीः पृपूर्तौ+क 'मूलविभुजादित्वात्' क। पिपर्तीति। पुरति अग्रे गच्छतीति पुरम् – पुर+क 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति क। पूः पुरीः, देहः, बहुग्रामीय व्यवहार स्थानं, नगरं, पतनं, पुरभेदनम्। पुरः = शरीर। उव्वट ने पुरः का अर्थ शरीर और चार प्रकार के भूत किया है।

पुरुष – सायण ने यहाँ द्वितीय पाद में पुरुष को वेदान्त के जीव का रूप कहा है।



यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्हविः ॥6॥

अन्वय

यत् देवा: पुरुषेण हविषा यज्ञम् अतन्वत। वसन्त: अस्य आज्यम् आसीत् ग्रीष्म: इध्म: शरत् हवि:।

अनुवाद

अब (हविषा पुरुषेण) स्वीकार एवं साक्षात्कार करने योग्य पूर्ण पुरुष से देवताओं ने उपासनामय ज्ञानयज्ञ का सम्पादन किया, तब इस यज्ञ का घृत वसन्त, ईंधन ग्रीष्म और हवि शरद् थे।

व्याख्या

यह ऋचा संवत्सर ब्रह्म के ऋतुमय विकास क्रम का वर्णन करती है। भाष्यकारों ने व्याख्या भेद से संवत्सर ब्रह्म की इस सरणि में कहीं पाँच ऋतुएँ मानी हैं, कहीं छ: और कहीं सात। पंचपर्वा में पाँच हैं, षडष्टक में छ:, सप्त सप्तकों में सात।

सृष्टि संरचना क्रम के प्रारम्भ होने पर, शरीर रचना के पश्चात् उत्तर सृष्टि रचना हेतु, बाह्य द्रव्य अनुत्पन्न होने के कारण, अनन्तर हवि असंभव होने से पुरुष स्वरूप को ही मन से हवि रूप में संकल्पित कर पुरुष ने मानस यज्ञ किया। उस समय वसन्त ऋतु यज्ञ का घृत था, ग्रीष्म ईंधन और शरद् हविष् था।

सामान्य रूप में किया गया संकल्प ही पूर्व पुरुष का हविष् हुआ। इस संकल्प के अनन्तर वसन्त आदि विभिन्न ऋतुएँ बनीं।

यहाँ कर्मकाण्ड की ओर इंगित किया गया है। जिस हवि: या बर्हि: नामक शारदीय पुरुष के विकास को जानने के लिए तत्त्वों ने यज्ञ का विस्तार किया, विकास क्रम को अपनाया, उसमें वसन्त वैद्युतीय प्राण रूप प्रथम सप्तक था। ग्रीष्म [इध्मेनाग्नि तस्मादिध्मो नाम (श.ब्रा. 1-3-2-1)] इध्म अर्थात् तनूनपात नाम द्वितीय अग्निरूप सप्तक रहा। शरद् सोम रूप भौतिकात्मा हवि नामक चतुर्थ सप्तक बना-सोमो वै देवानां हवि: (श.ब्रा. 4-3-4-1), हविर्वै देवानां सोम: (श.ब्रा. 3-4-3-2)।

प्रत्येक सप्तक एक ऋतु है। वसन्तो ब्रह्मैव क्षत्रं ग्रीष्मो विडेव वर्षा (श.ब्रा. 2-1-3-5)। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वसन्त ब्रह्म है। नए पत्ते और फूलों वाला यह वासन्तिक ब्रह्म प्रथम सप्तक का ब्रह्म है। साल के प्रारम्भ में वसन्त के समान सौम्य, इसका पूर्व भाग अग्नि को अर्पित घृत के समान आत्मा को बलवीर्य की प्राप्ति कराता है। यह वसन्त अज का आज्य या प्राण रूप है। आज्य शब्द का सम्बन्ध 'अज-एकपात्-वसन्तर्तु' से है। अज का विकास ही आज्य कहलाता है। अथर्ववेद 9-3-38 में इसका स्पष्ट वर्णन है। अज के विकास को वेदों में आज्य, घृत अथवा प्राण कहा गया है। ये प्राण रूप पत्र-पुष्प वैद्युतीय स्वरूप के हैं। अत: आज्य को वज्र के नाम से भी पुकारा गया है–'वज्रो वा आज्यम्' (श.ब्रा.1-4-4-4)।

प्राण प्रतिकूल मुखवाले द्विमुख नागों के समान है। उसका एक मुख दैवी वृत्ति का है, दूसरा आसुरी। ये दोनों मुख मन को अलग-अलग दिशा में खींचते रहते हैं। देव मुख के साथ मन भी 'देवमन:' हो जाता है और आसुरी के साथ 'आसुरं मन:'। इन दोनों में से जो बलवान् होता है वह व्यक्ति या सृष्टि को भी अपने समान बना लेता है। दैवी मुख के विजय से व्यक्ति देवता होता है और आसुर मुख की जीत से असुर। एक में अमृत है, ज्योति है, विवेक है, चैतन्य है जबकि दूसरे में विष है, अन्धकार है, अज्ञान है, निश्चलता है, मोह है।

'यो योगी तदाकारमुभयत्रमुखं प्राण सूत्रं कुण्डलाकारं कृत्वोमयोस्तयोर्मुखे एकत्रीकृत्यासुरं सुराग्निला मुखेन दग्धुमसत्यं सत्येनेवाग्नौ घृतमिव तत्कालं शक्नोति स: परमो योगी।'

योगी वह है जो उक्त उभयमुखी नाग रूपी प्राणों को कुण्डलाकार बनाकर इन दोनों मुखों को एक-दूसरे से जोड़कर असुर मुख के घृत से उसी में दैवी मुख की ज्योति की वर्तिका प्रदीप्त कर लेता है। इनमें दैवी मुख की ज्योति त्रिपादामृत है, सत्य है, नित्य है एवं उस असुर मुख के घृत के पूरा जलने तक उसे जलाता रहता है। इसी परिस्थिति में दैवी प्राणों की अन्त: शक्ति, सोम ज्योति या विष्णु ज्योति प्रकाशित होती है और उसके प्रकाश सागर में योगी अपने को निमग्न पाता है। इसे परमगति भी कहते हैं।

प्राणों को कुण्डलाकार रूप में एक साथ बांधना एवं उनकी असीम शक्ति को प्राप्त करना कुण्डलिनी योग कहलाता है। इसकी जागृति अपान से आरम्भ होती है। उक्त प्राणों में से दैवी प्राण मस्तिष्क में रहता है और आसुरी धड़,

मुख एवं इन्द्रियों में। इनको नियन्त्रित करने के लिए योगी का कार्य ब्रह्मचर्य धारण करके ओज की रक्षा करना है। वह ओज या वीर्य इस शरीर का सार, व्यान रूप घृत है, जिससे आंतरिक बत्ती को दैवी प्राणों की ज्योति से दीप्त किया जाता है। जितना अधिक घृत होगा उतना ही प्रकाश और उतनी ही अधिक देर तक वह योग दीप जलता रहेगा। इस योग के लिए प्राणों का शुद्धिकरण आवश्यक है। इन्द्रियों को वश में करने के लिए उदान को ऊपर से तथा व्यान को नीचे से खींचकर मध्य भाग में समान द्वारा संतुलित करना पड़ता है। तब इन सब प्राणों को भृकुटिमध्य में ले जाकर इस मन की बत्ती को दैवी प्राणों की ज्योति से प्रज्वलित किया जाता है। यही योग की परमोच्च स्थिति, इन्द्र का वज्र, विष्णु का चक्र, देवी का सिंह, ब्रह्मा का कमण्डल, महर्षियों का अद्भुत योगदंड और रुद्र का त्रिशूल है।

वर्ष के मध्य भाग में ग्रीष्म ऋतु के समान, जैसे ईंधन अग्नि को प्रदीप्त करता है, उसी प्रकार वह आत्मा भी ज्ञानाग्नि को प्रखर कर देती है। इध्म नामक अग्नि परब्रह्म का तेज है। इध्मेनाग्नि तस्मादिध्मो नाम (श.ब्रा. 1-3-2-1) ग्रीष्मो वै तनूनपात् ग्रीष्मो ह्यासां प्रजना तनूः (श.ब्रा.1-4-4-10)।

ग्रीष्म ऋतु क्षत्र है और द्वितीय सप्तक है। इध्म नामक परब्रह्म का तेजोमयरूप अग्नि है। यह सप्तक अग्नि का है और इस ऋतु का नाम तनूनपात् भी है। 'तनूं न पातयति इति तनूनपात्', योगी द्वारा परिलक्षित परब्रह्म का वह तेज कभी नष्ट नहीं होने वाला होता है। ग्रीष्म ऋतु उसी प्रखर ज्ञानाग्नि या देदीप्यमान् तेज का बोधक है।

तीसरी ऋतु वर्षा है, जिसका उल्लेख प्रस्तुत ऋचा में नहीं किया गया है, पर इसके अन्तर्गत यह वर्षा इड और विड है। इड नाम क्षुद्र सरीसृप या कीटाणु का है, जिसका अभ्युदय अमीबा के रूप में इसी सप्तक के 'तेजोरूप रेतः' स्वरूप में होता है (श.ब्रा. 1-4-4-11)। वर्षा ऋतु को अन्तरिक्ष या आदित्य स्थानीय बतलाया गया है।

चतुर्थ सप्तक शरद् है, जिसे यहाँ हविः कहा गया है। 'हविर्वै देवानां सोमः' (श.ब्रा. 3-4-3-2) हवि नाम सोम का है। सोम का स्थान चतुर्थ सप्तक में आता है और वहीं शरद् का स्थान है। अतः शरद् ऋतु को हविः या सोम नाम से पुकारा गया है। 'सोमो वै देवानां हविः' (श.ब्रा. 4-3-4-1)। वर्ष का यह भाग शीतल, शान्तिदायक और रात्रिवत् समस्त प्राणों को पुनः आत्मा में आहुति देने से यज्ञ में हवि के समान है।

'द्यौरस्य शिशिर ऋतु:' (श.ब्रा. 8-7-1-7)। हेमन्त एवं शिशिर ऋतु को इन सब ऋतुओं का सिर और द्यौ नाम से पुकारा गया है। शिशिर ऋतु को छठवीं ऋतु बतलाते हुए कहा गया है कि जैसे शिशिर में पतझड़ होता है, उसी प्रकार स्वाहाकार नामक ऋतु में सब तत्त्व पत्तों या पक्षियों की तरह भौतिक शरीरों में बिखरने लगते हैं (श.ब्रा. 1-4-4-13, 14)।

यहाँ ऋतुओं को समिध् नाम से पुकार कर (योगी) यज्ञ पुरुष की साधना का एक मार्ग बतलाया गया है। ऋतुएँ समिध हैं जिनसे पुरुष रूप यज्ञाग्नि उद्दीप्त की जाती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋतु प्रणाली से ब्रह्म व्याख्या नाना रूपों में की गई है। यह प्रसिद्ध मार्ग रहा है। प्रथम चार ऋतुएँ चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या करती है।

यौगिक अर्थ के अतिरिक्त वसन्त बाल्यकाल का, ग्रीष्म यौवन और शरत् वार्धक्य का प्रतीक है। सृष्टि उत्पत्ति के लिए मूल प्रेरक तत्त्व वसन्त माना गया है। जीवनी शक्ति या प्राण तत्त्व का प्रतीक ग्रीष्म है। घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है जो सर्वत्र विद्यमान है। प्राणवन्त जीवों की बात तो दूर रही, सीमेन्ट और चूना जैसे जड़ पदार्थ से भी यदि अधिक दिनों तक गैस निकल जाये तो मृतवत् उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जैसे दो चकमक पत्थर के घर्षण से आग उत्पन्न होती है, 'मन्त्र' रूप में निर्दिष्ट एक ही शब्द की बार-बार की गई आवृत्ति से 'शब्द-ब्रह्म' रूप दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है। उसी प्रकार जीवनी शक्ति का मूल कारण भी अग्नि ही है। यहाँ ग्रीष्म ऋतु सृष्टि का मूल कारण और चेतना या जीवनी शक्ति का आधार तथा शरद् सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है।

सृष्टि संरचना की यह प्रक्रिया आत्मयज्ञ रूप में भी वर्णित है जैसे – सर्वप्रथम देवताओं ने सृष्टि यज्ञ करने का संकल्प लिया। इसमें पुरुष को यज्ञ का ईंधन बनाया गया। यह यज्ञ देवताओं द्वारा संपादित किया गया। देवता का तात्पर्य सात्त्विक, दैवी, शुभ प्रवृत्तियों और प्रकाश-शीलत्व गुणों से है तथा पुरुष वैश्वानर है। इसमें जीवन की व्यक्त और अव्यक्त अनुभूतियों को आत्मानुसंधान के लिए कर्मकाण्ड का रूप दिया गया है, जिसे हम आत्मयज्ञ की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें पुरुष को ही बलि देने का निर्णय लिया गया। जब मनुष्य के भीतर प्रकाश-शीलत्व की उत्पत्ति होती है तब उस समय न तमस् का अस्तित्व रह जाता है और न रजस् का। तमस् का तात्पर्य अविद्या और अज्ञान से है और रजस् का इच्छा, आकांक्षा, वासना, कामना प्रभृति अन्य बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से। इनके नष्ट होने के बाद ही प्रकाश-शील प्रवृत्ति का

जन्म हो पाता है। यह सत्त्वमयी प्रवृत्ति अनुभवातीत और अन्तर्ज्ञानमय होती है। इसके उदय होते ही सभी कर्मों का क्षय होने लगता है। अपने सभी कर्मों को निर्मूल कर मनुष्य जब संस्कार से परे चले जाता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्मज्ञान का उदय होता है। ऐसी अवस्था में 'अहंकार' रह पाता है क्या? नहीं। आत्मयज्ञ में बलि चढ़ती है अहंकार की। यहाँ वैश्वानर पुरुष का नाम 'अहंकार' है। 'मैं विश्व का प्रणेता हूँ।' यह 'मैं' का आभास ही 'अहं' का उत्पादक है। यह चेतना ही 'अहं' की बोधक है। यह अहं ही उस आत्मयज्ञ की आहुति है जिसे यज्ञकर्ता वैश्वानर पुरुष आत्मयज्ञ में अर्पित करता है। इस सृष्टि संरचना के क्रम में परम पुरुष ने अपने आपको वैश्वानर के रूप में प्रकट किया है।

विशेष

यह ऋचा यजुर्वेद में 15वें और अथर्ववेद में 10वें स्थान पर संकलित है। अथर्ववेद और ऋग्वेद का पाठ एक जैसा है पर यजुर्वेद में 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं' को इस प्रकार सन्धि युक्त लिखे जाने के कारण छन्दोभंग हो जाता है। पाठ में 'वसन्तो' के 'न्तो' को प्लुत (तीन मात्रा का) उच्चारित करके उक्त क्षति की पूर्ति कर ली जाती है।

उव्वट के अनुसार वसन्त सत्त्व, ग्रीष्म रजस् और शरद् तमोगुण का प्रमाण है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

यत् – यदा का वैदिक रूपान्तर है।

हविषा – हविः –हविस्–क्ली.। हुदानादनयोः+इस् 'अचिश्रुचिहुसृपीति' इति इसि। ह्रूयते अनेन इति। हवनीयं द्रव्यं, घृतम्, जलं, विष्णुः, शिवः। हविषा–तृतीया विभक्ति, एकवचन। हविषा=हवि के द्वारा।

देवा – देवः –पु.। दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्ति-गतिषु+अच्। दिव्+अच् पचाद्यच्। दीव्यति आनन्देन क्रीडति इति देवः। देवता, इन्द्रः, ऋत्विक्, दाता, द्योतयिता, दीपयिता – देव शब्दो दान दीपन द्यौतनानामन्यतममर्थमाचष्टे, यज्ञस्य दाता, दीपयिता, यमग्निरित्युक्तं भवति

इति अमरे, द्योतनात्मके आत्मनि दीव्यति क्रीडते यस्माद्रोचते द्योतते दिवि। तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदेवतेरित्युक्ते परमेश्वरे ब्राह्मणस्योपाधौ च। देवाः – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। देवाः = देवगण।

यज्ञम् – यज्ञः – पु., यज्देवपूजासंगतिकरणदानेषु – यज्+नङ् 'यजयाचयत-विच्छप्रच्छरक्षो नङ्' इति नङ्। यज् देवपूजने, दाने, सत्कृतौ च। इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा। यज्ञः, यागः, सवः, अध्वरः, सप्ततन्तुः, इष्टं, मन्युः, अभिषवः, होमः। यज्ञम् – द्वितीया विभक्ति, एकवचन। यज्ञम्=यज्ञ।

अतन्वत – तनु (विस्तारे) – लङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद। अतन्वत=किया।

वसन्तः – वसन्तः – पु., वस् (आच्छादने) – वस्ते इति। वसु (स्तम्भे)– वस्यति इति। वस्+झ 'तृ भूवहिवसिमासिसाधिगडिमण्डिजिनन्दिभ्यश्च'–इति झच्। वसन्त्यत्र मदनोत्सवा इति वसन्तः, मधुमाधवात्मके ऋतु भेदे रागभेदे च। ऋतु विशेषः, चैत्र वैशाख मास द्वयात्मकः, पुष्प समयः, ऋतुराजः। वसन्तः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। वसन्तः = वसन्त ऋतु।

अस्य – इदम्, पु., न., षष्ठी, एकवचन। अस्य=इसका।

आसीत् – अस् (भुवि) – लङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन, आसीत्=था।

आज्यम् – आज्यम् – क्ली., आ+अंजू (व्यक्तिभ्रक्षणकान्ति गतिषु)+क्यप्। (आ+अज्+क्यप्) आङ् पूर्वात् 'अंजेः संज्ञायामिति' क्यप्। आज्यम् घृतम्, श्रीवासः, यागक्रियादि साधनं, रेतः। आज्यम् – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। आज्यम्=घृत।

ग्रीष्मः – ग्रीष्मः – पु., ग्रसु (अदने)+मक्। 'ग्रीष्मः' इति मक्। ग्रीभावः षुगागमश्च निपात्यते। ग्रसते रसान् इति ग्रीष्मः, ऋतु विशेषः, ज्येष्ठाषाढौ, उष्णोपगमः। ग्रीष्मः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। ग्रीष्मः = ग्रीष्म ऋतु।

इध्मः – इध्मः – पु., क्ली., इन्धि (दीप्तौ), इन्ध्+मक्। तत्रेध्मानयते शुक्रो नियुक्तः – कश्यपेन हं इति। इध्मं इन्धनं, समिधि, अग्नि संदीपने, काष्ठे च। इध्मः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। इध्मः = इन्धन।

शरद् – शरद्–स्त्री., शृ (हिंसायाम्)+अदि 'शृदृमसोऽदिः' इति अदि। संवत्सरे, आश्विन कार्तिक मासात्मक ऋतौ च। शरद् हायनः, अब्दः, वर्षः, संवत्सरः। शरद्–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। शरद्=शरद् ऋतु।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥7॥

अन्वय

अग्रत: जातम् यज्ञम् तम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन्। तेन देवा: ये साध्या ऋषय: च अयजन्त।

अनुवाद

सबसे पहले सृष्टि से उत्पन्न हुए, यजनीय यज्ञरूप उस पुरुष को मानसिक यज्ञ में अभिषिक्त कर पवित्र बनाया गया। तत्पश्चात् उस प्रौक्षित यज्ञ पुरुष से सृष्टि उत्पत्ति के साधन भूत, योगाभ्यास आदि साधना करने वाले ज्ञानी साध्यों और द्रष्टा ऋषियों, देवगण और प्रजापति ने अपने-अपने संकल्प से सृष्टि बनाई।

व्याख्या

सृष्टि के प्रारम्भ में विराट् शक्ति से उत्पन्न पुरुष को देवताओं ने मानसयज्ञ की कुशाओं पर साधन के रूप में जल छिड़क कर पवित्र किया। तत्पश्चात् देवताओं, साध्यों तथा ऋषिगणों ने उस विराट् से उत्पन्न संवत्सर पुरुष के द्वारा मानस यज्ञ निष्पादित किया, आदि पुरुष की उपासना की। इस यज्ञ में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड यज्ञ वेदी बना। पुरुष वैश्वानर ने 'अहं' को इस आत्म यज्ञ में बलि चढ़ाया।

इस मंत्र में यज्ञ, बर्हिषि, देवा:, साध्या: और ऋषय: पारिभाषिक शब्द हैं। विकासीय सृष्टि या पुरुष का नाम यज्ञ है। बर्हि: चतुर्थ सप्तकीय शरद् नामक हवि: रूप भौतिकात्मा, भौतिक शरीर हैं। 'देवा:' तत्त्वरूप समस्त देवगण हैं – 'इमे देवा इमानि भूतानि' (बृ.उ. 2-6-6) साध्या: छन्दो रूपी देवता हैं – 'छन्दांसिवे साध्या: देवा:' (श.ब्रा. 1-3-16)। कुल साध्या देवता 12 हैं। ऋषि तीन प्रकार के हैं - महर्षि, ऋषि और आंगिरस। प्रत्येक में सात का समुदाय है। मन्त्रों के रचयिता ऋषियों के नामों का तादात्म्य भी उन्हीं ऋषियों के साथ किया जाता है। सृष्टि क्रम में देवगण, छन्दोमयी साध्या देवता और ऋषि नामक जो तत्त्व थे, वे अपने त्रिपादामृत रूप को भौतिकात्मा का चोला पहनाने का यज्ञ करने लगे। यज् धातु अकर्मक है, जिसका तात्पर्य है कि वे स्वयं यज्ञ

करने लगे या स्वयं विकसित होने लगे। अकर्मक धातु के रूप में यज् धातु स्वयं ही विकास अर्थ में प्रयुक्त होता है। बर्हि: और प्रावृष् शब्द शरद् ऋतु वाची संवत्सर ब्रह्म के चतुर्थपाद का संकेत कर रहे हैं – 'शरद्वै बर्हि:' (श.ब्रा. 1-4-4-11)। बर्हि शब्द का अर्थ अग्नि और कुश भी है। अग्नि इसलिए कि वह वैश्वानर अग्नि का प्रतिनिधि है। कुश इसलिये कि वह चतुर्थ सप्तकीय आपोमय सागर के वार्त्र (दुर्गन्ध) से उत्पन्न विद्युत्किरणमय तीक्ष्ण शिखा है (श.ब्रा. 1-4-4-13 एवं 14)। छन्दों को साध्या देवता कहा गया है, इसका कारण समस्त वैदिक दर्शन की साधना छन्दों के अक्षरों, छन्द: पादों से ही की गई है। इस यज्ञ में सात वैदिक छन्द, सात ऊर्ध्वलोक, सात चक्र और सात पाताल लोक यज्ञ की सीमा बन गये। चक्रों का अतिक्रमण करके ही हम उच्च लोकों तक पहुँच सकते हैं। याज्ञिक-कर्मकाण्ड में पवित्रता के लिए स्थान शुद्धि, आसन शुद्धि और शरीर शुद्धि के लिए जल के साथ मन्त्रोच्चारण का प्रयोग किया जाता है।

यौगिक दृष्टि से 'जल' का सम्बन्ध स्वाधिष्ठान-चक्र से और पदार्थ का सम्बन्ध मूलाधार-चक्र से है। स्वाधिष्ठान का अर्थ अचेतन भी है। स्वाधिष्ठान आध्यात्मिक अनुभूति 'भुव:' से संबंधित है। इस ऋचा में जल और मन्त्र प्रमुख एवं उल्लेखनीय हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि पुरुष ने पदार्थ को उत्पन्न किया। पदार्थ का अंतिम रूप हमें योग के अनुसार मूलाधार चक्र में दिखलाई देता है। मूलाधार चक्र से सूक्ष्म स्वाधिष्ठान चक्र है और पदार्थ से सूक्ष्म तत्त्व जल है। इस मन्त्र में पदार्थ के पहले सूक्ष्म तत्त्व द्वारा पवित्रता की कल्पना की गई है। यहाँ स्वाधिष्ठान चक्र अचेतन और उससे परे अज्ञात चेतन का द्योतक है। अचेतन मन इस चक्र या केन्द्र की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति 'भुव:' है।

'भुव:' भूलोक के धरातल की उच्च अवस्था है। इस उच्च अवस्था में मन, विषय, इन्द्रियों, कर्म और संस्कारों से बंधी चेतना की शुद्धि होती है। ऊपर की चेतना द्वारा नीचे के स्तरों की शुद्धि दिखाने के लिए यहाँ जल की उपमा देकर जल और मन्त्र द्वारा शुद्धिकरण की बात कही गई है।

मन्त्र का साक्षात् संबंध मन, मनन और योग से होता है। वह शक्ति जो मन को स्वतन्त्र कर दे 'मन्त्र' कहलाती है। 'मननात् त्रायते इति मन्त्र:'– मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को इनकी सीमाओं से स्वतंत्र करने वाली, उनके भीतर में विस्फोट लाने वाली, जागृति पैदा करने वाली शक्ति 'मन्त्र' कहलाती है।

जब हम बन्धन में होते हैं तब केवल स्थूल इन्द्रियों के ही नहीं, अपितु कर्मों और संस्कारों के बन्धन में बंधी हमारी मानसिक अवस्था भी बन्धन में होती है। तब मन्त्र के द्वारा ही हम बन्धन मुक्त हो सकते हैं।

यह परिश्रम देवताओं, साध्यों और ऋषिगणों द्वारा सम्पन्न हो चुका है। हम दिव्य गुणों से युक्त, दानशील देवताओं को पहले जान चुके हैं। छन्दोरूप साध्य देवता कुल 12 हैं। देवताओं और साध्यों के साथ यज्ञ करने वाले ऋषिगण भी हैं। ऋषि का अर्थ है – 'साक्षीभाव से देखने वाला।' साक्षी वही बन सकता है जिसमें विवेक और ज्ञान उत्पन्न हो चुका हो। वह ज्ञान जिसके अवतरण से भ्रम और अविद्या मिट जाये 'ऋषि' रूपी ज्ञान है। ऋषि शब्द दृश् धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना। 'ऋषिः दर्शनात्', जो हमेशा देखता रहे, साक्षी रूप में प्रत्येक अनुभवगम्य स्थिति परिस्थिति का अवलोकन करता रहे। जब तक विवेक न हो जाये, साक्षी बनने की क्षमता नहीं आ सकती। विवेक ज्ञान का एक अंग है। जब तक ज्ञान नहीं होता विवेक का उद्भव नहीं हो पाता। ज्ञान वह है जिसके प्राप्त हो जाने से सभी प्रकार के अवगुण समाप्त हो जाते हैं, जिसके अवतरण से अविद्या दूर हो जाती है, भ्रम नष्ट हो जाता है, देखने की, समझने की क्षमता आ जाती है और विवेक का प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः यहाँ ऋषि के रूप में साक्षी भाव को देखा गया है। इस प्रकार ज्ञान, अभिव्यक्ति और गुणों द्वारा यह यज्ञ सम्पन्न हुआ है।

विशेष

यजुर्वेद में इस ऋचा का स्थान 9वाँ है। पाठ में कोई अन्तर नहीं है। अथर्ववेद में इसका 11वाँ स्थान है और इसमें 'बर्हिषि' के स्थान पर 'प्रावृषा', 'अग्रतः' के स्थान पर 'अग्रशः' और 'ऋषयः' के स्थान पर 'वसवा' शब्द का प्रयोग किया गया है। पाठान्तर होने पर भी अर्थ-भिन्न नहीं है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

तं – तद्–पु., द्वितीया विभक्ति, एकवचन। तम्=उसको।

बर्हिषि – बर्हम्–क्ली., पु. सप्तमी विभक्ति, एकवचन। वृह् (वृद्धौ)+अच्, वर्ह् (उत्कर्षे)+अच्। वर्ह्(दीप्तौ)+अच्। वर्हयति दीप्यते इति वर्हते वा। कुशे, यज्ञे, अग्नौ, दीप्तौ च। बर्हिषि=मानसिक यज्ञ वेदी पर।

प्रौक्षन् – प्र+औक्षन्। प्र–अव्यय। प्रथ्+ड। आरम्भे, गतौ, उत्कर्षे, प्राथम्ये, सर्वतोभावे, व्यवहारे च। औक्षन्–उक्ष् (सेंचने)। लुङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन। प्रौक्षन्=जल छिड़का।

जातम् – क्ली. जनी (प्रादुर्भावे)+क्त 'कर्तरि क्त'। जन्मनि, उत्पन्ने, प्रशस्ते, व्यक्ते, समूहे। जातम्=उत्पन्न हुआ।

अग्रतः – अग्रतस् – अव्यय। अग्र+तसिल्। अग्रे, अग्राद्वा। अग्रतः = सबसे पहले।

तेन – तद्–पु., न., तृतीया विभक्ति, एकवचन। तेन=उसके द्वारा, उससे।

अयजन्त – यज् (देवपूजासंगतिकरणदानेषु) – यजतीति। यज्+लङ्, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, एकवचन। अयजन्त=यजन किया।

साध्याः – पु., षिधु (संराद्धौ)–षिध्+णिच्+यत्। षिध्गत्याम्–सध्+ण्यत्। 'साध्यमस्यास्ति इति' अश् आद्यच्। 'सिद्ध साध्य सुसिद्धयोः क्रमात् ज्ञेया मनीषिभिः मन्त्र भेदे च।' 'मनोमन्ता तथा प्राणो नरोपानश्च वीर्यवान्। निर्भयो नरकश्चैव दंशो नारायणो वृषः। प्रभुश्चेति समाख्याताः साध्याः द्वादशः देवताः॥' साध्या देवता-छन्दोरूपी 12 देवता माने गये हैं। 'छन्दांसि वै साध्या देवाः' (श.ब्रा. 1-3-16)।

ऋषयः – ऋषि पु. ऋष् (गतौ)+इन्, दृशिर् (प्रेक्षणे)+इन्। 'इगुपधात् कित्' इति इन् किच्च। (तुदा. परस्मै. सकर्मक, सेट्)। 'साक्षात्कृतधर्माणिः ऋषयो बभूवुः, ते अवरेभ्यो असाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रापुः (नि. 1-6-20)। ऋषति प्राप्नोति, सर्वान् मन्त्रान् ज्ञानेन पश्यति, संसारपारं वा इति। 'वेदे मन्त्र द्रष्टरिमुनौ, ज्ञान संसारयोः पारंगता शास्त्रकृदाचार्याः।' सप्त ब्रह्मर्षि देवर्षि महर्षि परमर्षयः। काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमावराः॥ (इति रत्नकोशे)।

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अंगिराः पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वशिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति दश। ब्रह्मणो मनसा ह्येते उत्पन्नाः स्वयमीश्वराः। परत्वेनर्षयस्तस्माद् भूतास्तस्मान्महर्षयः॥ (मत्स्यपुराणे 412)।

'ऋषिः दर्शनात्', साक्षात्कृतधर्मा ऋषिगण पहले ब्रह्मवादी थे फिर वेदविद्। ब्रह्म वेद का भी नाम है। ऋषि योग दृष्टि से देखते थे तथा जो देखा उसका वर्णन वेदों में किया। जिसने देखा उसके अनुभूति की अपनी भाषा होती है। वह भाषा उसे छोड़ अन्य की नहीं हो सकती।

वेद और ब्रह्म एक ही हैं, क्योंकि वेद में ब्रह्मानुभूति का वर्णन है। वेद को शब्द-ब्रह्म की अनुभूति की भाषा कहते हैं। इसी कारण से इनके ज्ञाता ऋषिगण वेदविद्, ब्रह्मवादी, अनूचान, शुश्रुवान्तस आदि नामों से सम्मानित होते थे। वैदिक ऋषि अपने दर्शन को पूर्णतः परिचित कराने की क्रिया को दिव्यचक्षु ज्ञान समझते थे। 'अपश्यंत्वा चैकितानम् (ऋ.10-183-1), अपश्यं त्वा मनसादीध्यानाम् (ऋ.10-18-1) अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् (ऋ.1-164-1)'।

मैंने तुमको अपने मन से ज्ञान करते या अनुभूति लेते साक्षात् देखा है। मैंने प्राणों की समाधि में मन के द्वारा तुम्हें साक्षात् देखा है। मैंने उस वाम पुरुष के चतुष्पाद स्वरूप में उस सप्त भौतिकात्मीय प्रजारूप प्राणों से युक्त प्रजापति को साक्षात् देखा है। ऋ. 1-18-9, ऋ. 4-26, ऋ. 10-48, 10-49, 10-12-4, 10-145, यजु. 8-9, बृ. उ. 2-5 में भी इसी प्रकार का उल्लेख है।

ऋषि वामदेव ने भी कहा है – 'गर्भेनुसन्नन्वेषा भवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वाः। शतं मा पुरआयसी रक्षन्नद्यः श्येनोजवसा निरदीयम्, (ऋ. 4-27-1)'।

'गर्भे एतच्छयानो वामदेव एवमुवाच' (ऐ.उ. 2, बृ. उ. 2-5-7) 'मैंने गर्भ में रहते हुए अपने को लोहे के सैंकड़ों सींकचों से बनी पुरी में बन्द-सा पाया और वहाँ से बाज की तरह झपट कर बाहर निकल आया।'

यहाँ ऋषि वामदेव वाक् नामक प्राण-तत्त्व हैं। इनका नाम अस्यवामीय सूक्त में दो बार 'वामस्य' रूप में आया है। दूसरे स्थान में उसे पक्षी या महासुपर्ण भी कहा गया है, जिसका संकेत इस ऋचा में श्येन नाम से दिया गया है।

वैदिक ऋषियों की सबसे बड़ी प्रतिभा यह है कि उन्होंने मन्त्रों में निहित अधिभौतिक, अधियाज्ञिक और आध्यात्मिक, तीनों प्रकार के अर्थों की सांकेतिक पदावली एक ही बना डाली है।

च – अव्यय, चि+ड, अन्वाचये, इतरेतरयोगे, समाहारे, अवधारणे, हेतौ, तुल्यत्वे, विनियोगे, पादपूरणे च। च=और।

ये – यद्–पु., प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। ये=जो।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँ्स्ताँ्चक्रे वायव्यान् आरण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥8॥

अन्वय

सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् संभृतम्। वायव्यान् आरण्यान् ये च ग्राम्याः तान् पशून् चक्रे।

अनुवाद

जिस यज्ञ में सबका आत्मरूप पुरुष 'अहं' आहुत कर दिया जाता है, ऐसे सर्वपूज्य, सर्वसम्मत, सर्वोपास्य यज्ञ से समस्त भोग्य पदार्थ, शरीर में पालक और पूरक रूप में विद्यमान वीर्य या रेतः और व्यान रूप घृत उत्पन्न हुआ। उसी से वायु के समान गुण वाले, तीव्र वेगवान, वायु से जीने वाले, अन्तरिक्ष में विचरने वाले पक्षी, वन में रहने वाले पशु और ग्रामीण (अश्व, गौ आदि) पशु उत्पन्न हुए।

व्याख्या

सर्वव्यापक पुरुष जिस यज्ञ में आहुत किया जाता है, ऐसे मानस यज्ञ से दधि मिश्रित आज्य (घी) या मधुपर्क का सम्पादन किया गया। इससे सभी भोग्य पदार्थ तथा वायु में विचरने वाले पक्षी, वन्य एवं ग्राम्य पशु उत्पन्न हुए।

इस ऋचा में वर्णित ये पशु लौकिक नहीं अपितु दार्शनिक या योग की अनुभूति के पारिभाषिक पशु हैं। यहाँ वैदिक छान्दस-दर्शन की व्याख्या छान्दस पशुओं के रूप में की गई है। इसमें तीन प्रकार के पशुओं का वर्णन किया गया है – वायव्य, आरण्य एवं ग्राम्य।

श.ब्रा. 3-6-5-16 में लिखा है-'छन्दांसि गच्छ स्वाहेति सप्त वै छन्दांसि सप्त वै ग्राम्या पशवः सप्तारण्यास्तानेवैतदुभयं प्रजनयति'। सात छन्द हैं, इनमें से सात ग्राम्य पशु हैं एवं सात आरण्य पशु। इन तीनों पशुओं का सीधा सम्बन्ध छन्दों से हैं। श.ब्रा. 8-2-3-4 में 19 वायव्य पशुओं की गणना की गयी है, जिनमें नौ अनिरुक्त पशु हैं, दस निरुक्त। अनिरुक्त पशु पूर्वार्द्धीय हैं, निरुक्त उत्तरार्द्धीय। इनके नाम छन्द सहित निम्न हैं – (1) प्रजापति छन्द (मूर्द्धावयः), (2) मयन्द प्रजापति छन्द (क्षत्रंवयः), (3) अधिपति छन्द (विष्टयो वयः), (4) परमेष्टी प्रजापति छन्द (विश्वकर्मावयः) – ये मूर्द्धादि

पक्षी बनकर उड़ गये। फिर (5) एक पदी विवलं छन्द (वस्तोवय:), (6) द्विपदी विशाल छन्द (वृष्णिर्वय:), (7) तन्द्र पंक्ति छन्द (पुरुषो वय:), (8) अनाधृष्ट विराट् छन्द (व्याघ्रोवय:) एवं (9) छदिच्छन्द (सिंहोवय:)–ये भी वस्तादि पक्षी बनकर उड़ गये। ये सभी अनिरुक्त पूर्वार्द्धीय पक्षी रूप छन्द हैं।

इसके अनन्तर (10) बृहती (पष्टवाङ्), (11) ककुप् (उक्षा), (12) सतो बृहती (ऋषभ), (13) पंक्ति (अनड्वान), (14) जगती (धेनु), (15) त्रिष्टुप् (अवि:), (16) विराट् (दिव्याट्), (17) गायत्री (पंचावि:), (18) उष्णिक् (त्रिवत्सं) एवं (19) अनुष्टुप् (तुर्यवाड्)–ये सब छन्द पशु नामी पक्षी बनकर उड़ गये। ये उत्तरार्द्धीय निरुक्त पशु हैं। ये उड़ने वाले अन्तरिक्ष दैवत्य छन्द हैं, अत: वायव्य पशु कहलाते हैं। तै. ब्रा. 3-2-1-3 में लिखा है–'अन्तरिक्ष दैवत्या: खलु वै पशव: वायव एवैतान् परिदधाति'। यजुर्वेद 14-9 और 10 में इसका विस्तृत वर्णन है।

ये पशु सातों सप्तकों से सम्बन्ध रखते हैं। अत: सात-सात की गिनती के पशु कहलाते हैं क्योंकि छन्द में सभी सप्तक आ जाते हैं।

आरण्य का अर्थ 'अरणिभवा आरण्या' है। समस्त दर्शन आरण्य हैं इसलिए भी ये आरण्य-तत्त्व या पशु कहलाते हैं। यह आरण्यपाद रूप अरणियों से बनता है, अत: आरण्य कहलाता है। 'अरण्येभवा आरण्या' व्याख्या भी दार्शनिक और पारिभाषिक ही है। ये अरणियाँ वे हैं जिनसे आग निकलती है, ये पाद रूप अरण्या हैं जिनके बारे में ऋग्वेद में कहा गया है– 'अरण्योर्निहिता जातवेदा: गर्भ इव सुधितो गर्भिणीभि:' (ऋ. 3-29-2)।

इन अरणियों या अरण्यों के निर्माता आरण्य पशु या छन्द हैं। श.ब्रा. 9-3-1-24 में इन सप्त अरण्यों को सप्त मरुत् बताया गया है। इन छन्द रूप पशुओं की संख्या विराट् छन्दाक्षरों में 40 दी गई है।

ग्राम्य-पशु ग्रामों के पशु हैं, ग्राम नाम संगीत शास्त्र में सप्तकों का है- 'सप्तस्वरास्त्रयोग्रामा...'। इन ग्राम्य-पशु रूप छन्दों का विवेचन ग्रामणी नाम से श.ब्रा. 8-6-2 और तै.सं. 4-4-2-6 में विस्तार से दिया गया है।

सात छन्द पुरुषों में सात प्राण हैं।

छन्दों को पशु इसलिये कहा गया है कि ये प्राय: चतुष्पाद (चार चरण वाले) होते हैं और पशुओं की तरह बोझ ढोते हैं–(1) वेदों के लिए मन्त्र रूप शरीर का बोझ। (2) दर्शन के लिए अक्षर और पाद रूप तत्त्वों का बोझ, जिससे तत्त्वों का स्थान, मान और उपयुक्त विवरण सुविधापूर्वक दिया जा

सकता है तथा (3) ये भावात्मक एवं ज्ञानात्मक ब्रह्म शरीर को स्वयं धारण करते हैं।

अत: दर्शन की समुचित व्याख्या करने के लिए उपर्युक्त वायव्य, आरण्य और ग्राम्य नाम छान्दस पशुओं की अवतारणा वैदिक ऋषियों ने ब्रह्म या यज्ञ के विकास को दर्शाने के लिए की थी।

ब्रह्म का नाम यज्ञ भी है, प्रत्येक तत्त्व का भी जिस तत्त्व का विवेचन करना है, उसको उतने अक्षरों या पादों का तत्त्व बतलाकर उसकी व्याख्या उस तत्त्व रूप यज्ञात्मक छान्दस पशु के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञ, सर्वहुत् और सम्भृत, पृषदाज्य शब्द पारिभाषिक हैं। यज्ञ का भाव यजनशील और विकासशील है, जब यह प्रथम तत्त्व का निर्देश करता है तब इसे सर्वहुत्, स्वाहा, स्वा: या सुप्त कहते हैं (श.ब्रा. 10-5-2-24)।

पृषदाज्य का मतलब प्राण रूप अन्न या आध्यात्मिक और भौतिकात्मा का मीठा घोल होता है। पर छान्दस पशुओं के सम्बन्ध में उनमें जो दूध होता है वह प्राण रूप है, उससे दधि और आज्य बनता है। अत: पृषदाज्य का अर्थ दही, घी का मिश्रित रूप दूध या प्राण है। दही त्रिपादामृत का संकेतक है और घी भौतिकात्मा का। कर्मकाण्ड में इनका अभिनय दही-घी के मिश्रण के रूप में किया जाता है। ये प्राण रूप आज्य या अज पुरुष के विकास रूप पशु हैं। चतुष्पाद ब्रह्म रूप पशु है, दधिसर्पि रूप है। इन छान्दस पशुओं में जो पाँचों रूप अन्न, प्राणा:, पृषदाज्य, सम्भृत, सुरक्षित या अन्तर्निहित हैं, वे पूर्वार्द्ध युक्त उत्तरार्द्ध के रूप में चतुष्पाद ब्रह्म के रूप हैं, उसी की व्याख्या के लिए यहाँ वायव्य, आरण्य और ग्राम्य नामक नाना छान्दस पशुओं की अवतारणा की गई है। यह ब्रह्म व्याख्या की छान्दस दार्शनिक परिपाटी है।

इस यज्ञ में सर्वद्रष्टा परमेश्वर को अतिथि के रूप में भी अभिमन्त्रित किया गया है। यहाँ एक ही परमेश्वर के व्यक्त और अव्यक्त भेद से विराज्, वैश्वानर, भूत, तत्त्व आदि अनेक रूप वर्णित हैं। यज्ञ द्वारा प्राप्त दधि मिश्रित घी और जंगली एवं पालतू पशु की उपलब्धि अपना विशेष महत्त्व रखती है।

दधि मिश्रित घृत से तात्पर्य यहाँ स्थूल और सूक्ष्म गुणों की अभिव्यक्ति से है। घी दही का सूक्ष्म गुण है और दूध दही का स्थूल रूप। स्थूल+सूक्ष्म से ही दोनों की पूर्ण अभिव्यक्ति संभव है। दही और घी का दूध से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं है। दूध को बाह्य रूप में देखने पर उसमें दही या घी का कोई प्रमाण नहीं दिखता है, फिर भी सब जानते हैं कि ये दोनों तत्त्व उसमें सदा

विद्यमान हैं। जमाने से पहले दही और मथने से पहले घी कभी नहीं निकलता है। जब तक दोनों तत्त्व अलग नहीं होते, प्रकट नहीं हो जाते, तब तक उनकी विद्यमानता उसी पदार्थ में बनी रहती है।

इसी प्रकार लकड़ी और अग्नि दोनों एक साथ विद्यमान रहती हैं पर लकड़ी को देखने से अग्नि का आभास नहीं हो पाता है। दो अरणियों को घिसने के पश्चात् ही अग्नि-कण और धुआँ उत्पन्न होते हैं। दोनों में ही तात्त्विक भिन्नता है। ये उनके सूक्ष्म गुण हैं। उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में स्थूल और सूक्ष्म दोनों गुण विद्यमान रहते हैं। यदि केवल एकमात्र स्थूल गुण ही वर्तमान रहे तो संभवत: वह उस पदार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होगी। पदार्थ के निर्माण में दोनों गुणों की विद्यमानता आवश्यक है।

जंगली और पालतू पशुओं की उत्पत्ति का तात्पर्य यहाँ सामान्य पशु और आन्तरिक पशु-वृत्ति से भी हो सकता है। बाह्य अर्थ में पशु सामान्य पशु का बोधक है और आध्यात्मिक अर्थ में हमारे अन्दर विद्यमान काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष रूपी पशु-वृत्ति का द्योतक है,

जिसके प्रभाववश व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है, स्वभाव के विपरीत आचरण कर बैठता है, जिस पर उसका नियन्त्रण नहीं रहता। इन प्रवृत्तियों में वायु को भी आधार माना गया है। योगशास्त्र के अनुसार जिस प्रकार वायु शान्त नहीं रहती, वैसे ही मानव मन भी शान्त नहीं रह पाता है, वह सदैव चंचल बना रहता है। अपनी इन पशु-वृत्तियों पर विजय पा लेने के कारण और चतुष्पाद स्वरूप होने के कारण जितेन्द्रिय शंकर 'पशुपति' कहलाते हैं। उन्होंने पशु-वृत्ति को नियन्त्रित कर लिया है।

सृष्टि संरचना क्रम में मनुष्य से पहले दधि के जीवाणु या शुक्राणु रूप में सर्वप्रथम जीव-जन्तुओं का अवतरण हुआ।

विशेष

यह मन्त्र यजुर्वेद में छठे और अथर्ववेद में 14वें स्थान पर है। पाठान्तर कहीं भी नहीं है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

तस्मात् – तद्–पु., न., पंचमी विभक्ति, एकवचन। तस्मात्=उससे।
सर्वहुतः – सर्वः – त्रि. सृ (गतौ)+वन्। सर्व सर्पणे+अच्, सर्वति इति।

समग्रे, संपूर्णे, सकले, शिवे, विष्णौ। हुतः हु (दानादनयोः)+क्विप्। सर्वं समग्र जुहोति अस्मिन् इति।

सर्वहुतः – पंचमी विभक्ति, एकवचन। सर्वव्यापकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्। सर्वहुतः = जिसमें सब कुछ आहुत कर दिया जाता है।

संभृतम् – सं+भृ (भरणपोषणयोः)+क्त। संभृतम्=उत्पन्न हुआ।

पृषदाज्यम् – पृषत्–क्ली. पृषु (सेचने)+'वर्तमाने पृषद्बृहन्महदिति अति-प्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते। पृषिरंजिभ्यां कित्' इति अतच् स च कित्। पर्षतीति। बिन्दौ, सेकयुक्ते। पृषत् च आज्यम् च तयोः समाहारः। पृषदाज्यम्=दही से युक्त घी।

पशून् – पशुः–पु. दृशिर् (प्रेक्षणे)+'अर्जिदृशि कभ्यमिपंसीति' कु, पश्यादेशश्च। दृश्+कु पशादेशः। सर्वं अविशेषेण पश्यतीति पशुः। पश्यन्ति पार्श्वहस्ताभ्यां हिताहितम् इति। मृगादौ, जन्तुभेदे, देवे, यज्ञे, संसारिणामात्मनि। अव्यय–दृश्यते इति–दृश्+भावेकु, पशि आदेशश्च=दर्शनार्थे। पशून्–द्वितीया विभक्ति, बहुवचन। पशून्=पशुओं का।

तान् – तद्–पु., द्वितीया विभक्ति, बहुवचन। तान्=उनको।

चक्रे – डुकृञ् (करणे)–लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। चक्रे=बनाया।

वायव्यान् – वायुः–पु. वा (गतिगन्धनयोः)+'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशुभ्य उण्', इति उण्, 'आतो युक् चिण्कृतोः', इति युक्=वायुः, वातीति। श्वसने, समीरे, पवमाने। वायु+यत्=वायव्य। वायव्यान्–द्वितीया विभक्ति, बहुवचन। वायव्यान्=वायु में विचरण करने वाले।

आरण्यान् – अरण्यम्–न. ऋ (गतौ)+अन्य। 'अर्तेर्निच्चेति' अन्य। 'अर्यते गम्यते शेषे वयसि अत्र इति अरण्यम्'। अरण्ये, वने। अरण्ये भवः आरण्यः+तान्=आरण्यान्। अरण्य+(अ) आरण्य। आरण्यान्–द्वितीया विभक्ति, बहुवचन। आरण्यान्=जंगलों में रहने वाले।

ग्राम्यान् – ग्रामः – पु., ग्रस्+'ग्रसेरात्'–इति मन् धातोराकारान्तादेशश्च। आदन्तादेशः। बहुजन वसतिः, संवसथः। ग्राम्यम्–ग्रामे भवम्–ग्रामेभवः–'ग्रामाद्यरवजौ' इति य। प्रकृते, मूढे, ग्राम–भवे। ग्राम्यान्–द्वितीया विभक्ति, बहुवचन। ग्राम्यान्–गाँवों में रहने वाले।



तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाँ्सि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥9॥

अन्वय

सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे। तस्मात् छन्दांसि। तस्मात् यजुः अजायत।

अनुवाद

जिस यज्ञ में सबका आत्म रूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, उस यज्ञ से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुआ। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए। उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

व्याख्या

यज्ञ में सर्वद्रष्टा ब्रह्म आमन्त्रित था। यह मन्त्र, ज्ञान और ज्ञान की उपलब्धि को इंगित कर रहा है। इस यज्ञ से ऋग्वेद की ऋचायें, सामवेद के साम, गायत्री, अनुष्टुप्, पंक्ति, विराट् आदि छन्द तथा यजुर्वेद के यजुष् की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के मन्त्र और गायत्री आदि छन्द आत्मान्वेषण, आत्म-विश्लेषण, आत्म-निरीक्षण और आत्म-साक्षात्कार के समय सुनाई पड़ते हैं। अणु-परमाणु में भी स्पन्दन और ध्वनि विद्यमान रहती है। वैज्ञानिक दृष्टि से अगर देखा जाये तो यह बात सत्य है, क्योंकि अणु और परमाणु में भी एक ध्वनि है, स्पन्दन है, क्रिया है। यदि उस ध्वनि को, स्पन्दन को सुना जाये एवं उसे एकरूपता प्रदान की जाये तो मन्त्रों की उत्पत्ति प्रक्रिया को अनुभव कर सकते हैं। मन्त्र शब्द-समूह एवं अक्षर-समूह हैं। शब्द, स्वर एवं स्पन्दन पहले भी थे, आज भी विद्यमान हैं। शब्द, स्वर एवं स्पन्दन की उत्पत्ति आपने या हमने नहीं की, बल्कि पहले से ही हो चुकी है। जैसे शरीर के हाथ-पैर आदि अवयव होते हैं, उसी प्रकार आकाश के गुण रूप में विद्यमान शब्द चेतना के अंग होते हैं, जिनके माध्यम से चेतना अपने को व्यक्त करने में सक्षम हो पाती है। शब्द-ज्ञान ही श्रुति-ज्ञान है। श्रुति-ज्ञान से तात्पर्य यहाँ श्रुति, स्मृति, वेद, पुराण और शास्त्र से नहीं अपितु श्रवण शक्ति से है। शब्द का मूल स्रोत चेतना या आकाश है, जो देश, काल और पदार्थ के बन्धन से मुक्त है। चेतना का प्रकटीकरण श्रुति-ज्ञान द्वारा होता है। ज्ञान के विषय को गुरु-शिष्य परम्परा के

पूर्व देखें। हम एक ऐसे काल में पहुँचेंगे जहाँ हजारों वर्ष पहले सृष्टि का प्रथम मानव अकेला रहा होगा। उसने श्रुति-ज्ञान कहाँ से सुना होगा या प्राप्त किया होगा? कोई अवस्था ही माध्यम रही होगी। निश्चित रूप से चेतना ने ही ज्ञान को उस प्रथम आदि मानव के सामने किसी प्रकार व्यक्त किया होगा। ईश्वर ने स्वयं प्रकट होकर ज्ञान दिया होगा, ऐसी सम्भावना हो सकती है। किन्तु उस ज्ञान को चेतना ने ही ग्रहण किया और ग्रहण करने की प्रक्रिया में जो एक रूप प्रदान किया होगा, वही श्रुति-ज्ञान है।

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥ (रामायण 14-52-70)।

स्नान करते समय व्याध के बाण से घायल, मरणासन्न साथी के लिए बिलखते क्रौंचमिथुन को दया भाव से पूर्ण महर्षि वाल्मीकि ने देखा। उनके इन शब्दों ने अनायास ही संस्कृत के आदि श्लोक और आदि काव्य का स्वरूप निर्धारित कर दिया था।

महर्षि वाल्मीकि की चौर्य कला प्रवीणता, विमूढता, वर्षों तक 'मरा मरा' जप करते हुए, दीमकों द्वारा लाई गई मिट्टी से दबे शरीर का वाल्मीक रूप धारण करने के पश्चात् वाल्मीकि ऋषि बन जाने तक की जीवन गाथा से तो सब परिचित हैं। वाल्मीकि न तो विद्वान् थे न ऋषि ही, किन्तु तपःपूत उनकी चेतना ने करुणाभिभूत होकर जिन शब्दों की अभिव्यक्ति की, वह अनुष्टुप् छन्द में आदिश्लोक बन गया। श्रुति-ज्ञान उनकी चेतना का अभिन्न अंग बन गया।

आज भी इस प्रकार के लोग होते हैं, जो अनेक प्रकार की भाषाओं में बिना जाने, बिना पढ़े, बिना सीखे भी सहज भाव से बोल सकते हैं। अपने गंगा दर्शन आश्रम की एक सत्य घटना है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि शब्द चेतना का अंग है। एक बार एक परेशान देहाती परिवार ने अपने एक सदस्य को आश्रम में भर्ती कराया। परेशानी यह थी कि वह व्यक्ति निद्रा में नित्य ही कुछ बड़बड़ाने लगता, जिसे कोई समझ नहीं पाता था। उसके आश्रम प्रवास के कुछ दिनों पश्चात् एक विदेशी विद्यार्थी रात को लघुशंका हेतु उस कमरे के बगल से गुजरा, जहाँ वह आदमी सोया हुआ बड़बड़ा रहा था। बड़बड़ाहट सुनकर आश्चर्यचकित विदेशी विद्यार्थी वहाँ रुक गया। उसे आश्चर्य हो रहा था कि इतनी रात को उसकी मातृभाषा में यहाँ कौन बोल रहा है? कुछ काल के बाद वास्तविकता का ज्ञान हुआ। सोया हुआ वह व्यक्ति

फ्रेंच भाषा में धारा प्रवाह बोल रहा था। कहाँ बिहार राज्य के एक देहात का अनपढ़ आदमी और कहाँ फ्रेंच भाषा पर पूर्णाधिकार! देहाती वक्ता स्वयं इस बात से अनभिज्ञ था कि वह फ्रेंच भाषा जानता है। उसके लिए तो वह एक बीमारी मात्र थी।

इस घटना से स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि वह आदमी, जिसने कभी कुछ सीखा नहीं, इतनी सरलता से उस भाषा को कैसे बोलने लगा?

योग और अध्यात्म शास्त्र का कथन है कि चेतना सर्वज्ञाता है। भूत, वर्तमान, भविष्य और देश, काल, परिस्थिति जनित बन्धन से यह निर्मुक्त है। वस्तुतः चेतना कहीं भी, किसी भी रूप में, किसी भी भाषा, विद्या अथवा विज्ञान को ग्रहण कर सकती है। ग्रहण किया गया वह ज्ञान भीतर में रहता नहीं है। वह अभिव्यक्ति चाहता है, उसे प्रकट करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति सजग ही रहे। हठात् ज्ञान की वह अभिव्यक्ति ही चेतना का श्रुति-ज्ञान है।

इसी प्रकार उस यज्ञ से श्रुति-ज्ञान उत्पन्न हुआ, जो बाद में वेदत्रयी के नाम से जाना गया। वेद शब्द का अर्थ जानना है। विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम, विद् विचारणे और विद् लृलामे, इन चार धातुओं से बने वेद शब्द का अर्थ है – 'दिव्य ज्ञान जो सदैव विद्यमान है, जिस पर निरन्तर विचार-विमर्श, मनन-चिन्तन किया जा सकता है और जो सदैव शाश्वत लाभ के लिए ही होता है।'

वेदों के अतिरिक्त ब्रह्म का नाम भी वेद है। यह अर्थ पारिभाषिक है। वेद-ब्रह्म का विकास, अक्षर-ब्रह्म का विकास है। यह विकास दो भागों में विभक्त है – पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में ऋक् और साम का विकास होता है। उत्तरार्द्ध में यजुष् और छन्दांसि का।

जिस प्रकार छन्दाक्षरों से ब्रह्म-विकास के क्रमिक तत्त्वों और पादों का निर्धारण किया जाता है, उसी प्रकार 16 स्वर, 8 उष्माण, 4 अन्तःस्थ और 25 पंचवर्गीय ध्वनियों से पादों और तत्त्वों का निर्णय किया जाता है। ऋक् में ऋ से क तक के तत्त्व हैं और यजुः में य से जवन शील तक। 'यच्च जूश्च जवते तस्माद्यजुः' (श.ब्रा. 10-3-5-1)। प्रथम पाद प्रथम आठ ह्रस्व स्वरों का होता है, आ से प्रथम विकास ऋ है। फिर लृ इ उ आदि द्वितीय पाद इनके दीर्घ का है। तृतीय पाद आठ उष्माणों का है। स्वर ऋक् हैं। उष्माण साम हैं। उत्तरार्द्ध में पहले अन्तःस्थ य से प्रारम्भ होकर य र ल व तक, तदनन्तर पंचवर्गीय व्यंजन या छन्दांसि उदीयमान होते हैं।

यह वह 'आसन्दी' है जिसके तानेबाने ऋग्यजु हैं। उसमें 49 ध्वनियाँ तो स्थूल-प्रतीकी या तत्त्व-प्रतीकी हैं। वेद-ब्रह्म में तो अनन्त अक्षर हैं, जिनका विवेचन–'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन...(ऋ. 1-164-39-41)' मन्त्र में किया गया है। 'ऋचो अक्षरे' में षष्ठी का द्विवचन–'ऋचां यजुषां समाहार ऋक् तयो:' ऋच: नामक समाहार है और दोनों पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के संकेतक हैं। 'अक्षरे' यह द्विवचनान्त ही दोनों भागों के अक्षरों की सूचना देता है। इन अक्षरों में अनन्त-तत्त्व (देवा:) व्याप्त हैं। इन अक्षरों के जानकार मनुष्य को ब्रह्मविद कहा जाता है। अगली ऋचा में अक्षर की संख्या बताते हुए कहा गया है कि गौरी नामक वाक् का अक्षर रूप सागर (सलिलानि) हैं, उसमें (1+2=3)x4x8x9x1000x10,000=8,64,00,00,000 मुहूर्त रूप अक्षर हैं। इनके भी सूक्ष्म विभाग हैं जिनका विभाजन शतपथ ब्राह्मण 12-3-2-4 से 8 तक के मन्त्रों में 3,28,05,00,000 दिया गया है। ये अक्षर-ब्रह्म के सूक्ष्म-अक्षरीय तत्त्व हैं जो अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। इसकी दूसरी गणना चार युगों के वर्षों के प्रमाण को 1000 से गुणा करने से मिलती है। वह 4,32,00,00,000 है। यही अक्षर तत्त्व भी हैं, यही वर्ष रूप में इस सृष्टि की आयु की सूचना भी देते हैं जो वैज्ञानिक मत के अनुकूल है। वेद-ब्रह्म की अक्षर-ध्वनियों के विकास या विवर्त के विषय में निम्न विचार हैं। ब्रह्म विवृत् है, उस विवृत् से विवर्त का आरम्भ होता है। 'विवृदसि विवृतेत्वा त्रिवृदसि त्रिवृतेत्वा (य.वे. 15-9) विवृताय स्वाहा (य.वे. 22-8)'।

पहले ऋक् या स्वरों का विवर्त होता है, फिर साम या उष्माणों का, तदनन्तर उत्तरार्द्ध के यजु: और छन्दांसि का अपने पृथक्-पृथक् स्वरों और उष्माणों से होता है। इस विकास का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण 5-5-32 में भी किया गया है। वहाँ स्पष्ट है कि प्रजापति ने सृष्टि विकास के लिए तप किया। उससे तीन लोक, पृथ्वी (भू:), अन्तरिक्ष (भुव:) और दिव (स्व:) हुए। उनसे ऋग्यजु: साम रूप 'अउम्' तीन आद्याक्षरीय सप्तक उत्पन्न हुए, उनका समाहार 'ॐ' है, वही प्रजापति है जिसने तप किया। ॐ, या स्वरों का विकास ही तप है। देवताओं का यज्ञ भी यही है। 'यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवा:' अर्थात् स्वरों के विकास के लिए ॐ रूप अग्नि ने अग्नि विकासीय प्रतीक रूप ध्वनियों का विकास किया। देवता-ध्वनि प्रतीकी-स्वर हैं। इसमें केवल पूर्वार्द्ध की ध्वनियों का विकास दिया है। उत्तरार्द्ध की छन्दांसि या वर्गीय-ध्वनियों की चर्चा नहीं की गई है।

ऋग्वेदीय मत के अनुसार यजु: नाम दीर्घ स्वरों का है। वैदिक वेदवाद, शब्द-ब्रह्म विकासवाद है। इस पद्धति से ध्वनि का जो विकास होता है, उस शैली से ब्रह्म के विकास का वेदविद् आचार्य ब्रह्म रूप में संहिता के नाम और मन्त्रों की संख्या देकर वर्णन करते हैं। अत: ब्रह्म से ऋक्, साम, यजु: और छन्द (मन्त्र) उत्पन्न हुए, यह कहने की प्रणाली अक्षर-ब्रह्म की विकास परम्परा को पूर्वोक्त रीति से बताती रही है। 'यस्य नि:श्वसितं वेदा:' यह वचन और ब्रह्म के चार मुखों से चार वेद निकलने की पौराणिक अभिव्यक्ति इसी परम्परा को अभिलक्षित करती है।

ऋक्, साम, यजु: और छन्द, यही चार भाग ब्रह्म के चार मुख हैं, इन्हीं से नि:श्वास अर्थात् प्राण रूप ब्रह्म का अग्नि रूप स्वरों में प्रारंभिक विकास हुआ, जो आत्म विन्यास कहलाता है। ध्वनि-विवर्त में जिन ध्वनियों का विकास दिखाया गया है, वह विकास मार्ग शिक्षा शास्त्र का मुख्य अंग है। इस शास्त्र से दो प्रकार के काम लिए जाते रहे हैं – (1) भौतिक शब्द का विकास तथा (2) उसके वर्गों या विभागों से ब्रह्म के वर्गों, भागों और तत्त्वों का वाक् रूप में सूक्ष्म-विवेचन।

ध्वनि-विवर्त ब्रह्म का प्राणाग्नि रूप स्वर-विवर्त और ब्रह्म-विवर्त समझने-समझाने का एक उत्तम और सरल उपाय है। पूर्वार्द्ध को, स्वरों एवं ऊष्माणों के समाहार रूप को 'ॐ' कहते हैं जिसे पादीय भाषा में 'त्रिपादामृत' कहा गया है। शब्द या वाक् का स्वरूप विद्युत् है। ब्रह्म विद्युत् स्वरूपी सर्वव्यापी तत्त्व है। यदि हम अपने अन्दर त्रिपादामृत रूप ब्रह्म ॐकार प्राणरूपी विद्युत् को खोज सकें तो हमें यह अखिल ब्रह्माण्ड-व्यापी-प्रकाश के रूप में मिल सकता है, वही ज्ञान रूप में प्रतीत होता है। उसके विकास की 50 सीढ़ियाँ हैं। जो जिस सीढ़ी तक पहुँच सके, उसको उसी का ज्ञान होगा। स्फुट-ध्वनियाँ बहिर्जगत् की हैं, बाह्य-ध्वनियाँ अन्तर्जगत् की व्यापक, विद्युतीय-वाक् या दैवी-वाक् हैं। बाहर के प्रतीक से भीतर की खोज करनी पड़ती है। अथर्ववेद (11-7-24) में इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है – 'ऋच: सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जक्षिरे सर्वे देवा दिविश्रित:'॥

भौतिक शब्द में भौतिक विद्युत् तरंगें होती हैं जो भौतिक स्पन्दन को सीमित कर सर्वतो-व्यापी-तरंगों से प्रवाहित होती हैं, पर अक्षर-ब्रह्म की आध्यात्मिक अभौतिक मनोमयी सार्वजनीन व्यापक तरंगें असीमित और स्वयं-प्रवाहमयी होती हैं। ये अनन्ताक्षर बीज रूप में अनन्त प्रकार के होते हुए भी, एक

रूप में 'ॐ' प्रतीक में रहते हैं। उस अनन्ताक्षरी-ध्वनि के स्थूल-भेदों को स्वरादि प्रतीकों में भेदमय समझा जाता है। यह अखिल ब्रह्माण्डीय-ध्वनि का अनन्तभेदी, संगीतमय प्रवाह है जो अखिल ब्रह्माण्ड तथा पारिवारिक और वैयक्तिक ब्रह्माण्डों में आभ्यन्तर ध्वनि रूप में अनुभूत किया जाता है।

ब्रह्म तीन प्रकार का है –

(1) *पुरुषोत्तम कैवल्य-ब्रह्म* – यह अखिल सृष्टि-बीजों की उत्पत्ति का भूः है।

(2) *अक्षर-ब्रह्म* – यह विकासोन्मुख 'मनोवाक् प्राणानां त्रिवृत्' ब्रह्म है। यह अनन्त बीजों को एक बीज रूप में प्रस्फुटित कर लेता है। ब्रह्म में ये बीज ब्रह्मात्मक एकात्मीय थे। यह बीज त्रिपादामृत में 24 सीढ़ियों में त्रिधा-विकसित होता है, जिसे पूर्वार्द्ध कहते हैं।

(3) *क्षर ब्रह्म* – इसका विकास उत्तरार्द्ध में होता है। यहाँ बीज को प्रथम पर्ण या भौतिकता मिलती है जिसे सुपर्ण कहते हैं। यहाँ ब्रह्म मधुवैद्युतीय रूप में रहकर चतुर्धात्मा हो जाता है। पूर्वार्द्ध में केवल 'ऋतशर' (पॉजिटिव चार्ज) था, अब 'सत्यशर' या 'भौतिकशर' (नेगेटिव चार्ज) उत्पन्न हो जाता है। इनका विकास व्यंजन ध्वनियों की तरंगानुसार, स्वरानुश्लिष्ट रूप में, चतुष्पाद ब्रह्म रूप में केवल विद्युत्प्रवाह के रूप में होता है। इस विद्युत्प्रवाह का नाम प्राण है जो विद्युत्परमाणु की तरह स्वयं-संचारी है। वर्तमान के ईथर या मैग्नेटिक तरंग बहुत स्थूल पदार्थ हैं। रेडियो तरंग भी स्थूल है। इनकी अपेक्षा उक्त अक्षर-ब्रह्म की अक्षर-रूप आध्यात्मिक और भौतिक-विद्युत्मयी-तरंग अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापक, एकमय और एक होने पर भी अनेक में विभक्त होने वाली है।

विशेष

यह ऋचा यजुर्वेद में सातवां मन्त्र है और अथर्ववेद में तेरहवां। ऋक्यजुः दोनों का पाठ एक समान है। अथर्ववेद में 'छंदांसि' की जगह 'छन्दोह' पाठान्तर है। यहाँ बहुवचन की जगह एकवचन कर दिया गया है किन्तु अर्थ में विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

ऋचः – ऋचः, स्त्री. ऋच् (स्तुतौ)+क्विप्। ऋचः – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। ऋचति इति (तुदा. पर.) वेदांगे। चमकना, प्रशंसा करना, स्तुतिगान करना। ऋचः = ऋग्वेद।

सामानि – सामान्, न. षो अन्तकर्मणि+'सातिभ्यां मनिन्मणिनो', इति मनिन्। सो+मनिन्। स्यति इति। स्यति विरोधमिति, सान्त्व साम सान्त्वने इत्यास्मात् मनिन् वा। शमयति विरोधमिति शाभ नान्तं तालव्यादि च। शत्रु वशीकरणोपाय विशेषः, वेद भेदे। सामानि – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। सामानि=सामवेद।

जज्ञिरे – जनी (प्रादुर्भावे)–लिट्, प्रथम पुरुष, बहुवचन, (आत्मनेपद)। ज्ञा (अवबोधने)–लिट्, प्रथम पुरुष, बहुवचन, (आत्मनेपद)। जज्ञिरे=उत्पन्न हुए।

छन्दांसि – छन्दः – छन्दस् – क्ली. चदि आह्लादने+असुन् 'चन्देरादेश्च छः' इति असुन् चस्यछश्च। चन्दयति आह्लादयति, चन्द्यतेऽनेन वा इति। वेदे। छन्दसि, पद्ये, अभिलाषे च। छन्दांसि=गायत्री आदि छन्द, वेद।

यजुः - यजुष्, न., यज् (देवपूजासंगतिकरणदानेषु)+(यज्)+उस्=यजुष्, यजति यजते वा इति। ऋक् सामभिन्ने पादच्छेदरहिते मन्त्र भेदे, वेदे। यजुः = यजुर्वेद।

अजायत – जनी (प्रादुर्भावे) – लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। अजायत=उत्पन्न हुआ।



तस्मादश्वाः अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥10॥

अन्वय

तस्मात् अश्वा: अजायन्त। ये के च उभयादत:। तस्मात् ह गाव: जज्ञिरे। तस्मात् अजावय: जाता:।

अनुवाद

उस यज्ञ से घोड़े तथा ऊपर-नीचे दांतों वाले गधे, खच्चर आदि पशु उत्पन्न हुए। गायें, बकरियाँ और भेड़ें भी उत्पन्न हुईं।

व्याख्या

इस यज्ञ से ऐसे पशुओं की उत्पत्ति हुई जिनके केवल एक अथवा ऊपर-नीचे दोनों जबड़े विद्यमान थे, जैसे, घोड़े, गौ, भेड़, बकरी इत्यादि। गाय के केवल निचले जबड़े में दाँत रहते हैं और घोड़े के दोनों जबड़ों में।

सृष्टि संरचना प्रक्रिया में क्रमश: विकास होता गया। शुक्राणु और जीवाणु आदि क्रमश: विकसित होकर बृहदाकार रूप धारण करने लगे। इन शुक्राणुओं और जीवाणुओं का क्रमिक विकास, आकार-प्रकार, स्वरूप, देश-काल परिस्थिति के अनुरूप लघु या बृहदाकार होता है। सृष्टि के प्रारंभ काल का रूप तो हमें ज्ञात नहीं है, किन्तु वर्तमान में यदि गौर करें तो हम पाते हैं कि एक ही वस्तु परिस्थिति के अनुरूप अलग-अलग स्वरूप धारण करती है, जैसे छिपकली, गोह और मगरमच्छ – तीनों का आकार-प्रकार एवं स्वभाव एक जैसा है, किन्तु जल में अनुकूल वातावरण पाकर मगरमच्छ बृहदाकार रूप धारण कर सकता है, रेगिस्तानी बालू पर गोह उससे लघु आकार का और घर में छिपकली अतिलघु बन जाती है। मैदानी भू-भाग का विशालतम पीपल पहाड़ी भूमि पर अमरूद वृक्ष जैसा बढ़ पाता है। सीलनभरे बन्द डिब्बे में उत्पन्न जीवाणु, अर्धसूखे अनाज के सुंडे और गंदे बालों में उत्पन्न जूं, खटमल आदि प्रत्यक्षत: स्वयंभू जीवाणु प्रतीत होते हैं और अपनी परिस्थिति विशेष के अनुरूप आकार धारण करते हैं।

सृष्टि के आदि काल में अतिलघु सरीसृप जीवाणु से यह प्रक्रिया प्रारंभ हुई है, मनुष्य का स्थान बाद में आया है। इस वैज्ञानिक सत्य का द्योतक यह मन्त्र, पशुओं के आकार-प्रकार की चर्चा के बारे में मौन है।

ऋचा में आये अश्वा:, गाव:, अजा, अवि: शब्दों का अर्थ पारिभाषिक है। इन्द्र, मित्र, वरुण, पूषा आदि वैदिक देवताओं की अवतारणा देवता रूप पशुओं में की गई है। पशुओं को अग्नि का स्वरूप माना है – 'त एते सर्वे पशवो यदग्नि: अग्निर्ह्येय यत्पशवस्ततो वै प्रजापतिरग्निरभवत्' (श.ब्रा. 6-1-4-12)।

ये पशु अग्नि के स्वरूपों के प्रतिनिधि हैं। इनकी अपनी-अपनी अलग-अलग उचित व्याख्यायें हैं। अग्नि रूप में पुरुष पशु, अश्व, गौ, अवि और अजा रूपी पांच पशुओं का आधान किया जाता है। 'कतिपशवोग्नावुपाधीयन्त इति पंचेतिन्वेवब्रूयात्' (श.ब्रा. 6-1-2-32)।

इनमें से पुरुष पशु के पश्चात् अश्व का स्थान आता है। अश्व प्राणों का नाम है और प्राण ब्रह्म का रूप है। 'सप्तयुंजन्तिरथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थु: (ऋ. 1-164-2)।

गौ नाम सब लोकों का है – 'इमे वै लोका गौ यद्धि किं च गच्छतीतीमांल्लोकान् गच्छतीमे उ लोका एव अग्नितस्माद् गौरिति ब्रूयात्' (श.ब्रा. 6-1-2-35)।

अग्नि रूप ब्रह्म का नाम 'गौ' है। इसी प्रकार 'अवि:' नाम भी अग्नि का ही है, जैसे –'अविरितीयं वा अधिरितीयं हीमा: सर्वा: प्रजा अवतीयमु वा अग्निरस्यै हि सर्वो अग्निश्चीयते' (श.ब्रा. 6-1-2-33)।

जो इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करती है, उस अग्नि का नाम अवि है। अग्नि से अश्व, रासभ और अज की उत्पत्ति हुई है।

अथ यो गर्भोन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्हवैतमग्निरित्या चक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा:। अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्हवै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षकामा हि देवा:। अथ यद्रसदिव स रासभोऽभवत्, अथ य: कपाले रसोलिप्त आसीत् सोऽजोऽभवत्, अथ यत्कपालमासीत् सा पृथिव्योभवत्। (श.ब्रा. 6-1-1-11)।

उस पुरुषोत्तम पुरुष से सर्वप्रथम अक्षर ब्रह्म रूप में (अग्रे अग्रे) आगे-आगे जिसकी उत्पत्ति हुई उसे अग्रि न कहकर अग्नि नाम से पुकारा। उस अग्नि से जो अश्रु रूप रस निकला उसको अश्रु न कहकर अश्व पुकारा। कुछ लोग उसी को अश्म, स्फटिक, शिला, पाषाण या ग्रावण देवता कहने लगे। उस कपाल पर जो रस दिख पड़ा, उसे रासभ कहने लगे, उसी रस को अज नाम से भी पुकारा गया। कपाल से पृथ्वी तत्त्व बना। यहाँ पर वर्णित 'पंचपशु:'

सर्वा: देवता: पंचपशु हैं। इनका विकास क्रमश: आदि से अन्त तक होता है। ये पांच पशु उत्तरार्द्ध के, प्रारंभ के पांच तत्त्व हैं जिनका वर्णन शतपथ ब्राह्मण (1-2-1-6-9) और बृहदारण्यक उपनिषद् (1-3-4-5) में विस्तार से किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण में पुरुष पशु का 'किम् पुरुष' नाम से भी उल्लेख किया गया है।

इस ऋचा में वर्णित 'पशु' सर्वादेवता है जिनका विकास आदि से अन्त तक अपनी पृथक्-पृथक् प्रणाली से होता है। यहाँ ये पशु विश्वेदेवता हैं तथा इनकी भौतिकात्मकता अश्वादि स्वरूपी न होकर इन शब्दों से अभीष्ट, पारिभाषिक अर्थ के भाव वाले प्राणरूप, गतिरूप, अनादिरूप, श्रवणशीलरूप की भौतिकता है।

वेद में गाव: नाम आदित्यों का है। अर्द्धनारीश्वर रूप तत्त्व, छ: आदित्य, सविता, भग, विवस्वान्, यम, सूर्य और विष्णु रूप गाव: कहलाते हैं।

पुरुष सबसे पहले अश्वरूप में अर्थात् प्राण रूप में प्रस्तुत हुआ। यही अश्व रूप जोड़ा अश्विनी कहलाया। यहाँ ऋचा कहती है कि उस यज्ञ पुरुष रूप पुरुष पशु से 'अश्वा:', भौतिकात्मा के प्रथम भौतिक प्राण रूप तत्त्वों का विकास हुआ। तदनन्तर गमनशील देह रूप गाव: अर्थात् भौतिक दीप्तियुक्त आदित्यों का विकास हुआ – 'तस्मादश्वा अजायन्त' इति। इसी प्रकार रासभ-रासभी, उष्ट्र-उष्ट्री आदि उभय दन्तपंक्ति वालों का ज्योति रसरूप में या दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की ज्योति के रूप में सृष्टिक्रम चल पड़ा।

रासभ रसमय पुरुष तत्व है, रासभी या गर्दभी भौतिकी अर्थात् आसुरी, दीप्तिभरी, रसमयी, आपोमयी सृष्टि है, जिस वृत्र से उद्भूत माना गया –'वृत्रं जघन्वां अफ्तद्वारं' (ऋ. 1-32-10-11)। इसीलिए यहाँ ऋचा में नाम न देकर जो कोई भी दुहरे दांत के पशु हैं, उन्हें कहा 'ये के चोभयादत:'।

इसी प्रणाली से तदनन्तर पुरुष-पशु वृष से अज बना तो वह भौतिकात्मा 'वस्त' अजा बनी। जब पुरुष अवि बना तो भौतिकात्मा मेष बनी। इन दोनों संयोजों से क्रमश: अजा और अवय: (भेड़ें) रूप तत्त्व बने – 'तस्माज्जाता अजावय:'। ये सब तत्त्व अग्नि, विद्युत, भौतिकात्मा सहित त्रिपादामृत, रस, पूर्ण भौतिकता और दैवी एवं आसुरी रूप प्रवृत्तियों से भरे हैं। ये पशु नहीं, पश्यन् तत्त्व हैं। आदित्य और प्राण गतिशील रस सागर तथा सृष्टि के सूक्ष्म

तत्त्व हैं। ऋग्वेद 3-53-23 की 'नवाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति' यह ऋचा गर्दभ पशु को अश्व से पहले रखने के लिए स्पष्ट मना करती है। इस ऋचा से स्पष्ट हो जाता है कि अश्व भौतिक से कहीं अधिक अभौतिक तत्त्व है।

इस ऋचा के ये पंचपशु चतुर्थ सप्तक के ही तत्त्व हैं। इन्हीं से सर्वप्रथम भौतिक सृष्टि का उदय होता है। श.ब्रा. (1-2-1-6) से भी इन कथनों का प्रमाण मिलता है।

विशेष

यह ऋचा यजुर्वेद में आठवें और अथर्ववेद में बारहवें स्थान पर है। पाठान्तर नहीं है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

अश्वाः – पु.(अशू) व्याप्तौ, संघाते च+अशू+क्वन्। 'अशूप्रुषिलटीतिक्वन्'। अश्नुते मार्ग व्यापनोति इति। घोटके, तुरंगे, गन्धर्वे। अश्वा: – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। अश्वा: – घोड़े।

के – किम्–पु. प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

उभयादतः – उभय:–त्रि.–उभौ अवयवौ अस्य– उभ+अयट्। द्वित्व विशिष्टे, युगले। उभय=दोनों (यद्यपि अर्थ की दृष्टि से उभय शब्द द्विवचनान्त है परन्तु इसका प्रयोग एकवचन और बहुवचन में ही होता है)।

अदः – अद् (भक्षणे)+क्विप्, अच् वा। उभयत: दन्ता: येषां ते उभयादत:। उभय+दन्त – उभय के अन्तिम अ को दीर्घ और दन्त को दतृ आदेश। प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। उभयादत: = ऊपर-नीचे दोनों ओर दांतों वाले।

गावः – गौ: – गो–पु., स्त्री. गम्लृसृप्लृगतौ+'गमेर्डो: इति' डो। गम्+डो गच्छतीति, गच्छत्यनेनेति करणे डो, पशु विशेषे, गम्यते कर्मिभि: यज्ञदान-परोपकारादिधर्ममूलक कर्म फलैर्यस्मिन्स्वर्गे। गम्यते ज्ञायते चिन्ताभिप्रायो यया करणे डो=वाचि। गम्यन्ते ज्ञायन्ते विषया येन – गच्छति प्राप्नोति विश्वं

प्रकाशात्मकेन स्वतेजसि, जानाति सर्वमिति वा। सूर्ये, दिशि, किरणे। गाव: – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। गाव: =गायें।

ह – अव्यय, हा+ड। पादपूरणे, सम्बोधने, नियोगे, क्षेपे, निग्रह, प्रसिद्धौ च। ह=निश्चय ही।

अजावयः – अजा-स्त्री. नञ्+जनी (प्रादुर्भावे)+ड 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति कर्तरि ड, उपपद समास:। न जायते न उत्पद्यते य:। विष्णौ, ब्रह्मणि, ईश्वरे, छागे, जीवात्मनि। अजा – प्रथम विभक्ति, एकवचन। अजा=बकरी।

अविः – पु. अव्+इन्। अव रक्षणगति कान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवण-स्वाभ्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यालिंगनहिंसाऽऽदानभागवृद्धिषु धातु + इन्। अवति इति। सूर्ये, मेषे, छागे, पर्वते, प्रभौ च। अजाश्च अवयश्च=अजावय:, द्वन्द्व समास। अजावय: – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। अजावय: = भेड़ें और बकरियाँ।



यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू कावूरू पादावुच्येते ॥11॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ् शूद्रो अजायत ॥12॥

अन्वय

यत् पुरुषम् व्यदधुः, कतिधा व्यकल्पयन्? अस्य मुखम् किम् कौ बाहू, कौ ऊरू पादौ उच्येते?
अस्य मुखम् ब्राह्मणः आसीत्। बाहू राजन्यः कृतः। अस्य यद् ऊरू तद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रः अजायत।

अनुवाद

जो विद्वान् पुरुष उस पुरुष का विविध प्रकार से वर्णन करते हैं, वे उसकी कल्पना कितने प्रकार से करते हैं। इसका मुख क्या है? बाहु क्या हैं? जंघायें कौन सी हैं और पैर कौन से हैं?

इस ऋचा द्वारा ब्राह्मण आदि की रचना-प्रक्रिया बताने के लिए प्रश्न किया गया है। पुनः अगली ऋचा में उत्तर देते हुए कहा गया है कि इस परमेश्वर की बनाई सृष्टि में ब्राह्मण, देव, वेदज्ञ और ईश्वरोपासक प्राणी मुख हैं। राजन्य, क्षत्रिय लोग बाहु के समान हैं। वैश्य उसकी जंघा और शूद्र पैरों के समान हैं।

व्याख्या

उस आदि पुरुष परब्रह्म से जो पुरुष उत्पन्न हुआ उसका स्वरूप क्या था? प्रजापति के प्राण रूप देवताओं, साध्यों और ऋषियों ने जब उस विराट् व्यक्त जगत् का आश्रय लेकर पुरुष द्वारा मानसिक आत्मयज्ञ किया तब उस पुरुष को कितने रूपों में नाना प्रकार से कल्पित किया गया? उस पुरुष का मुख कौन सा था? भुजाएँ कौन सी थीं? जंघा और पैर कौन से थे? मनुष्य रूप में उसका स्वरूप कैसा था?

यहाँ से दुविधा शुरू होती है कि मनुष्य नामक विशिष्ट पुच्छविषाणहीन प्राणी का निर्माण कैसे हुआ। इस प्रश्न का निराकरण 12वीं ऋचा में किया गया है। उसमें ब्राह्मण को सिर से, क्षत्रिय को भुजाओं से, वैश्य को जंघाओं से और शूद्र को चरणों से उत्पन्न माना है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संबंधित प्रश्न सदा से विवादास्पद एवं तर्क-वितर्क के घेरे में रहा है। यह प्रश्न एक ऐसी अवधारणा से संबद्ध है जिस पर मुख्यत: तीन दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है – (1) शाब्दिक (2) शास्त्रीय और (3) संदर्भगत।

ब्राह्मण का मतलब यहाँ ज्ञानमय, विवेकमय अवस्था से है। शाब्दिक दृष्टि से विचार करने पर पाते हैं कि ब्राह्मण शब्द वृंङ् संभक्तौ और बृंहि वृद्धौ धातु से मनिन्, अण् और सुप् लगाकर बना है। वृंङ् का अर्थ होता है बढ़ना या विकसित होना। यह वृद्धि शारीरिक न होकर चेतना से संबंधित है। इस प्रकार ब्राह्मण शब्द का तात्पर्य उच्च चेतना, विकसित चेतना से है। विकसित चेतना ब्रह्म की उच्च अवस्था का द्योतक है जिसका आधार ज्ञान और जागृति है। चेतना का जो विचारात्मक क्षेत्र है, चिन्तन की जो विचारात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आधार ज्ञान और विवेक है, उसे यहाँ ब्राह्मण पद से अभिहित किया गया है। संभवत: यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण मानव-जीवन का एक विचारात्मक एवं विवेकपूर्ण परिणाम है।

क्षत्रिय शब्द क्षद् संवृतौ धातु में त्र प्रत्यय लगकर बना है। 'क्षदति रक्षति जनान् इति क्षत्र:'। 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्र:'। 'क्षतात् किल त्रायते इत्युदग्र: क्षत्रस्य भुवनेषु रूढ:।' क्षत् अर्थात् विनाश से जो रक्षा करे, वही क्षत्रिय है, यह शब्द इसी अर्थ में लोक प्रसिद्ध है।

क्षत्रिय शब्द क्षत्रबल, धृतिबल, धारणाशक्ति, साहस और वीरता का प्रतीक है। क्षत्रिय शब्द का तात्पर्य यहाँ छत्र-छाया से है। यह संरक्षक और संरक्षण शक्ति का बोधक है। यहाँ बाहु शब्द शक्ति का प्रतीक है। शक्ति का प्रयोग सदा संरक्षण के लिए होना चाहिए। आत्मकल्याणार्थ, सत्कार्य हेतु शक्ति का प्रयोग होना चाहिए। यह एक मानवीय तत्त्व है। शक्ति के साथ यहाँ बाहुबल भी समाविष्ट है। भुजबल अर्थात् भुजाओं की शक्ति का प्रयोग संरक्षण के लिए होना चाहिए। यह सामान्य धर्म की बात है कि जिसके पास शक्ति है वह संरक्षण करता है, भले ही इस संरक्षण में स्वार्थ भाव हो या नि:स्वार्थ भाव, किन्तु सदैव आत्म-कल्याण के लिए ही संरक्षण किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति पर कोई खतरा आता है तो वह अपने आप को बचाने के लिए शक्ति का प्रयोग करता है। यदि समूह पर कोई खतरा हो, जिसमें हम रहते हैं, तो उस समूह की रक्षा के लिए शक्ति का सदुपयोग किया जाता है। यह प्रवृत्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं अपितु पशुओं में भी दिखाई देती है। इस ऋचा में रक्षक की उपमा क्षत्रिय से की गई है।

वैश्य शब्द विश् प्रवेशने धातु में क्विप् और ष्यञ् प्रत्यय लगाकर बना है। 'विशति कृष्यादौ इति वैश्य:'। वैश्य वृत्ति परिग्रह से संबंधित है। यह कर्मठता, अध्यवसाय और परिग्रह का प्रतीक है। जंघा हमेशा उपलब्धि का प्रतीक माना जाता है।

व्यावहारिक जीवन में हम जो कुछ भी अर्जित करते हैं, वह आत्म-संतुष्टि के लिए होता है। इसमें हमारा स्वार्थ निहित रहता है। उसके पीछे हमारी इच्छा, आकांक्षा और कामना छिपी रहती है। यहाँ प्रतीकात्मक रूप से बतलाया गया है कि आत्म-संतुष्टि और कामना पूर्ति के लिए कर्म करने वाला वैश्य जंघा से उत्पन्न होता है। जंघा परिग्रह का प्रतीक है और परिग्रह का उत्तरदायित्व निभाने से सीधा सम्बन्ध रहता है।

शूद्र शब्द शुच् (शोके) धातु में रक् प्रत्यय लगाकर के च् को द् अन्तादेश और दीर्घ करके बना है।

'शोचतीति शूद्र:'। शुच् का अर्थ होता है शोक करना। यह अज्ञानमय अवस्था है।

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' अर्थात् पैर से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। पैर मूल आधार-स्तम्भ और गति का प्रतीक होता है। पैर गति के रूप में, गमन करने के लिए आधार के रूप में हमारा साथ देता है। यह सेवा भाव, सम्बल और मूल आधार का प्रतीक है।

सिर, बाहू, ऊरू, पाद, वाक्, (मुख), चक्षु, श्रोत्र, मन और प्राण अध्यात्म शरीर है और द्यौ, ब्राह्मण, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, दिशा क्रमश: उनके देवता हैं। पारिभाषिक रूप में ये तत्त्व सप्तकों के संकेत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ये वर्ण या जातियाँ देवताओं की हैं। प्रथम आठ या दस तत्त्व ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय सप्तक क्षत्रिय, तृतीय सप्तक वैश्य और चतुर्थ भौतिक सप्तक शूद्र नाम से पुकारा जाता है। यह पुरुष पशु के अंगों का विवेचन देता है। एक ही तत्त्व कभी ब्राह्मण कहलाता है, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य और कभी शूद्र।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र – ये देवताओं की जाति, वर्ण या तत्त्वों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का वर्णन करने वाली, सीधे भाव से कही गई पारिभाषिक पदावली हैं। ये पारिभाषिक शब्द ब्रह्म विद्या से संबद्ध हैं। इस ब्रह्म के चार पाद हैं, अत: इसे चतुष्पाद ब्रह्म कहते हैं। उसके चारों पादों का नाम क्रमश: (1) वाक् (ब्राह्मण), (2) प्राण (क्षत्रिय), (3) चक्षु: (वैश्य),

(4) श्रोत्र (शूद्र) है। 'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म वाग्पाद: प्राण: पादश्चक्षु पाद: श्रोत्रं पाद:' (छा. 1-3-18)।

जिसको छान्दोग्य (1-3-14) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहता है, उसी को बृहदारण्यक (2-6-6) 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा' कहकर ब्रह्म के विकास में क्षत्र को द्वितीय सप्तक और देवताओं को तत्त्व (भूतानि) नाम से पुकार कर सबको आत्मा या ब्रह्म कहता है। फलत: प्रथम पाद ब्राह्मण है जिसे वाक् कहते हैं, द्वितीय पाद क्षत्र या प्राण है, तृतीय पाद वैश्य या चक्षु है, चतुर्थ पाद श्रोत्र या शूद्र है। प्रत्येक पाद में अनुष्टुप् गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के आठ-आठ तत्त्वरूप देवता हैं।

अन्य छन्दों के अनुसार पाद के तत्त्वों की संख्या कम या अधिक होती है, जैसे विराट् छन्द का अनुसरण करते हुए अथर्ववेद प्रथम दस तत्त्वों को ब्राह्मण कहता है – 'ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दश शीर्षो दशास्य:' (अ.वे. 4-6-1)।

यही दशानन ब्राह्मण है, जिसका भौतिक विकास आसुरी सम्पदा में रावण कहलाया अर्थात् जब इसका विकास 24वें से 31वें भौतिकता में हुआ तो वह 'रावयतीति रावण:' हो गया। वही दैवी शक्ति सम्पन्न हुआ तो 'रामयतीति राम:' भी हो गया। दोनों एक ही के द्वन्द्व हैं। यजुर्वेद सप्तम काण्ड में भी इस ऋचा के अनुरूप ही भाव वर्णित है, जिसमें ब्राह्मणादिकों के मुख से त्रिवृत रूप में उत्पन्न होने की चर्चा की गई है। इस भाव का रहस्य 'पद्भ्यां भूमिर्दिश: श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्' मन्त्र में है। जिन दो पादों में यहाँ शूद्र तत्त्वों की सृष्टि बतलाई गई है उन्हीं दो पादों से इसी सूक्त की अगली 14वीं ऋचा में भूमि की उत्पत्ति भी बताई गई है। यहाँ पर भूमि शब्द भौतिकवादी है, उसी के भौतिक श्रोत्रों या स्रोतों से दिशायें अर्थात् सीमायें बनीं। जब ये भौतिक सृष्टि करते हैं तो यहाँ के शूद्र तत्त्व का भी इन्हीं भूमि और दिशा के समकक्ष भौतिक तत्त्व रूप स्वत: सिद्ध हो जाता है।

बृहदारण्यक में लिखा है कि आदि में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व था, उसके अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझने पर उसी से सब देवता क्रमश: उत्पन्न हुए। वह पहले अकेला ब्रह्म था। ब्राह्मण रूप में 8 तत्त्व तक एक पाद था। फिर उससे श्रेय रूप क्षत्र या राजन्य नामक तत्त्वों या देवों का विकास हुआ। इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान, ये क्षात्र या राजन्य नामक तत्त्व हैं। ब्राह्मण से क्षत्र-तत्त्वों की दूसरी श्रेणी है। इससे भी सृष्टि कार्य पूरा न हो सका, तब इन क्षत्रों से विश् या वैश्य नामक तत्त्वों की सृष्टि की गई। अष्ट

वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, विश्वेदेवता और मरुत् वैश्य तत्त्व हैं। इनसे भी सृष्टि-कार्य पूरा नहीं हो सका, तब उक्त विश् तत्त्वों से शूद्र तत्त्वों की सृष्टि की गई। यह शूद्र पूषा, पूषाण या पोषणकारी भौतिक तत्त्व हैं जिनको पशुरूप में वर्णित किया गया है। अत: सभी देवता शूद्र ही हैं। पूषा नाम पशु का है – 'पशवो वै पूषा'। इससे भी पूरा नहीं पड़ा तो श्रेयो रूप धर्म की प्रतिष्ठा की गई। धर्म नाम सत्य बोलने का है। जो सत्य बोलता है, वही धर्म बोलता है। वह 'ब्रह्म' इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक तत्त्वों में अग्नि रूप में विकसित हुआ। अत: वेद के अग्नि सूक्तों में जहाँ जिस वर्ण नामक अग्नि का उल्लेख है, वहाँ उसी की स्तुति समझनी चाहिए।

उक्त वर्णात्मक देवताओं में जब रुद्र अकेले रहें तो क्षत्र हैं, पर गणात्मक रुद्र वैश्य हैं। सूर्य, सविता क्षत्र है पर गणरूप में आदित्य वैश्य हैं। वायु क्षत्र है पर गणरूप में यह मारुत् नामक वैश्य है। देवताओं का पुरोहित बृहस्पति ब्राह्मण है पर गणरूप में ब्रह्मणस्पति कहलाने पर वैश्य है। एक-एक विश्वेदेवता शूद्र हैं पर गणयुक्त वैश्य हैं। सोम, वरुण और इन्द्र क्षत्र हैं, पर जब ये सर्वादेवता कहलाते हैं तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब होते हैं। यही बात अग्नि और विष्णु के सम्बन्ध में भी लागू होती है, क्योंकि ये भी सर्वादेवता हैं। देवता कोई भी हो, जब उसका विकास चतुर्थ सप्तक में पूषा, पशु या भौतिक रूप में होता है तो वह शूद्र ही है। सब देवता पशु रूप में वर्णित होने के कारण वस्तुत: शूद्र ही हैं, क्योंकि चौथे पाद में सब देवता चतुष्पाद या पशु हो जाते हैं। मित्र वैश्य पाद में होने पर क्षत्र कहलाता है। सोम, दक्ष, ऋतु शूद्र पाद में होते हुए भी क्षत्र ही हैं। देवता के ये वर्ण किसी ऊँच-नीच भावना के द्योतक नहीं, अपितु वर्णन के लिए हैं। सभी देवता कभी ब्राह्मण हैं, कभी क्षत्र, कभी वैश्य, कभी शूद्र। बिना शूद्र बने कोई देवता पूर्ण रूप को प्राप्त नहीं कर सकता है। ऐ.ब्रा. (7-4-23) में एक उदाहरण देते हुए कहा गया है कि इन्द्र और सोम क्रम से क्षत्र और राजन्य हैं, पर जब ये एक साथ इन्द्रासोमौ होते हैं तो ब्राह्मण कहलाते हैं। अत: वैदिक वर्ण सदा परिवर्तनशील हैं। ऐसी कथाएँ पुराणों में भी कई वंशों के सम्बन्ध में आती हैं।

हमारे ऋषिगणों ने भौतिक शरीर को शूद्र माना। इसीलिए कहा है 'जन्मना जायते शूद्र: संस्काराद्विज उच्यते'। इसी दृष्टि से प्रथम त्रिपादामृतों की तरह प्रथम तीन वर्णों को शूद्र वर्णी भौतिक शरीर से ऊँचा समझा जाता है। ऋग्वेद (7-33-7) में ऋषि वशिष्ठ इसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं 'त्रय: कृण्वन्ति

भुवनेषु रेतस्तिस्त्र प्रजा आर्या ज्योतिरुग्रा:'। अर्थात् इन्हीं तीन ज्योतियों को पाने के लिए त्रिपादा-गायत्री का यज्ञोपवीत रूप संस्कार या ज्ञान देकर शूद्र शरीर को द्विज बनाया जाता रहा है। अत: यह ऋचा सीधे स्पष्ट रूप से चतुष्पाद ब्रह्म का विवेचन वर्ण-नामक अंगों से करती है। यदि यहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वंशपरम्परानुगत जाति और वर्ण सम्बन्धी उत्पत्ति की चर्चा होती तो इस ऋचा से पूर्व और पश्चात् की ऋचाओं में वैदिक दार्शनिक तत्त्वों की उत्पत्ति देने का कोई वैज्ञानिक महत्त्व नहीं रह जाता है।

इन ऋचाओं के अर्थ को लेकर काफी भ्रम है। यहाँ वर्णित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पद देवताओं और तत्त्वों से संबद्ध हैं, वर्णव्यवस्थागत जाति विशेष से नहीं।

सामाजिक दृष्टि से वर्ग-व्यवस्था की अपेक्षा वर्ण-व्यवस्था ने भारतीय जीवन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। आज वर्ण और जाति के नाम पर जो विभेद देखने को मिलता है उसका मूल कारण यह वर्ण-व्यवस्था ही है। मानवीय धर्म से परे हटकर जाति के रूप में सबने अपना-अपना अलग दायरा बना लिया है और मन्त्र का प्रभाव निकृष्ट रूप में ही परिलक्षित होता है। यह विकास के बजाये विनाश के मार्ग पर अग्रसर कर रहा है।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'– मुख से उत्पन्न ब्राह्मण 'द्विजातिभावादुपपन्न-चापल:' अर्थात् ब्राह्मण सुलभ, विवेकी, ज्ञानी होने की अपेक्षा चंचलतावश जन्म-जात बड़प्पन के दंभ से पीड़ित अपने मुख का सदुपयोग या तो पर-निन्दा, लोकापवाद, छिद्रान्वेषण के लिए करते हैं या फिर सुभोजन की तलाश में भोजनभट्ट की गरिमा से मण्डित होने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। स्वार्थपूर्ति के लिए उनके पास सबसे बड़ा ब्रह्मास्त्र है 'शब्द-शक्ति' का वाणी-विलास।

'बाहू राजन्य: कृत:'– भुजाओं से उत्पन्न क्षत्रिय संरक्षण, सुरक्षा और निश्चिन्तता देने के बजाय अपने भुजबल का सदुपयोग पर-पीड़न, शोषण और संघर्ष के लिए करते हैं।

'ऊरू तदस्य यद्वैश्य:'–जंघाओं से उत्पन्न वैश्यगण दान, दया आदि सामाजिक उत्तरदायित्व को भुलाकर परिग्रह तक ही अपने को केंद्रित कर लेते हैं। परिग्रह की प्रवृत्ति उन्हें सर्वाधिक पीवर काया का लोलुप भी बना डालती है।

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'– शूद्रगण की उत्पत्ति चरणों से मानी गई है। गति और स्तम्भ के प्रतीक पैरों की गतिशीलता का प्रयोग शूद्रगण ज्ञानवान्

बनने की अपेक्षा ज्ञान से दूर और दूर भागने के लिए करते दिखाई देते हैं। मुख, बाहु, जंघा और पैरों की यह विडम्बना चारों वर्णों को ग्रसित किए हुए है। जातिगत यह वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज को तोड़ रही है। जो लोग इसी प्रकार की ऋचाओं को आधार मानकर जातिगत वर्ण-व्यवस्था का औचित्य ठहराकर सामाजिक वैमनस्य फैलाने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि दुनिया में, सारी सृष्टि में यह वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज के अन्तर्गत ही प्रचलित है। यदि यह जातिगत व्यवस्था सार्वजीन है तो दुनिया में अन्य धर्मावलम्बियों को जन्म लेने का अधिकार है या नहीं? यदि है तो उनकी गणना किस जाति में की जायेगी? इसे जन्मजात जाति और वर्ण व्यवस्था का सूत्रधार नहीं माना जा सकता है। स्वयं भारतवर्ष में रहने वाले अन्य धर्मावलम्बियों में इस प्रकार की जातिगत वर्ण-व्यवस्था कहीं नहीं दिखाई देती। उन्हें देखकर स्वत: प्रश्न उठता है कि वे कैसे, कहाँ और क्यों पैदा हो गये? वे आखिर हैं क्या? उसी परमात्मा के मुख, भुजा, जंघा और पैरों से वे उत्पन्न हैं या नहीं? यदि यह जन्मजात व्यवस्था होती तो अन्य धर्मों या सभ्यताओं के अवशेषों में भी इस तरह का उल्लेख अवश्य मिलना चाहिए था।

निहित स्वार्थपूर्ति के लिए इस ऋचा के अर्थ का दुरुपयोग हो रहा है, व्यापक, व्यावहारिक, उदारमयी दृष्टि से नहीं। वर्तमान परिस्थितियों में जातिगत वर्ण-व्यवस्था के चक्कर से ऊपर उठकर मानव कल्याण के लिए, हमें सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, यही इस ऋचा का मूल संदेश कहा जा सकता है।

विशेष

ये दोनों ऋचाएँ यजुर्वेद में दसवें और ग्यारहवें नम्बर पर हैं तथा अथर्ववेद में पांचवें और छठे नम्बर पर। यजुर्वेद में प्रथम ऋचा के 'कौ बाहू' और 'कौ ऊरू' के स्थान पर 'किम्बाहू' और 'किमूरू' पाठान्तर है। अथर्ववेद में भी यही पाठान्तर दिया हुआ है।

दूसरी ऋचा के सम्बन्ध में यजुर्वेद का पाठ वही है जो ऋग्वेद का है, पर अथर्ववेद में 'राजन्य: कृत:' के स्थान पर 'राजन्योऽभवत्' तथा 'ऊरू तदस्य' के स्थान पर 'मध्यं तदस्य' पाठान्तर है। इन पाठान्तरों के कारण ऋचाओं के भाव में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

व्यदधुः – वि+अदधु:। वि+डुधाञ् (धारणपोषणयो:)–लङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन। व्यदधु: =विभाजित किया।

कतिधा – कति–त्रि., किम्+डति+धा। संख्या भेद परिज्ञानाय पृष्टे। कतिधा=कितने रूपों में।

व्यकल्पयन् – वि+अकल्पयन्। वि+कल्प्+णिच्, लङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन। व्यकल्पयन्=विविध प्रकार से कल्पित किया।

मुखं – क्ली., खनु (अवदारणे)+'डित्खनेर्मुट् चोदात्त:' इति करणे अच्, स च डित् मुडागमश्च। मुट्+खन्+अच्, डित्। खनति विदारयति अन्नादिकमनेन, खन्यते विधात्रा सुखमनेनेति वा। वदने, आरम्भे, उपाये, नाटके, प्रधाने, वेदे च। मुखं=मुख।

किम् – अव्यय, कै डिमु। प्रश्ने, निषेधे, वितर्के, निन्दायां च। विमर्षे, सम्भावनायाम् च। किम्=क्या।

कौ – किम्–पु., प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। कौ=कौन सी।

बाहू – पु., स्त्री. बाधृ (लोडने)+कु 'अर्जिट्टशिकम्यमिपशिबाधामृजिपशि तुग्धुग्दीर्घहकाराश्च' इति कु प्रत्ययोऽन्तस्य हकारादेशश्च। बाधते शत्रून् इति बाहु:। भुजे, अवयव विशेषे। बाहू–पु., प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। बाहू=दोनों भुजायें।

ऊरू – पु., ऊर्णुञ् (आच्छादने)+कु 'ऊर्णोतेर्नुलोप:' इति कर्मणि कु नुलोपश्च। ऊर्णूयते आच्छाद्यते इति ऊरू:। जानूपरिभागे। ऊरू–प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। ऊरू=दोनों जंघायें।

पादौ – पाद:–पु., पद् (गतौ)+'करणे' घञ्। पद्+घञ्, पद्यते गम्यते अनेन इति पाद: =चरणे। प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। पादौ=दोनों पैर।

उच्येते – वच् (परिभाषणे)। लट्, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, द्विवचन। उच्येते=कहे जाते हैं।

राजन्यः – पु., राजृ (दीप्तौ)+कनिन्=राजन्। राज्ञ: अपत्यमिति–राजन्य:। क्षत्रिये, राजपुत्रे, अग्नौ। राजन्य:=क्षत्रिय।

कृतः – डुकृञ् (करणे)–कृ+क्त। क्रियते सत्यमेवानुष्ठीयतेऽस्मिन् इति। पर्याप्ते, कृते। कृत: =बनाया गया।

तत् – अव्यय, तन्+क्विप्। हेतौ। तत्=तो।

पद्भ्यां – पंचमी विभक्ति, द्विवचन।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥13॥

अन्वय

मनसः चन्द्रमा जातः, चक्षोः सूर्यः अजायत। मुखात् इन्द्रः च अग्निः च, प्राणात् वायुः अजायत।

अनुवाद

उस पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आँख से सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

व्याख्या

मन से चन्द्रमा, आँखों से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि तथा नासिका से निकली वायु से प्राण उत्पन्न होते हैं।

यहाँ मन की तुलना चन्द्रमा से की गई है। उपनिषदों में चन्द्रमा को 'रइयः' या 'रयि' कहा गया है।

मन का क्षेत्र चिन्तन, कल्पना, भावना और महत्त्वाकांक्षा का क्षेत्र है। कल्पना का आधार बीज रूप में विद्यमान पूर्व स्मृति है। वही हमें अकल्पित वस्तु की भी कल्पना करा देती है। मनः शक्ति के साथ जो चेतना शक्ति रहती है, वह बाह्य जगत् में क्रियाशील नहीं होती। मन का प्रकटीकरण विचारात्मक एवं भावनात्मक होता है, जैसे क्रोध का आना, विचारों का आना, इच्छाओं का उत्पन्न होना एवं महत्त्वाकांक्षाओं के बीज में अंकुर आना। बाद में मन इन्द्रियों की ओर दिशान्तरित होता है। फिर इन्द्रियों के द्वारा कर्म में रूपान्तरण होता है। अतः इस मनःशक्ति को चन्द्र शक्ति के नाम से पहचाना गया है। चन्द्रमा स्वयं शीतलता, आनन्द, आह्लाद और शान्ति का प्रतीक है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर चन्द्रगुण अर्थात् अपार शान्ति विद्यमान रहनी चाहिए, तभी वह मोक्षोन्मुख मार्ग पर बढ़ता है।

चक्षोः सूर्यो अजायत – आँख से सूर्य की उत्पत्ति हुई है। यहाँ सूर्य का सम्बन्ध प्रकाश से है। प्रकाश की उपस्थिति में इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं। नेत्र प्रकाश में देखकर ही निर्णय ले पाते हैं। देखते हैं आँख से, फिर विचार और निर्णय करते हैं मन से। इन्द्रियों को समर्थ बनाने की शक्ति प्रकाश के

रूप में प्रकट होती है। प्रकाश माध्यम है जिसके द्वारा हम दृश्य-जगत् को देख पाते हैं। प्रकाश रहने पर ही हमारी इन्द्रियाँ कार्य करने में सक्षम हो पाती हैं। इन्द्रियों को प्रकट होने का जो साधन है और उस साधन में जिस ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, उसे हम तुलनात्मक दृष्टिकोण, बुद्धि या तर्क शक्ति कहते हैं। किसी भी दृश्य को देखकर हम उसके बारे में निर्णय ले सकते हैं, जैसे फूल को प्रथमत: हम आँखों से देखते हैं, फिर सौंदर्य की कल्पना होती है, तब एक विचार उत्पन्न होता है। दृश्य तो केवल इंगित करता है, किन्तु उस वस्तु का विवेचन मन के माध्यम से ही होता है। अत: इन्द्रियों को प्रकाशित करने की, ज्ञान देने की, समर्थ और सक्षम बनाने की शक्ति चक्षु के माध्यम से प्रकाश-पुंज सूर्य के रूप में प्रकट होती है। चक्षु में प्रकाश अर्थात् दर्शन शक्ति और ज्ञान का आलोक, दोनों ही उद्भासित होना चाहिए।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च – मुख से इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए। इन्द्र राजा अर्थात् अहंकार का प्रतीक है और अग्नि है ज्वाला अर्थात् वाक् शक्ति का प्रतीक। वाक् शक्ति द्वारा ज्वाला के रूप में हमारे अहंकार की अभिव्यक्ति होती है। वाणी को प्रज्वलित रूप में देखा गया है। वाक् शक्ति अहंकार से संबंधित है। पहले मन में अहंकार उत्पन्न होता है फिर वह वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, इसीलिए मुख से पहले इन्द्र और उसके बाद अग्नि की उत्पत्ति दिखाई गई है। वाणी में अहंकार स्थूल रूप में छिपा हुआ है। व्यक्तित्व को निखारने के लिए वाणी का उपयोग ही अहंकार की अभिव्यक्ति है। अहंकार की अपेक्षा सुकर्मों के माध्यम से व्यक्तित्व को निखारना श्रेयस्कर, अधिक अच्छा माना गया है।

बातचीत के माध्यम से जब हम एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो अपनी भावाभिव्यक्ति ज्वाला के रूप में प्रकट करते हैं। जिस प्रकार शमी की लकड़ी की दो अरणियों के घर्षण से अग्नि प्रज्वलित होकर धधकती हुई चारों ओर फैलती है, ठीक उसी प्रकार मुख में दन्त, ओष्ठ, तालु आदि से जिह्वा के घर्षण किए जाने पर वाक् शक्ति उत्पन्न होती है, वही मन्त्र के रूप में सदुपयोग किए जाने पर शब्द ब्रह्म का रूप धारण कर लेती है। अभिशाप और वरदान इसी शब्द शक्ति या वाक् शक्ति के परिचायक हैं।

इन्द्र और अग्नि अर्थात् अहंकार और वाक् शक्ति का अन्योन्याश्रित मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। हम वही बोलते हैं जो हमारे अहंकार, स्वभाव, चरित्र और विचारधारा के अनुकूल होता है। यदि हम किसी से क्रुद्ध होते हैं

तो क्रोध उसी परिस्थिति में प्रकट होगा जब वह हमारे विरुद्ध कुछ करे। यदि हम किसी प्राणी की प्रशंसा करते हैं तो इसलिए करेंगे कि उस व्यक्ति ने हमारे हित में कुछ किया, जो हमें अच्छा लगा है। बोलने के समय यदि हमारा ध्यान अपने लक्ष्य और समय की पाबन्दी पर रहे तो वाणी के माध्यम से अहंकार का शिकार होने से बचा जा सकता है। किन्तु व्यवहार में प्राय: ऐसा होता नहीं है। जब हम किसी विषय पर चर्चा करते हैं तो उस वक्त समय की पाबन्दी, देश, काल, पात्र आदि को तो भूल जाते ही हैं, उस विषय पर बोलते-बोलते अपने आपको भी भूल जाते हैं, क्योंकि उस समय हमारा ध्यान सिर्फ एक ही बिन्दु पर टिका रहता है कि अमुक चर्चा का जवाब तो हम देकर ही रहेंगे। मन की यह स्थिति संकल्प को नहीं अपितु अहंकार को प्रकट करती है। 'मैं इसका जवाब दे सकता हूँ।' यह अहंकार का मायाजाल है, संकल्प का नहीं। संकल्प रहने पर संतोष से वह बात समाप्त की जा सकती है। पर ऐसा नहीं होता है। बोलने के समय अपनी छवि, अपने रूप, अपने व्यक्तित्व को निखारना भी अहंकार के पोषण का एक रूप होता है और वह वाणी के माध्यम से निखरता है। ऐसी क्षमता विरले ही व्यक्तियों में पाई जाती है, जो अपने आपको अपने सत्कर्मों के माध्यम से समझा सकते हैं, वाणी के माध्यम से नहीं। 99.9 प्रतिशत लोग वाणी द्वारा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। ज्ञानी वही है जिसके बिना बोले, कर्म के ही द्वारा उसकी प्रतिष्ठा प्रकट हो। वाणी द्वारा प्रतिष्ठा वृद्धि में अहंकार विद्यमान रहता है और कर्म आदर्श अहंकार रहित होता है।

प्राणाद्वायुरजायत – प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। प्राण शक्ति का जन्म परम पुरुष के श्वास से होता है। जीवनी-शक्ति का सम्बन्ध वायु से जोड़ा गया है। योग शास्त्र में प्राण शक्ति और मन: शक्ति, सूर्य शक्ति और चन्द्र शक्ति, पिंगला नाड़ी और इड़ा नाड़ी के परिचायक हैं, किनतु यहाँ इस मन्त्र में सूर्य को अलग किया गया है और प्राण को वायु के साथ जोड़ा गया है। इसका प्रथम कारण दोनों का परस्पर विभाजन करना है और दूसरा कारण श्वास प्रक्रिया की महत्ता प्रमाणित करनी है। श्वास बन्द हो जाने पर मनुष्य की आंतरिक जीवनी शक्ति समाप्त हो जाती है। दस मिनट तक श्वास बन्द हो जाने पर मनुष्य निर्जीव हो सकता है और पाँच मिनट बन्द रहने पर संज्ञाहीन। इसीलिए जीवनी शक्ति का सम्बन्ध यहाँ वायु और श्वास प्रक्रिया के साथ दिखाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में चन्द्रतुल्य शान्ति-शीतलता, चक्षु में ज्ञान का प्रकाश, मुख में अहंकार रहित निश्छल वाणी और प्राण में वायु के समान

पक्षपात शून्यता होनी चाहिए। इस ऋचा द्वारा ऋषियों ने मानव मात्र को यही सन्देश दिया है।

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत। इस ऋचा में वर्णित चन्द्रमा, मनः, चक्षुः, सूर्यः, मुखं, इन्द्रः, अग्निः, प्राणः और वायु शब्द पारिभाषिक तथा दर्शन के तत्त्वों के पृथक्-पृथक् या सामूहिक वर्गों के नाम हैं। यह ऋचा अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करने वाले पुरुष पशु के अंगों का पूर्ण विवेचन देती है। यह योगियों के योग से उद्दीप्त अंगों का अध्यात्म दर्शन है।

ऋचा में वर्णित चन्द्रमा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह स्थूल चन्द्र नहीं है। यह पृथ्वी-गोल का एक भौतिक टुकड़ा नहीं अपितु सूर्य से उत्पन्न चन्द्रमा है। अत्रि के चक्षु से सूर्य नामक आदित्य की उत्पत्ति हुई। अत्रि चतुर्थ सप्तक का प्रथम तत्त्व महर्षि है। उसका प्रथमांकुर चक्षु या आँख कहलाती है। वृक्ष से सृष्टि विकास क्रम की तुलना करें तो जैसे बीज से पहले अंकुर या आँख (चक्षु) निकलती है, फिर पत्ती फूटती है, तब टहनी बनती है, उसी प्रकार चक्षु रूपी अंकुर से जो पत्ती निकलती है, उसे तत्त्वों में सुपर्ण (सुकोमल पत्ती) कहते हैं। पक्षी रूप में सुपर्ण अर्थात् सुन्दर पंखों वाला पक्षी होता है। प्रारम्भ में प्रायः दो दल ही पत्र होते हैं, अतः द्वासुपर्णा कहा गया है। ये दोनों चन्द्रमा और सूर्य हैं। अत्रि की जो आँख है वही चक्षु रूप तत्त्व है। यहाँ अत्रि का संबोधक पद अग्नि है। अत्रि रूप अग्नि के चक्षु का रूप सूर्य है, अतः ऋचा कहती है 'चक्षोः सूर्यो अजायत'।

अत्रि रूप चतुर्थ सप्तकीय प्रथम तत्त्व से भौतिक ज्योति का अंकुर, सूर्य उत्पन्न हुआ। इस भौतिकता से युक्त ब्रह्म का नाम आत्मा है। 'यः आप्नोत् स आत्मा'। इस भौतिकात्मा युक्त तत्त्व को, सूर्य के अतिरिक्त वाक् रूपिणी 'जाया' भी कहा गया है। वह स्त्रीपुमान्संपरिष्वक्त था, अतः पार्थक्य चाहता था। उस पार्थक्य की कामना ही भौतिकात्मा रूप में परिणत होकर स्त्री रूप में प्रस्तुत हो गई। अतः मन ही उसकी आत्मा, वाक्, जाया और प्राण प्रजा रूप वित्त है। 'चन्द्रमा मनसो जातः' में 'मनसो जातः' का सही भाव है कि यह चन्द्रमा रूप भौतिक ज्योति, उस सूर्य रूप स्त्रीपुमान्सपरिष्वक्त देह के मानसी रूप के काममय सूर्य से उत्पन्न हुआ। मन से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रमा 'मति' भी कहलाता है, 'इयमुपरि मतिरिति चन्द्रमा' (श.ब्रा. 8-1-2-7)। छान्दोग्य (9-12) उस कामरूप सूर्य को 'चाक्षुषः पुरूषः' कहता है। 'चक्षुरेव ब्रह्मणः चतुर्थः पादः' यह सूर्य (चक्षु) ही ब्रह्म का चतुर्थपाद है। इसलिए कहा है कि चन्द्रमा का जन्म मन से हुआ।

सूर्य की भौतिक ब्रह्माण्ड की आत्मा कहा गया है 'सूर्य: आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।'

इसी बात को एक और तरह से प्रस्तुत कर कहा गया है कि पुरुष अग्नि रूप सृष्टि वृक्ष का सिर, द्यौ और सूर्य-चन्द्रमा दो आँखें (अंकुर) हैं। इनमें सूर्य त्रिपादामृतीय एकात्मा रूप दिव्य, स्वयं प्रकाशित आँख (अंकुर या बीज) है, पर चन्द्र रूप आँख फूटी हुई है, ज्योतिहीन है, बन्द रहती है, उससे निरन्तर रस (पानी) स्रावित होता रहता है। उसी रसमय चन्द्ररूपी आँख से समुद्रादि रस-सागर बनकर अखिल सृष्टि प्रारंभ होती है (श.ब्रा. 7-1-2-8)। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण (2-5-41) इस चन्द्र को ब्रह्म नाम से पुकारता है 'चन्द्रमा वै ब्रह्म'। यह चन्द्र ब्रह्म वही है जिसे सब उपनिषद् 'रसो वै स:' कहते हैं। इसी से वह रस स्रावित होता है। शतपथ ब्राह्मण (14-3-2-11) इसीलिए चन्द्रमा को देवताओं या तत्त्वों की आत्मा कहता है 'चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा'।

सृष्टि के दो पहलू हैं, एक शुष्क, दूसरा आर्द्र। (1) शुष्क आध्यात्मिक सृष्टि है। यह अग्निरूप, ज्योतिष्मान्, प्रकाशवान्, ज्ञानवान्, व्यापक, विभु और एक है। यह पूर्वार्द्ध, दिन, उत्तरायण और द्यावा भी कहलाता है। (2) आर्द्र भौतिक सृष्टि है। इसे रात्रि, उत्तरार्द्ध, दक्षिणायन, पृथ्वी आदि नाम से भी पुकारते हैं।

चन्द्ररूप तत्त्व आर्द्र सृष्टि के दक्षिणायन में नाना रूपों में विभक्त होने के कारण पितृपक्ष कहलाता है जिसको आलंकारिक भाषा में पितर् सोमपान करते हैं कहा जाता है। यह सौम्य सृष्टि कहलाती है। चन्द्रमा सौम्य एवं आर्द्र है (श.ब्रा. 2-5-2-23, 24)।

चन्द्रमा का दूसरा नाम शुक्र भी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह शुक्रग्रन्थी-ग्रह कहलाता है। शुक्र वस्तुत: चन्द्रमा का ही रस है। यही सोम संज्ञक चन्द्रमा प्रजा प्रणाली की व्याख्या में विष्णु और यज्ञ प्रणाली में हवि: कहलाता है (श.ब्रा. 3-5-2-19)। ऋग्वेद (9-108-9) में चन्द्रमा को वृष्टि (परिस्रवण) और धी कहा गया है। सविता-गायत्री में 'धियो यो न: प्रचोदयात्' ही चन्द्रमा है। जब यह चन्द्रमा त्रिपादामृत युक्त होता है, तब सविता और प्रसविता कहलाता है। अन्य मंत्रों में इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च – मुख से इन्द्र और अग्नि की उत्पत्ति हुई। अग्नि को ब्रह्म से सर्वप्रथम विकसित होने के कारण अग्रि नाम से जाना गया। यह अग्नि देवताओं का मुख, प्रजापति और पुरोहित कहलाता है (श.ब्रा. 3-7-2-6)।

'शिर' गायत्री का नाम है, गायत्री भी अग्नि रूप है। उसके मुख से प्रथम विकास अग्नि का है (श.ब्रा. 3-7-5-10)। अग्नि वाक् का शरीर है, अतः यही वाग्ब्रह्म का प्रथम अवतार है 'वागेवाग्निः' (श.ब्रा. 3-2-1-15)। यह अग्नि अरावाली, सर्वतोमुख और सर्वादेवता है (श.ब्रा. 1-3-4-15)। इसका नाम विसृष्टि या ब्रह्म की अतिसृष्टि भी है। वैश्वानर अग्नि का जन्म मुख से होता है। यह सोम और भौतिकात्मारूप अग्नि है।

अग्नि के समान इन्द्र की उत्पत्ति भी मुख से ही होती है। इन्द्र का वर्णन तीन प्रकार से किया गया है – (1) सर्वादेवता इन्द्र, (2) षोडशी इन्द्र और (3) शतक्रतु इन्द्र। वेदों में (1) अग्नि (2) इन्द्र (3) सोम (4) विष्णु (5) वरुण (6) रुद्र एवं (7) अदिति 'सर्वादेवता' कहलाते हैं। इनमें भी प्रथम तीन की व्याख्या 'सर्वादेवता' में की जाती है।

मध्यम प्राण रूप अग्नि तथा इध्म इन्द्र कहलाता है (श.ब्रा. 6-1-1-2)। सब देवताओं में ज्येष्ठ होने के कारण इन्द्र देवताओं का अधिपति है। इन्द्र 24वें तत्त्व के विकास में मित्र कहलाता है। अग्नि के विकास में जिस तत्त्व को इन्द्र कहते हैं वह 'शतक्रतु-इन्द्र' है। वह वृत्रहन्ता है। जब चक्षु रूप सूर्य तत्त्व से प्रथम भौतिक तत्त्व का विकास हुआ तब वह दो प्रकार की वृत्तियों से मिश्रित था – दैवी और आसुरी। इन दोनों का मिश्रण वृत्र या आवरणकारी भौतिक तत्त्व कहलाता है। इन्द्र रूप सूर्य ने इसके दो भाग किये, उसके सौम्य दैवी भाग से चन्द्र या दिव्य शरीर बना और आसुरी भाग से स्थूल सृष्टि रूप प्रजा बनी। इन्द्र का एक नाम मायी है, वह महायोगी है। अतः उसका युद्ध योग प्रक्रिया के साधन में बाधक रूप में प्रस्तुत होने वाले आसुरी तत्त्वों के साथ होता है। ये सांसारिक प्राणी नहीं अपितु एक ही शरीर के विभिन्न अंग हैं। असुर भौतिक अंग है और देवता उनकी ज्योतिर्मयी शक्ति या आत्मा। इनमें असुर स्थूलता के कारण बहिर्मुखी हैं और देवता अन्तर्मुखी। देववर्ग, असुरवर्ग के शरीर रूप किले में, कारागार या गुहा में बन्द रहते हैं। अतः इन दोनों के मध्यस्थ प्राणोदानादि पंच प्राणों द्वारा योगी इन्हीं किलों को तोड़कर बन्दी देवताओं को नवीन जन्म देता है।

इन्द्र सभी तत्त्वों में से मुख्यतः महायोगी तत्त्व है। यह मुख्यतः योग का तत्त्व है। यह अखिल ब्रह्माण्डीय मनः, वेधाः, इदिन्द्र (ऋ. 2-11-16, 1-100) मध्यम प्राण, इध्म, ऐन्ध, वैद्युतीय शरीर, वज्रमय, भौतिक, दिव्य शरीरधारी, अस्थिवान्, तेजोवान्, जातवेदाग्नि की सहायता से अखिल कोटि

मौलिक ब्रह्माण्डीय शरीर का महायोगी, सोमपा और सभी देवताओं को सोम पिलाने वाला महतोमहीयान् तत्त्व है।

जब ब्रह्मा योग करता है, कमल नाल (प्राण शून्य) का वेधन करता है, तब इसे इन्द्र, इध्म, इदिन्द्र, मन: या विट्टतिद्वार-भेत्ता कहते हैं। यही मध्यम प्राण है। यह वैद्युतीय शरीर इन्द्र है, इसी को प्रजापति और यज्ञ भी कहते हैं।

प्राणाद्वायुरजायत – वायु की उत्पत्ति प्राण से हुई है। प्राणों का भौतिक स्वरूप आपोमय (विद्युन्मय) ज्योतिरूप चन्द्रमात्मक है 'अथैतस्य प्राणस्याप: शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्र:' (श.ब्रा. 1-11-5-9-13)। बृहदारण्यक का कथन है कि जो कुछ भी भौतिकात्मा में अविज्ञात वस्तु है, वही उसका प्राण है। यहाँ अविज्ञात माने व्यापक विभु तत्त्व है–'यत्किंचिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञात: प्राण एवं तद्भूत्वावति।'

इन्हीं प्राणों के साथ-साथ वायु अर्थात् मातरिश्वा नामक वायु की उत्पत्ति हुई है। मातरिश्वा वायु वे हैं जिनका उदय 'आपो' माताओं के प्राणों से होता है – 'मातरिश्वा तद्भवति यदमिमीत मातरि वातस्य सर्ग:' (ऋ. 3-29-11)। यहाँ ऋग्वेद के 'प्राणाद्वायुरजायत' के प्राण और वायु दोनों अध्यात्म के तत्त्वों का विकास देते हैं। यह योग का मार्ग है। यजुर्वेद में पाठान्तर होकर 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च' दिया है। श्रोत्र से प्राण और वायु की उत्पत्ति होती है। यहाँ वायु का सम्बन्ध या क्रम नहीं दिया है। भौतिक प्राणों और भौतिक वायुवों की उत्पत्ति श्रोत्र से हुई है। वास्तव में श्रोत्र से दिशाओं और लोकों की अतिसृष्टि होती है। तब यह अध्यात्म योग होता है।

पुरुष की सर्वांगीण त्रिपादामृत ज्योति की अनुभूति या साक्षात्कार का नाम योग है। इस ज्योति का घृत आत्मा है, शरीर दीपक सा पात्र है और अंग या पंचात्मायें जिन्हें अध्यात्म या प्राण कहते हैं, वे सब वर्तिकायें हैं। इन अंगों या पंचात्माओं को दो प्रकार के प्राणों के नाम से पुकारा जाता है, जिन्हें वेदों में 'ब्रह्माणि' कहते हैं।

दो प्रकार के प्राणों के निम्न भेद हैं –

(1) प्रथम प्रकार के प्राण –

(1) प्राण (2) अपान (3) व्यान (4) उदान और (5) समान।

(2) द्वितीय प्रकार के प्राण –

(1) वाक् (2) मन: (3) चक्षु: (4) श्रोत्रम् और (5) प्राण।













पंच प्राणों में –

(1) प्राण चाक्षुष पुरुष है। इसका निवास स्थान चक्षु, द्यौ और आदित्य (सूर्य) में है। इसका देवता या आत्मा वायु है। प्राण मर्त्य हैं पर देवता या आत्मा अमृत या अमर्त्य है।

(2) अपान पार्थिव या भौतिक है। इसका निवास स्थान वाक्, पृथ्वी और अग्नि में है। इसका देवता वाक् (अग्नि) है।

(3) व्यान वायु है। इसका निवास स्थान श्रोत्र, चन्द्रमा और दिशाओं में है। इसका देवता मन: (चन्द्रमा) है।

(4) उदान तेज है। इसका निवास स्थान त्वचा, वायु और आकाश में है। इसका देवता श्रोत्र (दिशायें) हैं।

(5) समान मध्यवर्ती है। इसका निवास स्थान मन, पर्जन्य और विद्युत में है। इसका देवता चक्षु (सूर्य) है।

एक ही आत्मा के सात स्तर है। इन्हें षडुर्वी, सप्तपृथ्वी, सप्तनद्य:, सप्तपर्वता: आदि कहा गया है। ये वस्तुत: सप्तमुख्य प्राणों की व्याख्यायें देते हैं। इन सात प्राणों के शरीरों में निवास करने वाले तत्त्वों को देवरूप आत्मा कहते हैं।

प्रथम प्रकार के प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूपी पंचप्राणों का विवेचन पंचपशव: – पुरुष-पशु, अश्व, गौ, अवि और अजा रूप में किया जाता है।

दूसरे प्रकार के वाक्, मन:, चक्षु, श्रोत्रम्, प्राण: रूपी पंचप्राणों का वर्णन वाच:, गाव:, गिर:, घिय:, मतय:, चर्षणी, करा, पाणय:, वह्नय:, ब्रह्माणि, मेधा:, अंगिरस:, गातार:, ध्यातार:, स्तौतार:, ऋत्विज:, अनुष्ठातार:, आत्मा प्रभृति अनेक नामों से किया जाता है।

प्रथम प्रकार के प्राणों या पंचपशुओं में वाक् और मन: को जोड़कर सप्ताश्व, सप्तरथ आदि नामों से पुकारा जाता है। ये सब शरीर रूप हैं, वाहन हैं, आसन हैं, वस्त्र हैं, सूत्र हैं, आपोमय हैं, अदितिमय हैं, मनोमय हैं, यश:, श्रव:, धनं एवं राय: है।

इन्हीं की आहुतियाँ दी जाती हैं, इन्हीं को दीप्त, उद्दीप्त किया जाता है और वेदों में इन्हीं का व्याख्यान आता है। इन दोनों प्रकार के पाँच+पाँच प्रकार के जोड़ों को पंच-अध्वर्यु नाम से भी पुकारा जाता है, जिसे पंच-ऋत्विज् या जरितार: भी कहते हैं। ये ही उक्त प्रकार के होतृगण – (1) ऋत्विक्,

(2) अध्वर्यु, (3) उद्गाता, (4) होता और (5) ब्रह्मा कार्य करते हैं। इन ऋत्विजों का मुख्य कार्य अपने-अपने देवता को उद्दीप्त करना होता है। सबके देवता उद्दीप्त होते ही समाधि-योग-यज्ञ को प्रस्तुत कर इनके शरीरोद्दीप्त सोम का पान करने लगते हैं। यही वैदिक ऋषियों का वास्तविक सोमपान है। वेद में जब भी 'सोम प्रस्तुत है' कहा जाता है तो इन्हीं द्विविध प्राणों की ऐसी ही योग-समाधि रूप स्थिति का संकेत किया हुआ होता है। प्रत्येक तत्त्व, देवता या प्राण एक-एक ब्रह्म है। ये सब ब्रह्म मिलकर एक अखण्ड ब्रह्म-ज्योति को प्रज्वलित करते हैं।

सोमाभिषव-याग या सोमानुभूतिक आभ्यन्तर यज्ञ में (1) अग्नि होता (2) आदित्य अध्वर्यु (3) चन्द्रमा ब्रह्मा (4) पर्जन्य उद्गाता (5) आप: ब्राह्मणाच्छंशी तथा (6) रश्मियाँ (आभ्यन्तर प्रकाश की झिलमिलाती किरणें) चमसाध्वर्यु हैं।

मुख्यत: देवता केवल एक प्राण है। वही ब्रह्म कहलाता है तथा त्रिवृत् भी है, उसमें मन:, वाक् और प्राण, तीनों एक साथ हैं। इसी त्रिवृत् का नाम ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु है। इनमें से मन: ब्रह्मा है, वाक् रुद्र है, प्राण विष्णु है। इन्हें ही तीन लोक कहते हैं।

वाक् या रुद्र का एक नाम अग्नि भी है। वही सर्वप्रथम यज्ञ का तपन करता है। सात प्राण उसके होता या ऋत्विक् हैं। यही सर्वप्रथम अग्नि, प्राण, ज्ञानमय तथा प्रकाशमय है। यही पंचपादों में सप्त तन्तुओं या सप्तपदों के सप्तप्राणों से अपने पूर्व त्रिवृत् सहित यज्ञ का प्रथम आरम्भकर्ता है। इसीलिए इस अग्नि को ऋत् या पूर्णदर्शन के मौलिक रूप का प्रथमोत्पन्न-तत्त्व कहा जाता है। यह अग्नि विश्वकर्मा (वाक्) की तरह अपने में निहित अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड का हवन करता है। यही अग्निरूप में पिता और वाक् रूप में माता कहलाता है। यह सृष्टि पक्ष में पूर्वार्द्धीय तत्त्वों का और योग पक्ष में उत्तरार्द्धीय तत्त्वों का हवन करता है। इसीलिए इसे संहर्ता, एकीकर्ता, देवताओं और प्राणों का होता कहा जाता है।

जिसको उत्तम प्राण कहते हैं, वही एकोदेव: प्राण नाना रूपों में सोम, विष्णु, पुरुषोत्तम, अन्तरात्मा, सोमात्मा, चक्षु, द्रष्टा, ज्योति, और पवमान सोम है। इसे ही अध्वर्यु अर्थात् सबसे अधिक प्यारा देवता कहते हैं। इसी को गायत्री के उपस्थान द्वारा, तम: के परे, उत्तरार्द्ध के उत्तर (पूर्वार्द्ध की ओर), ज्योतिर्मय रूप में उत्तम (प्राणीय) ज्योति के देवरूप में देवयजनकर्ता ऋषिमुनि

या प्राण प्राप्त होते हैं। वही जातवेदाग्नि है जिसकी प्रकाश किरणें उसे अखिल सृष्टि को देखने के लिए सूर्य की तरह अन्तरिक्ष के ऊँचे मण्डल में, ध्वजारूप में स्थापित कर देती हैं। इसे मित्र, वरुण और जातेवद का चक्षु कहते हैं। यह द्यावा, पृथ्वी और अन्तरिक्ष, तीनों लोकों की एक सम्मिलित सर्व चक्षुर्मय, सर्वतः चक्षुर्मय चक्षु है, सर्वत्र चक्षुरूप में व्याप्त है। इन सब वर्णनों के रूप में उसे सूर्य या स्थावर-जंगम का द्रष्टा या चक्षुर्मयी आत्मा कहते हैं। गीता में, आदित्यों में जिस आदित्य को विष्णु कहा गया है, वह यही सूर्य, सविता या सोम नाम का आदित्य है। (छा.उ. 6, ऋ. 1-50-10, 1-50-1, 1-115-1)।

चूँकि यह उत्तम प्राण आपोमयी शरीरी है, जिससे यह सबको प्राणवान् शरीर देता है, जीवित रखता है, पालता है, अतः इसे पाता, पालयिता, संरक्षक, जीवनदाता और अन्तरात्मा कहते हैं। यह बात सृष्टि और अतिसृष्टि, दोनों प्रक्रियाओं में एक-सी रहती है।

इस प्राण का शरीर आपः है, जिन्हें नर, नार, नृ (ना) या नृषद् कहते हैं, इसीलिए उस प्राण रूप विष्णु को भी नर, नारायण या आपोमय प्राण, सागर वासी कहा जाता है। (छा. उ. 6-5, श. ब्रा. 6-1-1-9)।

जिन्हें आपः कहते हैं वही वाक् प्रथम प्राण तेजोवती तेजः शारीरिणी है। इसकी आत्मा अग्नि है और जो अग्नि है, वही रुद्र है। अतः अग्नि, रुद्र या वाक् इस प्रथम प्राण के शरीर हैं।

इस शरीर रूप वाक्, अग्नि या रुद्र के पुष्कर, समुद्र या अदितिमय वाक् के मध्ययोनि में ही सहस्त्रदल-कमल सम मनः, वेधा, इन्द्र या चन्द्रमा मध्यम प्राण का अदितिमय, अन्नमय, स्फटिक सम शरीर है।

यही दो मुख्य प्राण हैं – (1) मध्यम प्राण तथा (2) उत्तम प्राण। इन्हें ही अन्न और प्राण कहा जाता है। मध्यम प्राण अन्नमय है और उत्तम प्राण आपोमय। (बृ.उ. 3-9, छा.उ. 6-5, श.ब्रा. 1-2-37, 3-1-3-1, 1-1-4-1)।

चारों संहिताओं में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र से सम्बन्धित चर्चा विरल है पर अग्नि, इन्द्र और सोम सम्बन्धी सूक्त अधिक हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वेदों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के मुख्य प्रतिनिधि देवता क्रमशः इन्द्र, सोम और अग्नि अपने प्रथम प्रारम्भिक रूप में वर्णित हैं। इन्द्र, सोम और अग्नि वेदों के दो तिहाई से भी अधिक भाग में वर्णित हैं। वहाँ पर वस्तुतः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र नामक मध्यम, उत्तम, प्रथम प्राणों का ही इन्द्र, सोम और अग्नि नाम से वर्णन है।

विशेष

यह ऋचा यजुर्वेद में बारहवें और अथर्ववेद में सातवें स्थान पर है। अथर्ववेद का पाठ ऋग्वेद के समान है। यजुर्वेद में 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायुरजायत' के स्थान पर 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत' का पाठान्तर है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

चन्द्रमाः – चन्द्रमस्–पु. चदि (आह्लादने)+रक्+असि–'स्फायितंचीति' रक्, 'चन्द्रमोडित्' इति असि स च डित्। चन्द्र+मा। चन्दयति आह्लादयति, चन्दति दीव्यति इति चन्द्रः। चन्द्रमानन्दं मिमीते, यद्वा चन्द्रं कर्पूरं सादृश्येन माति परिमातीति। इन्द्रौ, जले, काम्ये। चन्द्रमाः –प्रथमा विभक्ति, एकवचन। चन्द्रमाः = चन्द्रमा।

मनसः – मनस्–क्ली. मनु (अवबोधने), मन् (पूजायां) मन्ः (गर्वे), मन् (धृतौ)+असुन् 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इति असुन्। मन्यते बुध्यते अनेन इति। चित्ते। मनसः –पंचमी विभक्ति, एकवचन। मनसः = मन से।

चक्षोः – चक्षुष्–क्ली. चक्षिङ् (व्यक्तायां वाचि), चक्षु कथने, त्यागे च+उस् 'चक्षेः शिच्च' इति उसि। शित्वेनानार्धधातुकत्वात् ख्याञादेशाभावः चष्टे पश्यत्यनेनेति। नेत्रे, दर्शनेन्द्रिये। वैदिक रूप, पंचमी विभक्ति, एकवचन। लौकिक संस्कृत में चक्षुषः रूप बनता है। चक्षोः = आँख से।

सूर्यो – सूर्यः –पु. सृ (गतौ), सू (प्रेरणे)+क्यप् 'राजसूयसूर्यमृषोद्येति' इति क्यप्, नि. दीर्घश्च। सरति आकाशे, सुवति कर्मणि, लोकं प्रेरयति इति। दिवाकरे, आदित्ये। सूर्यः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। सूर्यः = सूर्य।

इन्द्रः – पु. इदि (परमैश्वर्ये), (इन्धिदीप्तौ)+(इदि)+रन्। इन्दतीति। देवराजे, परमेश्वरे, देवाधिपे। इन्द्रः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। इन्द्रः = इन्द्र।

अग्निः – पु. अगि (गतौ)+नि 'अंगेर्नलोपश्चेति' नि, नलोपश्च। अंगति ऊर्ध्वं गच्छति, अंगयन्ति अग्र्यं जन्म प्रापयन्ति इति। अग्निः अक्तात् नीतात्वा, दग्धात्। अग्निः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। अग्निः = आग।

प्राणात् – प्राणः – पु. प्र+अन् (प्राणने)+'करणे' घञ्। प्राणित्येभिरिति। असवे, प्राणे। प्राणात् – पंचमी विभक्ति, एकवचन। प्राणात्=प्राण से।

वायुः – वायुः पु. वा (गतिगन्धनयोः)+उण्। 'कृवापाजिभिस्वदिसाध्यशूम्य उण्' इति उण्। 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युक्। वातीति। वायुः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। वायुः = हवा।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णौ द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ्अकल्पयन्॥14॥

अन्वय

नाभ्याः अन्तरिक्षम् आसीत्, शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत। पद्भ्याम् भूमिः, श्रोत्रात् दिशः, तथा लोकान् अकल्पयन्।

अनुवाद

उस पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक, सिर से द्युलोक, दोनों पैरों से भूमि और कान से दिशायें उत्पन्न हुई। इस प्रकार उस पुरुष से देवताओं ने लोकों की रचना की।

व्याख्या

पुरुष के नाभिक्षेत्र से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई है। सिर से उच्च लोक अर्थात् स्वर्गलोक की उत्पत्ति, पैरों से भूमि की और कान से दिशाओं की उत्पत्ति हुई है।

यहाँ अन्तरिक्ष की तुलना नाभि से की गई है। नाभि शरीर का केन्द्रीय स्थान है। यह गुरुत्वाकर्षण और संतुलन का मुख्य केन्द्र-बिन्दु है। अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र अपने-अपने निश्चित स्थान पर रहकर संतुलन को बनाये हुए हैं।

नाभि शरीर के बीच में स्थित है। यदि यही नाभि ऊपर छाती की तरफ हो जाये या नीचे घुटनों की तरफ खिसक जाये तो शरीर का संतुलन बिगड़ जायेगा। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र-मंडल अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं। यदि उनके मध्य से अन्तरिक्ष को हटा दिया जाये तो उनका परस्पर संतुलन बिगड़ जायेगा। उनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। संभवतः इसीलिए अन्तरिक्ष को परम-पुरुष की नाभि के रूप से उत्पन्न देखा गया है।

शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत – सिर से उच्च लोकों की उत्पत्ति हुई है। सिर चेतना का स्थान है। चेतना का अर्थ आगे बढ़ना, विकसित होना है, अतः सिर उच्च लोक का उत्पत्ति स्थान या केन्द्र है।

पद्भ्यां भूमिः – भूमि पैर से उत्पन्न हुई है। पैर शरीर का आधार है, सृष्टि में भूमि जीवन का आधार है। भूमि के आधार के बिना सृष्टि नहीं हो सकती।

श्रोत्राद्दिश: – दिशायें कान से उत्पन्न हुईं। कानों से दिशा ज्ञान होता है। अत: दिशाओं का वही आधार है। इस प्रकार देवताओं ने पुरुष से लोकों की रचना की।

इस ऋचा में वर्णित नाभि:, अन्तरिक्ष, शीर्ष्णो, द्यौ:, पद्भ्यां, भूमि:, दिश:, श्रोत्रं तथा लोका:, सभी शब्द पारिभाषिक तथा दर्शन के तत्त्वों के पृथक्-पृथक् या सामूहिक वर्गों के नाम हैं।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षम् में भी अध्यात्म दर्शन है। नाभि रूप भौतिक-तत्त्व से अन्तरिक्ष नामक आत्मा को उद्दीप्त कर उसकी अनुभूति की गई। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का मध्य भाग नाभि है। इस संदर्भ में नाभि तत्त्व है, भौतिक शरीर का अंग नहीं। नाभि शब्द का प्रयोग प्रथम तीन सप्तकों के लिए किया गया है। यह नाभि सृष्टि रथ की है जिसमें सातों चक्र एक रूप में अवस्थित हैं। यह प्रजापति की नाभि है। तीन नाभियाँ प्रथम तीन सप्तक हैं। उसके प्रथम सप्तक या प्रथम नाभि से अन्तरिक्ष बना है। 'वसुरन्तरिक्षसद्' (ऋ. 4-40-5)। सबसे प्रथम सद: या षदु वसुओं की है, उसे इसी पारिभाषिक अन्तरिक्ष नाम से पुकारते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति शतपथ ब्राह्मण (7-1-2-23) ने स्वयं दे रखी है–

'योऽन्तरेणाकाश आसीदन्तरिक्षमभवत् ईक्षं हैतन्नाम तत: पुरा अन्तरा वा इदमीक्षमभूत् तस्मादन्तरिक्षम् तद्गार्हपत्यम् इति'।

प्रथम सप्तक आकाश का है, खं ब्रह्म है, उसी का नाम अन्तरिक्ष है। यह वह अन्तरिक्ष नहीं है, जिसे लौकिक भाषा में पृथ्वी और खगोलों के बीच का भाग समझते हैं। यहाँ का अन्तरिक्ष ब्रह्म, द्यौ और द्वितीय सप्तक के बीच या मध्यवर्ती आकाश नामक तत्त्व है। यही गार्हपत्याग्नि एवं प्रथम यज्ञ है तथा इसी को भुवन की नाभि कहते हैं। 'द्यौर्मेपिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथ्वी महीयम्' (ऋ. 1-164-33)। यह नाभि बन्धु रूप है और 'इयं वेदि: परो अन्त: पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि:' के अनुसार प्रथम यज्ञ रूप अन्तरिक्ष या प्रथम सप्तक भुवन की नाभि है, जिससे दो अन्य नाभियाँ विकसित होती हैं। इस समूह को त्रिनाभि कहते हैं –

'त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वाभुवनाधि-तस्थु:'। नाभि: का संबंध सर्वत्र देवरथ या सृष्टिरथ से दिया गया है।

द्यौ आदि ब्रह्म का नाम है। उसका प्रथम विकास अन्तरिक्ष है– 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तक्षं...स पिता स पुत्र:'। द्यौ: पिता है, अन्तरिक्ष पुत्र है।

उस सृष्टि पुरुष के शिर से द्यौ: की उत्पत्ति हुई अथवा उसका शिर ही द्यौ: है। वस्तुत: द्यौ उसी ब्रह्म के आदि रूप या अखिल सृष्टि के जनयिता रूप का नाम है। इसीलिये उस द्यौ: को सर्वत्र पिता नाम से पुकारा गया है जैसे –'द्यौर्मेपिता जनिता' (ऋ. 1-164-33), 'मधु द्यौरस्तु न: पिता' (ऋ. 1-9-6, शु.य. 13-27, तै.सं. 4-1-9-3, तै.आ. 10-10-2, श.ब्रा. 14-9-3-11)।

यही बात 'अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र:' (ऋ. 1-89-10) में कहा है कि अदिति माता है, द्यौ पिता है और अन्तरिक्ष पुत्र है। इसीलिए प्रस्तुत ऋचा कहती है कि योग में सृष्टि पुरुष के सिर से द्यौ: रूप पिता तत्त्व का विकास हुआ। उसके दो पाँव चतुर्थ पाद हैं। इन दो पादों से पहले शूद्र तत्त्वों की सृष्टि बतलाई जा चुकी है। इन दो चतुर्थपाद रूप पाँवों से भूमि:, भौतिकात्मा रूप धी उत्पन्न हुआ। यहाँ भूमि का अर्थ मिट्‌टी की पृथ्वी नहीं अपितु भौतिकात्मा है। यह आत्मा अभी चतुर्थ चरण में त्रिपादामृत-युक्त आपोमय चतुर्थ पादयुक्त है, अभी पार्थिवता का उदय ही नहीं हुआ है, पृथ्वी या भूलोक कहाँ से होगा?

चतुर्थ चरण तक वायु, तेज: और आप: की मौलिक-तत्त्वों में, आत्मा रूपों में सृष्टि होती है। प्रथम आपोमय मौलिक सृष्टि से भौतिकता का प्रारम्भ होता है। अत: इसे भूमि या पृथ्वी कहा है। प्रथम तीन पाद शुद्ध आत्मायें और त्रिपादामृत हैं। दिशायें भौतिक तत्त्व की होती हैं, व्यापक तत्त्व की नहीं। वह तो एक है, फिर दिशायें कहाँ से होंगी? चतुर्थ चरण की भौतिकात्मा की प्रथम भौतिकता के साथ-साथ उसमें अन्य व्यापकता के कारण दिशायें भी आ गईं। ये दिशायें श्रोत्र से उत्पन्न हुईं, उसी से लोकों की भी सृष्टि हुई। त्रिपादामृत ब्रह्म में कोई दिशा नहीं हो सकती। वह तो केवल एक है। इसीलिए इन्हीं दिशाओं रूप भौतिकता को शरद्, विश्वामित्र और श्रोत्र कहते हैं, जिनसे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना 'शब्द ब्रह्म' रूप में हो गई।

चतुर्थ चरण की दो पाँव रूप भूमि मह:रूप महर्लोक नाम की 'मही' कहलाती है। प्रथम तीन चरण क्रम से 'भू: भुव: स्व:' कहलाते हैं। ब्रह्म प्रथम सप्तक 'भू:' है जिसमें सृष्टि पुरुष का वृक्ष 'ऊर्ध्वमूलमध: शाखं' रूप में अतिरोहित अथवा विकसित होता है। यह इस ऋचा की अधिदैवत व्याख्या है।

विशेष

यह ऋचा यजुर्वेद में तेरहवीं और अथर्ववेद में आठवीं है। दोनों में पाठान्तर नहीं है।

'चन्द्रमा मनसो...' और 'नाभ्या आसीत् ...' इन दोनों 13वीं एवं 14वीं ऋचाओं में दो प्रकार के तत्त्व वर्णित हैं – (1) शरीर रूप और (2) आत्मा या देवता रूप। मन:, चक्षु:, मुख, प्राण, नाभि, शीर्ष्ण, पाद और श्रोत्र शरीर या अध्यात्म रूप है और चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि, दिक् और लोक क्रमश: इनके देवता या आत्माएँ हैं। शरीर तत्त्व मर्त्य है, देव तत्त्व अमृत है। इसका नाम अतिसृष्टि है (बृ.उ. 1-4-6)।

ये दोनों ऋचायें पुरुष-सूक्त के हृदय के दो पलड़े हैं। इनमें वैदिक-दर्शन का प्राय: पूरा-पूरा ढाँचा दे दिया गया है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

नाभ्या: – नाभि: – पु. णह् (बन्धने)+'नहोमश्च' इति इञ्, 'भश्चान्तादेश:'। नह्+इञ्, भान्तादेश। नह्यते बध्नाति विपक्षादीनिति। नह्यन्ते अत्र, नह्यते अनेन वा। प्राण्यंगभेदे, रथ चक्रस्यवामपिण्ड्याम्, प्रधाने, मुख्ये। नाभ्या: – पंचमी विभक्ति, एकवचन। नाभ्या: = नाभि से।

अन्तरिक्षं – अन्तरिक्षं-क्ली. अन्त: – न. अग्+तन् – नाशे, स्वरूपे, निश्चये, अवयवे, निकटे। अन्त+ईक्ष्+'कर्मणि' घञ्। अन्त: स्वर्गष्टयिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते इति। अन्त: मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत्। पृषोदरादित्वाद् ऋकारस्य इकार:। पक्षे ह्रस्व: ऋकारस्यरित्वम् वा। अन्तरीक्षमिति पाठे – ऋकारस्य ईकार:। अन्तरिक्षम् आकाश:। पक्षिमेघसंचारयोग्ये भूलोक सूर्यमध्यवर्तिनि आकाश प्रदेशे। अन्तरिक्षम्–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। अन्तरिक्षम्=अन्तरिक्ष।

शीर्ष्ण: – शिरस् शब्द को वैदिक शीर्षन् आदेश। पंचमी विभक्ति का एकवचन। शीर्ष्ण: = सिर से।

द्यौ: – द्यु: पु. द्यु (अभिगमने), द्यु (अभिसर्पणे)+क्विप्, 'बाहुलकात् तुगभाव:'। द्यौति इति। दिव्+क्विप्, ह्रस्व। आकाशे, सूर्य्ये, अग्नौ, दिवसे। द्यौ: – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। द्यौ: = आकाश।

समवर्तत – सम्–अव्यय, सो+कम्, सम्मगर्थे, प्रकर्षे शोभने। सम्+वृतु वर्त्तने–लङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन। समवर्तत=उत्पन्न हुआ।

दिशः – दिक्, दिश् – स्त्री. दिश्+क्विन् 'ऋत्विग्दधृगिति' क्विन् प्रत्ययेन साधु:। दिशति अवकाशं ददाति या सा दिक्। पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरादिरूपा:, आशा, हरित्, दिशा, गौ:, उपरा:, आष्ठा, द्योम:। दिश: – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। दिश: = दिशायें।

श्रोत्रात् – श्रोत्रम्–क्ली. श्रु (श्रवणे)+त्रन्। 'हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन्' इति त्रन्। शब्दज्ञानसाधने कर्णरूपे इन्द्रिये। श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम्। श्रोत्रात्–पंचमी विभक्ति, एकवचन। श्रोत्रात्=कान से।

तथा – तथा–अव्यय, तद्+थाल्। 'प्रकारे वचने थाल्' तेन प्रकारेण। साम्ये, अभ्युपगमे, निश्चये। तथा=और।

लोकान् – लोक: –पु. लोकृ भाषार्थ:, लोक् (दीप्तौ), लोक् (दर्शने)+घञ्। लोकयति इति, लोकते इति, लोक्यते इति। भुवनेषु, विष्टपे, मनुष्ये। लोकान्–द्वितीया विभक्ति, बहुवचन। लोकान्=लोकों को।

अकल्पयन् – कृपू (सामर्थ्ये)+णिच्–लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। अकल्पयन्=रचना की।



सप्तास्यासन् परिधयः त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाः अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥15॥

अन्वय

यज्ञं तन्वानाः यत् देवाः पुरुषम् पशुम् अबध्नन्। अस्य सप्त परिधयः आसन्, त्रिः सप्त समिधः कृताः।

अनुवाद

सृष्टि यज्ञ का सम्पादन करते हुए देवताओं ने विराट् पुरुष पशु को सर्वद्रष्टा रूप में ध्यान-सूत्र से बाँधा। इस यज्ञ की सात परिधियाँ और इक्कीस समिधायें बनाई गईं।

व्याख्या

जो विराट् नाम का पूर्ण पुरुष है उसे प्रजापति, प्राण अथवा इन्द्रिय रूपी देवताओं ने मानस यज्ञ में पशु रूप में बांधा। 'पश्यति इति पशुः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर पशु का अर्थ यहाँ 'चर-जगत्' है। अध्यात्म में जीवन को यज्ञ कहते हैं। पशु, द्रष्टा पुरुष, आत्मा को देव, दिव्य-शक्तियाँ, चक्षु आदि इन्द्रियाँ बांध रही हैं।

इस सांकल्पिक मानस यज्ञ की गायत्री आदि छन्द सात मर्यादायें थीं। आहवनीय की तीन परिधियाँ, उत्तरवेदिका की तीन परिधियाँ और आदित्य, कुल सात प्रतिनिधि रूप परिधियाँ बनीं।

'अत एवाम्नायते – न पुरस्तात्परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन्पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्तीति। तत् एते आदित्य सहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्तच्छन्दो रूपाः।'

इस यज्ञ में सात वैदिक छन्द यज्ञ की सीमा बन गये। 'छन्दयति इति छन्दः'– आवरण रूप में कामना, इच्छा, अभिलाषा की तुष्टि कर प्रसन्न करने वाले होने के कारण छन्दों ने यहाँ अहम् भूमिका निभाई है।

वैसे वैदिक छन्द तो अनेक हैं पर यहाँ मुख्यतः सात छन्द ही उल्लेखनीय हैं। छन्दों में सर्वोत्कृष्ट छन्द गायत्री है। इस मन्त्र में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्, ये सात ऊर्ध्वलोक; मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार, शरीरान्तर्गत ये सात चक्र तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल, सात निम्न लोक, कुल 21 ब्रह्माण्ड समाविष्ट हैं।

इनमें से प्रत्येक लोक को सात अनुभूतियों के अनुरूप विभाजित किया गया है। निकृष्ट अनुभूतियाँ पाताल लोक हैं। मध्य अनुभूतियाँ शरीरस्थ चक्र हैं और उच्चतम अनुभूतियाँ ऊर्ध्वलोक हैं, जो हमेशा सात में ही गिने जाते हैं। ये वैदिक छन्द एक-एक लोक को स्पन्दित करने वाले छन्द हैं। इन्हें इस यज्ञ की परिधि माना गया है जो निम्नवत हैं –

(1) सात शीर्षण्य प्राण,

(2) भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्, सात व्याहृतियाँ,

(3) पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, और चार दिशायें।

(4) मित्र, पूषा, अर्यमा, त्वष्टा, भग, इन्द्र और तार्क्ष्य, सात मरुद्गण,

(5) काली, कराली, कुटिला, मनोजवा, कपिला, पिंगला, एवं बभ्रु, सात सूर्य किरणें।

(6) प्रकृति, महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, स्थूल भूत, इन्द्रिय, तथा त्रिगुण, सात विकार, और

(7) असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, रुधिर एवं शुक्र, शरीरस्थ सप्तधातु।

त्रिसप्त समिधः कृताः– 7X3=21 इक्कीस समिधायें हैं –

(1) बारह महीने, छः ऋतुएँ और तीन लोक,

(2) पंच तन्मात्रायें, पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन,

(3) शरीर में पंच तत्त्व, इनके विषय, दस प्राण और आत्मा,

(4) ज्योतिषचक्र रूप मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन, ये बारह राशियाँ; ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ये छः ऋतुयें तथा स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल लोक।

(5) द्युलोक में सप्त सूर्य रश्मियाँ, अन्तरिक्ष के सप्त मरुद् गण, पृथ्वी की सात अग्नि किरणें, ये सब मिलकर कुल इक्कीस समिधायें बनीं।

यहाँ त्रिःसप्त समिधाओं द्वारा जो तात्त्विक यज्ञ है, वही वस्तुतः अध्यात्म यज्ञ है। सप्त-परिधियाँ सात-सप्तक हैं। पुरुष पूरा दर्शन है, पर पुरुष पशु है। पशु या वाहन नाम उत्तरार्द्ध के भौतिकात्मा का है, उसको बांधकर अमृत पुरुष को प्राप्त किया गया है।

यह ऋचा पुरुष पशु की व्याख्या देती है। यह पशु अग्नि रूप सर्वा देवता का पूर्ण रूप हैं। यद्यपि पुरुष पशु का प्रथम उदय 25वें तत्त्व में होता है, पर

उसका पूर्ण विकास पूरे तत्वों से होता है। इसका निर्माण प्रथम तत्त्व से ही प्रारम्भ होता है। इसकी सात परिधियाँ ऋग्वेद (10-130-6) में वर्णित सप्तर्षि हैं, इनमें से सात-सात का क्रमिक विकास होता है। यजुर्वेद (17-97) तथा ऋग्वेद (10-130-4, 5) इसे 'सप्त ऋषय:' कहकर उनके सात सप्तकों को छन्दों से संकलित करता है।

हवन-प्रणाली में सात भेदों को परिधि नाम से पुकारा गया है। इन परिधियों की व्युत्पत्ति की कथा शतपथ ब्राह्मण (1-2-6-12 से अन्त तक, पुन: 1-3-1, 1-7-1-9-22 आदि) में दी गई है। इन सात परिधियों, सप्त दिव्य ऋषियों अथवा सप्त पुरुषों का ऐक्य ही पुरुष पशु नाम से पुकारा जाता है (श.ब्रा. 6-1-1-2-3, 10-2-2-1)।

यज्ञ प्रणाली में पुरुष का अभिनय 'वेदि' से किया जाता है 'या वा इयं वेदि: सप्तविधस्य' (श.ब्रा. 10-2-3-1)। वेदि की परिभाषा में बतलाया गया है कि इससे अखिल ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त होता है। अत: इसे वेदन या ज्ञान-मूलकतया वेदि कहते थे। इसी वेदि से विष्णु के विक्रम (इदं विष्णुर्विचक्रमे) का भी ज्ञान प्राप्त करते थे – 'यन्वेवात्र विष्णुमविन्दस्तस्माद्वेदिर्नाम' (श.ब्रा. 1-2-3-10)। वस्तुत: वेदों के ज्ञान का आधार वेदि है। ब्रह्म, शब्द-ब्रह्म और संहिताओं की ज्ञानाग्नि को वेद कहते हैं।

यह वेदि दो भागों में विभक्त की जाती है (1) पूर्वार्द्ध या पूर्ववेदि (सिर) और (2) उत्तरार्द्ध या उत्तरवेदि (धड़)। इन दो भागों में चतुर्थ भाग मध्यवर्ती रहता है, तीन पूर्वार्द्ध और तीन उत्तरार्द्ध में रखे जाते हैं। इनका निर्माण एक-एक प्रस्तर-पंक्ति द्वारा किया जाता है। इसके पूर्वार्द्ध को परिधि और उत्तरार्द्ध को बहिष् परिधि कहते हैं (श.ब्रा. 1-2-6-12)। कभी-कभी इन परिधियों को लकड़ी या पत्तियों से भी बनाया जाता है, जिनके लिए पलाश, वैककंत्त, कार्श्य, खदिर और औदुम्बर का विधान किया गया है। 'उपरि उपरि (प्रस्तरं) परित: दधाति इति परिधि:'। अग्नि-ब्रह्म, देवता या तत्त्वों का विकास कर्त्ता 'होता' है (श.ब्रा. 1-4-3-1)। आवाहन किये जाने पर अग्नि ने कहा कि 'वषट्कार नामक वज्र (सप्तक–प्रथमऋषि+षट्कार) ने विकास द्वारा पूर्वार्द्ध को खण्ड-खण्ड में विभक्त कर दिया है। मैं इससे डरता हूँ, अत: मेरे चारों ओर परिधियाँ बना दो, जिससे प्रत्येक परिधि या सप्तक के तत्त्व सुरक्षित रह जायें' (श.ब्रा. 1-2-6-13, 14)। कहने का तात्पर्य इतना है कि प्रत्येक खण्ड के तत्त्वों को पृथक्-पृथक् समझने के लिए इन सप्तकों या

परिधियों की रचना आवश्यक है, अन्यथा 47 तत्त्वों को समझने में परेशानी होगी। सप्त परिधियाँ अग्नि रूपिणी हैं। पूर्वार्द्ध की ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि क्रमशः आहवनीय अग्नि, गार्हपत्य अग्नि और दक्षिणाग्नि नाम से सुप्रसिद्ध है। मध्याग्नि का नाम सोमाग्नि या वैश्वानर अग्नि है। उत्तरार्द्ध की शेष तीन परिधि रूप अग्नियों का नाम 'क्षुवपतिः', 'भुवनपतिः' और 'भूतानांपतिः' है। इनको नाग के समान स्कन्न, विस्फूर्जित या उत्सर्पित कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण (1-2-6-15, 16) में इन परिधियों का ज्ञान जिस प्रकार उक्त सरणि से किया जाता है, उसी प्रकार इनका ज्ञान दिशा रूप में भी किया जाता है। यहाँ गोलाकार चक्र बनाकर तत्त्वों को पृथक्-पृथक् सात भागों में रखा जाता है। ये चक्राकार परिधियाँ हैं। जिनका वर्णन सात ऋतुओं के नाम से सात भाग की दिशाओं में किया जाता है। इस सरणि में ऋतुओं या दिशाओं को समिध् कहते हैं, इनका वर्णन शतपथ ब्राह्मण (1-3-1), ऐतरेय ब्राह्मण (5-5-28) तथा ऋग्वेद (10-65-3, 9-114-3, 10-63-7, 8-60-16) में भी मिलता है।

ये सात ही इस ऋचा की सप्त परिधियाँ हैं। इनको सप्तचक्र, सप्ताश्व, सप्त स्वसारः, सप्तरश्मि, सप्तताप, सप्तनदी, सप्तावि, सप्त सिन्धवः, सप्तवाणी, सप्तमातरः, सप्तयह्वीः, सप्तसीरा, सप्तबुध्नं, सप्ततन्तुं, सप्तधामानि, सप्तरत्नानि, सप्तपुरः, सप्तदानुः, सप्तपदानि, सप्तपुत्रं, सप्तहोतारं, सप्तजिह्वं, सप्तसंसद, सप्तसदः, सप्तधेनवः, सप्तपर्वताः, सप्तसमिधः, सप्तविस्फुलिंगाः, सप्तद्युम्नानि, सप्तमर्यादा: इत्यादि अनेकानेक नामों से भी पुकारा जाता है। ये सब पुरुष की व्याख्या उतने ही रूपों में करते हैं। प्रस्तुत ऋचा में सप्तपरिधि शब्द से इन्हीं सब से सांकेतिक पुरुष की मुख्य सप्तता का वर्णन किया गया है।

त्रिःसप्त समिधः कृताः – त्रिःसप्त का अर्थ 7X3=21 है। सप्त का तात्पर्य यहाँ सप्तक से है, सात से नहीं। इस सप्त का अर्थ विभिन्न छन्दों के अक्षरों से निर्णीत होता है। प्रत्येक देवता या तत्त्व के ज्ञान के लिए पृथक्-पृथक् छन्दों का आश्रय लिया जाता है। ऋग्वेद (10-130-4-5) के अनुसार अग्नि से गायत्र पुरुष, उष्णिक् से सविता, अनुष्टुप् से सोम, उवथ से सूर्य, बृहती से बृहस्पति, विराट् से मित्रा वरुण, त्रिष्टुप् (33) से इन्द्र और जगती (48) से विश्वेदेवताः को ऋषि अथवा मनुष्य नामक तत्त्वों में सप्तक नाम से विभाजित किया जाता है। इसी को ऋग्वेद (1-164-24, 25) में भी देते हुए कहा है कि

गायत्र पुरुष के तीन समिध: या पाद होते हैं। गायत्री में तीन पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। अत: सप्तवाणी शैली या सप्तक शैली में वही गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के 24 तत्त्व रूप तीन समिध्, 'सप्त समिध:' कहलाते हैं। पुरुष नाम गायत्री छन्द के पति का है। अत: उसे पुरुष या गायत्र-पुरुष कहते हैं। गायत्री यज्ञ या पूर्णदर्शन का पूर्वार्द्ध है (श.ब्रा. 3-4-1-10)। गायत्री के 24 अक्षर रूप तत्त्व 24 विक्रम या सीढ़ियाँ कहलाते हैं। यही 24 समिध् हैं। जो नाम सप्त परिधियों के हैं प्राय: वही सब नाम इन समिधों के भी हैं। जिनको यहाँ 'त्रिसप्त समिध:' कहा गया है, वही ऋग्वेद में क्रमश: त्रिरस्मै सप्त धेनव:, त्रि:सप्त रसानाद्य:, त्रिसप्त सानु, त्रिसप्त विस्फुलिंगा:, त्रिसप्त यद् गुह्यानि ते पदा, त्रिसप्त सख्यु पदे, त्रिसप्तै: सूरा सत्वभि, त्रिसप्त सप्त त्रेधा, त्रीरा सप्तानि सुन्ववे, तिसृणां सप्ततीनां, उस्रा त्रि:सप्त सप्ततीनां इत्यादि नामों से अभिहित हुए हैं। इस प्रकार वैदिकों को अत्यन्त प्रिय यह त्रि:सप्त-पद अर्थात् इन तीन सप्तकों को 'गुहा' कहा जाता है। यह 24 तत्त्व वाली गुहा त्रिपादामृत से पूर्ण है, ऋषिगण इस अमृत को भुला नहीं सकते थे। इस गुहा के अन्तिम छोर से जब भौतिकात्मा का उदय होता है तब उसे पुरुष पशु कहते हैं। पुरुष पशु वह पुरुष है जो भौतिकता रूप पशु पर सवार है, भौतिक शरीर धारी पुरुष है।

समिध: कृता: – यह पुरुष गायत्र पुरुष है, विराट् पुरुष नहीं। विराट् पुरुष तो 10-10 छन्दोक्षरीय तत्त्व देवताओं के चार पादों वाला 40 तत्त्वों का पुरुष है। यहाँ पर पुरुष पशु के शिर रूप गायत्री के तीन पाद सप्तक रूप तीन समिध् हैं, जिसमें 24 अक्षर रूप देवता या सूक्ष्म समिध् विद्यमान हैं।

समिध् शब्द का मूल स्रोत है 'इन्ध्'। मध्यम प्राण या उदान नामक अन्तर्यामी प्राण का नाम इन्ध् है। यही प्राण इन्द्र नामक सर्वा देवता का मूल कारण है। जब प्रथम, अन्तिम प्राण और अपान के रस या इन्द्रिय से इस मध्यम प्राण को समिद्ध किया जाता है – जैसे, तेल में दीप – तब यही इद्ध प्राण 'इन्द्र' कहलाता है, नाम से पुकारा जाता है, 'इन्ध्' को परोक्ष या रहस्य रखने के लिए उसे 'इन्द्र' नाम से पुकारा जाता है।

जब यह इन्द्र 'इद्ध' हो जाता है, दीपक सा जल जाता है, तब इसी से सप्तऋषि रूप सात पुरुषों या परिधियों की रचना होती है (श.ब्रा. 6-1-1-2)।

स वै समिधो यजति। प्राणा: वै समिध: प्राणानेवैतात् समीन्धे, प्राणैर्ह्ययं पुरुष: समिद्ध: (श.ब्रा. 1-4-5-1)।

यही 'इद्ध' नाम पुन: इध्म: का स्वरूप एक दैवत्य शतक्रतु-इन्द्र कहलाता है 'ग्रीष्मइध्म:'। यह अध्वर्यु रूप है (श.ब्रा. 1-3-2-1)। इस प्रकार समिध् का अर्थ समुज्वलित, प्रदीप्त या उद्दीपित प्राण है। ऐ.ब्रा. (1-4-17) ने इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुए समिध् को 'शीर्षण्य प्राण:' बतलाया है और कहा है कि प्राण स्वयं अपने शीर्ष से प्रज्वलित या समिद्ध होता है, वही प्राण समिध् है। वे इद्ध या इन्द्र में रहते हैं, जैसे 'इमे (समिध:) शीर्षन् प्राण:...' (ऐ.ब्रा. 2-1-4)।

अग्नि प्रथम प्राण है, घृत तृतीय प्राण है, इनमें से मध्यम प्राण प्रथम और अन्तिम को इन्द्रिय या संघर्षीय रस की तरह प्रयुक्त कर स्वयं विस्फुलिंग या दीपक की तरह प्रस्फुटित या समिद्ध होता है। अत: 'समिध:' कहलाता है। तत्त्वों की यह प्रक्रिया अन्त के 48वें तत्त्व तक चलती है। प्रत्येक तत्त्व का मध्य प्राण समिध्, इन्द्र या इद्ध कहलाता है, पर उनके नाम दूसरी व्याख्यान शैलियों में बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण (2-2-4-9 से 13 तक) में कहा गया है कि इन्द्र के समिद्ध हो जाने पर सर्वप्रथम 'धृपित-रूप' या 'तत्त्वरुद्र-रूप' समिद्ध देवता अग्नि है। जब वही समिध् प्रदीप्ततर होता है, तब वही वरुण कहलाता है। ऊँचे धूम सदृश परमज्वाला युक्त होने पर शतक्रतु-इन्द्र कहलाता है। जब वही उससे भी अधिक प्रज्वलित हो तिरश्चीन अर्चियुक्त होता है, तब उसे मित्र कहते हैं। जब वह अन्त में सब अंगार रूप में उपस्थित होता है, तब उसे ब्रह्म या जातवेदाग्नि कहते हैं। इस अंगार रूप त्रिपादामृत की बाहरी परत में धीरे-धीरे जमने वाले राख या भस्म से भौतिक तत्त्व या भौतिकात्मा का अविर्भाव होता है, इसीलिए भारतीय संस्कृति में यह भाव मान्यता प्राप्त है कि 'भस्मान्तं शरीरम्'– भस्म से शरीर बना, भस्म ही शरीर है, भस्म ही उसका अन्त है।

वैदिक वाङ्मय में समिध् तत्त्व की बड़ी महिमा गायी गई है। वेदों में वर्णित तत्त्वों को समिध् कहा गया है, कारण उनमें से प्रत्येक अपने पूर्व से समिद्ध होता है और अपने से द्वितीय को भी समिद्ध करता है। इस प्रकार जिन देवताओं की विकास की श्रेणी क्रमिक है, वे उत्तरोत्तर के समिध् हैं और उत्तरोत्तर वाले से समिद्ध हैं। ऋतु शैली में प्रथम समिध् वसन्त है, द्वितीय ग्रीष्म, तृतीय वर्षा, चतुर्थ शरद्, पंचम हेमन्त हैं। यह हेमन्त 'स्वाहा' नाम से पुकारा जाता है। अत: समिधों का स्वाहा इसी हेमन्त नामक तत्त्वों में किया जाता है। शिशिर ऋतु तो आदि ब्रह्म है (श.ब्रा. 1-4-4-9-14)।

इस प्रकार (1) मास, अद्‌र्ध, पक्ष, दिन, रात आदि; (2) नद-नदी, पर्वत, सागर, समुद्र, पयोदधि घृत आदि (3) वसु, रुद्र, आदित्य आदि; (4) अग्नि, परिजातवेदा, जातवेदा, वैश्वानर आदि; (5) पुरोहित, होता, अतिथि, तनूनपात्, ब्रह्मणस्पति, अंगिरा, अंगिरस आदि; (6) आकाश, वायु, अग्नि, आपः, पृथ्वी आदि सबके सब समिध् और समिद्ध हैं, क्योंकि इन सबका मौलिक रूप अग्नि या विद्युत् है। यजुर्वेद (17-79) सातों सप्तकों को समिध्, अग्नि, अर्चि, होता आदि नाम से पुकारता है। सामवेदीय छान्दोग्य (1-4-4-8) तथा बृहदारण्यक (2-8-9-14) में भी यही भाव वर्णित है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'घृतवाद' भी इसी 'समिधवाद' से जुटा हुआ है। घृत भी प्राणों का ही नाम है जैसे पूर्व के मन्त्र में 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं' कहा है। वसन्त समिधा है पर यहाँ 'आज्य' कहा गया है। 'ग्रीष्म इध्मः' इस आज्य को इद्ध करने वाला ग्रीष्म, इद्ध होने वाला मध्यप्राण इन्द्र यहाँ पुरुष रूप अग्नि है।

यजुर्वेद (13-38, 39; 17-89) के अनुसार समिध् से अन्न की नदियों की धारायें, मान सरोवर, सुपर्ण कुलायी, अमृत, हरयः स्वधा तथा मधु-स्रवित होने की बातें रहस्यपूर्ण हैं। इसका विश्लेषण ऐतरेय ब्राह्मण (1-5-28) भी करता है।

समिध् को अरणि भी कहते हैं। अरणियों के अरण्यानी हैं 'अरण्योर्निहिता जातवेदा गर्भ इव सुमृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भि-र्मनुष्येभिः। इति'।

इसी भाव को कठोपनिषद् (1-14) 'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्' कहता है।

गीता (4-25 से 30) इस बात को 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।।' कहती है। समिद्भिः समाधिः = समाधिः अथवा समिधः समिद्धा = समाधिः कहलाती है। इस प्रकार यह समिधावाद प्राचीनतम योगमार्ग है। यह वैदिक योगमार्ग है, लौकिक या नव प्रचलित नहीं।

देवा यद्यज्ञं तन्वानाः – देवा नाम यहाँ तत्त्वों का है। इमे देवा इमानि भूतानि। यज्ञ नाम पुरुष, यज्ञपुरुष और विकास का है। 'तन्वाना', शब्द 'सप्तपरिधि' के बदले 'सप्ततन्तून् वितलिरे ओतवाड' (ऋ. 1-164-5-8) प्रणाली की सप्ततन्तुता में सन्तानित करने का अर्थ रखता है। सीधा अर्थ

होगा 'तत्त्व रूप देवताओं ने यज्ञ पुरुष को सप्ततन्तुता या सप्त परिधियों में सन्तानित करते हुए'। यहाँ पुरुष ही सन्तानित किया जा रहा है। ऋग्वेद (10-130-1-2) में लिखा है कि यह यज्ञ चारों ओर से तन्तुओं से सन्तानित है, जिसको 100 देवकर्मों से विस्तृत किया जाता है, उसे पितर बुनते हैं, जो बुनने के लिए ही आए हैं तथा बुन जाने पर बैठ जाते हैं। इनको उनका पुरुष ही बुनता है, वही उसका विस्तार करता है, यह विस्तार पहले नाक या पूर्वार्द्ध में होता है, वह किरण रूप में ताने बानों से सद: या सप्तक को बुनने के लिए साम या छन्दों का निर्माण करता है। इसी का प्रायोगिक उदाहरण इस सूक्त की ही पूर्व ऋचा 'यत्पुरुषेण हविषा...शरद्धवि:' है। यहाँ पर पुरुष ही हवि, सोम या भौतिक तत्त्व है, जिसको यज्ञ अथवा विकास में सन्तानित करने के लिए वसन्त आज्य (प्राण) बना, ग्रीष्म इध्म नामक मध्यम प्राण बना और शरद् हवि: नामक तृतीय प्राण। हवि नाम सोम का है। पुरुष को सोम पिलाना या भौतिकात्मा को शरीर देना ही पुरुष की हवि या पुरुष का शरीर है। इसी शरीर की, इद्ध शरीर की प्राप्ति के लिए यह यज्ञ अथवा विकास तन्तु-तन्तु, क्रम-क्रम से सन्तानित होता रहा। 'तं यज्ञं बर्हिषि...साध्या ऋषयश्च ये'। इस में यज्ञ शब्द स्पष्टतया पुरुष का ही विशेषण है। अयजन्त=तन्वाना, अतन्वत। देवा और ऋषय: यज्ञकर्तार: हैं, वे सात सप्तकों के मुख्य तत्त्व हैं, साध्यादेवा इन सप्तकों के प्रत्येक तत्त्व का निर्धारण करने वाले गायत्री प्रभृति छन्द हैं। ये भी अयजन्त या अतन्वत का खुलासा देते हुए तन्वाना का भाव स्पष्ट कर देते हैं।

अबध्नन् पुरुषं पशुम् – पुरुष सूक्त वस्तुत: पुरुष सूत्र, 'सप्ततन्तवीय पुरुष सूत्र' अथवा वैदिक ऋषियों का वास्तविक ब्रह्म-सूत्र है। यह 'त्रिवृतं सप्ततन्तुम्' ब्रह्म की व्याख्या सूत्र अर्थात् संक्षिप्त शैली में सब प्रणालियों का सार देकर प्रस्तुत करता है। यहाँ 'अबध्नन् पुरुषं पशुम्' भी एक रहस्यमय सूत्र है।

अबध्नन् शब्द आलभन्त का अर्थ रखता है जिसके तीन अर्थ होते हैं – (1) पूर्ण प्राप्ति, (2) पूर्ण बन्धन, एवं (3) पूर्णवध। दो अर्थ दार्शनिक और योग से संबद्ध हैं; तृतीय अर्थ याज्ञिक, कर्मकाण्डीय है। ऐतरेय ब्राह्मण (2-1-8) और शतपथ ब्राह्मण (1-2-1-3-9) में उसका विस्तृत विवेचन है।

अबध्नन् पुरुषं पशुम् वाक्य उस यज्ञ पुरुष के यज्ञ के मध्य-बिन्दु का द्योतन करते हुए यह सूचित करता है कि 24वें तत्त्व में त्रिपादामृत गायत्र पुरुष

ने भौतिकात्मा के शरीर अथवा पशुरूप भौतिक शरीर में बन्धन पा लिया और स्वयं तत्त्वों को यजमान बनाकर, (कहता है कि) तत्त्वों ने पुरुष रूप पशुस्वरूप को पा लिया, पुरुष को पशु रूप में बाँध लिया अर्थात् प्राप्त कर लिया।

सृष्टि के दो रूप हैं, मुक्ति और बन्धन। यही इन दोनों का मिलन-बिन्दु तत्त्व है।

सृष्टि का बन्धन भौतिकात्मा से प्रारंभ होता है, जिसमें वह पशु-सा व्यवहार करता है। यह पशुता 'कर्मवाद' की है, जिसको किए बिना इस भौतिक शरीर की यात्रा नहीं चल सकती है। चाहे कितना ही बड़ा ज्ञानी या योगी क्यों न हो, उसे कर्म करना ही पड़ता है। यही कर्म-बन्धन पशुता है, चाहे योगी की सिद्धि का ही कर्म क्यों न हो, कर्म उसे करना ही पड़ता है। यह कर्म-बन्धन पशु-बन्धन या पशुवध पर निर्भर है। 'शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण:' (गीता 3-8)। ज्ञानी, योगी पुरुष इस पशु की पशुता अर्थात् भौतिकता बाहुल्य का वध या बन्धन करके, त्रिपादामृतरूप मुक्ति, अथवा भौतिकता से मुक्त तत्त्व के असीम सागर में मग्न होकर मुक्त हो जाते हैं अर्थात् त्रिपादामृत शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप धारण कर लेते हैं।

अबध्नन् पशुम् वाक्य के यहाँ दो विरोधाभासीय विपरीत अर्थ सामने हैं। इनमें एक सृष्टि क्रम देता है, दूसरा योगक्रम या ज्ञानाग्नि। यह वाक्य केवल इतना ही नहीं कहता है, अपितु वैदिक-दर्शन के मध्य बिन्दु से अगले विकासों की व्याख्या देने में केवल दिशा-सूचक सूत्र का काम करता है। इस पुरुष पशु के बन्धन के पश्चात् क्या विकास होता है, यह 'तस्मादश्वा...अजावय:' ऋचा में पूर्णत: दे दिया गया है, पर यह उपक्रम किस प्रकार चला, इसका विवेचन ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में विस्तार से किया गया है। इनके अनुसार तत्त्वों का पशुरूप में विकास निम्न प्रकार है – पुरुष-पशु, अश्व, किम्पुरुष, गौ, गौरमृग, अवि, गवय:, अज:, उष्ट्र, इमांशरभ। किन्तु यहाँ 'तस्मादश्वा...अजावय:' में उक्त इतने पशुओं में से सूत्ररूप में केवल पाँच का नाम ही दिया गया है। यही पुरुष सूक्त के सूत्रों की सूत्रता है। यहाँ उसका सम्बन्ध केवल भाष्यरूप में बतलाने के लिए दिया गया है।

उक्त सब पशु सर्वादेवता भी हैं और एक दैवत्य भी। एक दैवत्य में इनका स्थान चतुर्थ सप्तक है, सर्व दैवत्य में सम्पूर्ण तत्त्व, सम्पूर्ण दर्शन रूप एक-एक तत्त्व है। प्रत्येक तत्त्व पुरुष भी है, किम्पुरुष भी है, गौ भी है, अवि भी है, अजा भी है, शरभ भी है, उष्ट्र भी है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

सप्त – सप्तन्–त्रि. षष् (समवाये)+तनिन्। संख्यान्विते। सप्त–प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। सप्त=सात।

आसन् – अस् भुवि–लङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन। आसन्=थीं।

परिधयः – पु. परि+डुधाञ् (धारणपोषणयोः)+कि। 'उपसर्गे धोः किः' इति कि। परिधीयतेऽनेन। चन्द्रसूर्यसमीपस्थे मेधादि सन्निकर्षात् जायमाने वेष्टनाकारे मण्डले, यज्ञियपशुबन्धनार्थं निखातायां यज्ञियतरोः – पलाशादेः शाखायाम् , परितः, पार्श्वो च। परिधयः – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। परिधयः = घेरा, परिधि।

त्रिः – त्रि. तृ–ड्रि। त्रित्व संख्या विशिष्टे। त्रिः – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, वैदिक रूप। त्रिः = तीन। लौकिक संस्कृत में त्रयः रूप बनता है।

समिधः – समित्/समिध–स्त्री. सम्–(अव्यय)+सो+कम्। सम्+ञिइन्धि (दीप्तौ)+क्विप्+तुक्। समिध्यतेऽनयेति। होमीयकाष्ठ भेदे। समिधः – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। समिधा=समिधायें।

कृताः – कृतम् – न. डुकृञ् (करणे)+क्त। क्रियते सत्यमेवानुष्ठीयतेऽस्मिन् इति। क्रियते सत्ये स्थाप्यते लोको यत्र। पर्याप्ते, रचिते। कृताः – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। कृताः – की गयीं।

तन्वानाः – तनु (विस्तारे)+शानच्। तन्वानाः – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। तन्वानाः = सम्पादन करते हुए।

अबध्नन् – बन्ध (बन्धने)–लङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन। अबध्नन्=बाँधा।



यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥16॥

अन्वय

देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त। तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। महिमानः ते ह नाकं सचन्ते, यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

अनुवाद

देवताओं ने उस संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा परम पुरुष प्रजापति का यजन किया। उससे उत्पन्न हुए उनके वे धर्म (नियम या सृष्टि उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुए। महिमा को प्राप्त करने वाले वे देवता उस दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ प्राचीनकाल में सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता रहते थे।

व्याख्या

पूर्वोक्त मानस यज्ञ से विद्वान् जन उस प्रजापति पुरुष की उपासना करते हैं। वे सब धारण-सामर्थ्य पहले से ही विद्यमान थे। महान् सामर्थ्य वाले ईश्वरोपासक प्राणी उस सुखमय परमेश्वर को ही प्राप्त होते हैं, उसी में विराजते हैं, जिसमें पूर्व के साधनारत् विद्वान ब्रह्मात्मज्ञान के साक्षात् द्रष्टा लोग विराजते हैं।

उस पुरुष को जानने के लिए प्रथम यज्ञ देवताओं ने किया। यह प्रथम यज्ञ धर्म की प्रथम परिभाषा और आधार के रूप में सामने आता है। कारण यज्ञ में व्यक्ति अपने स्वाभिमान और अहंकार को त्यागकर उच्च चेतना प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस त्याग को धर्म का आधार माना जा सकता है। व्यक्तिगत धर्म का तो आधार ही है निःस्वार्थ और निष्काम कर्म। जो व्यक्ति अपने जीवन में त्याग और अनासक्त भाव को आधार बनाता है, वह उस परम पुरुष के स्थान को प्राप्त करता है, जहाँ देव, ऋषि, साधक जाते हैं। निःस्वार्थता, अनासक्ति आदि के माध्यम से चेतना का विकास अवश्यम्भावी है और यही परम पुरुष या ज्ञान तक पहुँचने का मार्ग है। निःस्वार्थता, अनासक्ति और निष्काम कर्म, यदि इन्हें तन-मन-धन अर्पित करके किया जाये तो मुक्ति तक पहुँचाते हैं, अतः ये ज्ञान के राजमार्ग हैं।

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः...' ऋचा अत्यन्त रहस्यमयी है। इसके दो भाष्य ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। दोनों में से ऐतरेय ब्राह्मण

भाष्य अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (1-3-16) के अनुसार यज्ञ से देवताओं ने उस यज्ञ को किया, इसका अर्थ है आत्माग्नि से पुरुषाग्नि का यज्ञ किया और उससे वे स्वर्ग (पूर्वार्द्धीय-तत्त्वों) को प्राप्त हुए। वे पूर्वार्द्धीय तत्त्व नित्य हैं, अत: धारणत्व, सत्यत्व अथवा विभुत्व शक्ति से पहले से ही वे धर्म विद्यमान थे। उन्होंने उस स्वर्ग की महिमा का सुख प्राप्त किया, जहाँ पूर्वज रूप साध्या देवता थे। गायत्री आदि छन्दों का नाम साध्या देवता है। गायत्री आदि अग्नि या प्राण रूप हैं। इन्होंने अपनी अग्नि से उसका विकास किया था। अत: वे स्वर्ग को प्राप्त हुए। अथवा, आदित्यों और अंगिरसों ने पहले युग में आत्माग्नि से पुरुषाग्नि का यज्ञ किया और उससे वे स्वर्ग लोक, पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत सुख के भागी बने। यज्ञ यद्यपि अग्न्याहुति है तथापि स्वर्ग्याहुति कहलाती है।

यहाँ पर आदित्यों और अंगिरसों के स्वर्गप्राप्ति की जो चर्चा की गई है, उसका इतिहास शतपथ ब्राह्मण (12-2-9 से 11 तक) में इस प्रकार उल्लिखित है कि आदित्य और अंगिरस दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। इन दोनों में स्वर्गप्राप्ति के लिए होड़ लगी। आदित्य देवताओं ने चार स्तोमों, चार पृष्टों और लघु सामों से स्वर्ग लोक को अभिप्लावित कर लिया, अत: वे अभिप्लव कहलाते हैं। उधर अंगिरस ऋषियों ने सब स्तोमों से, सब पृष्टों से तथा गुरु सामों से स्वर्ग का केवल स्पर्शमात्र किया। अत: उन्हें 'पृष्ठ्य' या स्पर्श करने वाले कहते हैं। यथार्थता यह है कि आदित्य 20वें से 31वें तक के 12 तत्त्व हैं तथा अंगिरस 24वें से 31वें तक के 7 तत्त्व। आदित्यों के चार पाद हैं, अंगिरस के भी चार ही पाद हैं। यही चार 'स्तोम और पृष्ठ' हैं। आदित्यों का स्थान तृतीय सप्तक नाक, स्वर्ग या दिव् (तृतीय सप्तक) है। वे तो स्वर्ग पृथ्वी (चतुर्थ सप्तक) दोनों में हैं। अंगिरस केवल चतुर्थ सप्तकीय पृथ्वी में रहते हैं, किन्तु तृतीय सप्तकीय स्वर्ग अथवा नाक को छूते अवश्य हैं, इसलिये वे पृष्ठ्य हैं। आदित्यों के पश्चात् आते हैं, इसलिये भी पृष्ठ्य हैं। आदित्यों का लघु साम 'उपांशु-ध्वनि' है। अंगिरसों का गुरु साम 'स्फुट-ध्वनि' या 'परावाणी' है। इस इतिहास के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण (10-2-2-1 से 3 तक) में इस ऋचा का भाष्य भी बहुत स्पष्ट रूप में दिया गया है।

इस व्याख्या के अनुसार यह ऋचा पूर्ववर्ती ऋचा की सप्तपरिधियों का ही समष्टि रूप में अथवा एक पुरुष रूप में वर्णन दे रही है।

वस्तुत: सप्त परिधियों का नाम ही 'सप्त-पुरुष' है। ये जो सात ऋषि रूप सप्त पुरुष थे, उनकी एक समष्टि की गई, जो एक पूर्ण पुरुष कहलाया। उसी का नाम प्रजापति है। उसने सारी प्रजा, सृष्टि या सात पुरुषों की रचना की। इनकी रचना करके वह ऊर्ध्व को उत्क्रमित हो गया, वह वहाँ गया जहाँ वह तप करने लगा, और दूसरे यज्ञीय प्रस्तुत हो गये। सब देवताओं (तत्त्वों) ने उसकी प्राप्ति के लिए यज्ञ साधना करने का निश्चय किया। यही यहाँ कहा गया है कि देवता यज्ञ से उस यज्ञ पुरुष की उपासना करने लगे, विकास करने लगे। जिनका विकास करना था उनके मूलतत्त्वों की (सात पुरुषों की) उपस्थिति पहले से ही थी, उनका निर्माण पहले ही किया जा चुका था।

स्वर्गलोक (पूर्वार्द्ध) का नाम नाक है, देव उसकी महिमायें हैं, इन देवरूप तत्त्वों ने उस स्वर्गलोक के लिए यज्ञ का विकास किया। उस स्वर्गलोक के सृष्टि रूप देव अर्थात् साध्या देवता सब प्राण रूप हैं। उन्होंने पहले इन्हीं प्राणों की साधना की, अत: 'साध्या' कहलाते हैं। उनकी साधना की जाती है, इसीलिए उन्हें साध्य-देवता कहा जाता है।

तत्पश्चात् अन्यद् उत्तरार्द्ध की रचना हुई। उसे यजत्र, अमर्त्य, अमृत (भौतिकात्मा) कहते हैं। पूर्वार्द्ध दिन है, उत्तरार्द्ध रात्रि। यही दूसरा भाग दूसरा यज्ञीय था, जिसका चर्चा सबसे पहले की गई है। प्रजापति का ऊर्ध्व-क्रमण पूर्वार्द्ध है, जो तप का स्थान या मार्ग है। भौतिक उत्तरार्द्धीय तत्त्वों की सृष्टि हो जाने पर उन उत्तरार्द्धीय तत्त्वों ने पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत को पाने का या अपनाने का जो यत्न किया, वही यज्ञ है। साधक उत्तरार्द्धीय है, साध्यादेव पूर्वार्द्धीय।

द्वादश मास के अनुसार साध्या तत्त्व 12 हैं। ये छान्दस और प्राण रूप आदित्य हैं। अंगिरस उत्तरार्द्धीय हैं जो साधना के योग्य हैं। इस बात का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण दोनों करते हैं।

ताण्ड्य ब्राह्मण में लिखा है कि 'साध्या देवताओं (प्राणों) ने छन्दों को अमृत लाने के लिए भेजा – गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाजहार' (ता.ब्रा. 8-4-1)।

प्रस्तुत ऋचा का शतपथ ब्राह्मण द्वारा दिया गया यह भाष्य स्वत: स्पष्ट और प्रामाणिक है।

अथर्ववेद में इस ऋचा के स्थान पर दूसरा मन्त्र दिया है, जो कम महत्त्व का नहीं कहा जा सकता है 'मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशव: सप्त सप्तती:। राज्ञ: सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि'॥

अर्थात् उस बृहत् शब्द-ब्रह्म-रूप देव के सिर के जिन सात-सात तत्त्वों वाले सप्तकों का विकास सप्त-पुरुष रूप में हुआ, वे उसी के अंशु, अंश या किरण रूप विकासीय विभाग हैं। इनमें से उस पुरुष से उत्पन्न राजा सोम से पुनः द्वितीय अर्द्ध या उत्तरार्द्ध की सृष्टि हुई। यहाँ पर 'पुरुषात्' पद उसी 'पुरुष पशुं' के 25वें तत्त्व का सोम नाम से संकेत करता है। एक सृष्टि पूर्वार्द्ध की है जिससे (त्रिःसप्त समिधों से) पुरुष पशु बना, उसी का नाम सोम भी है। इस सोम से पुनः अधि+अजायत, दूसरी (भौतिक) सृष्टि (उत्तरार्द्ध रात्रि में) हुई। पर उत्तरार्द्ध दोनों सप्त-पुरुषी सप्तकों के सप्तती अर्थात् एक-एक में सात-सात तत्त्व वालों के रूप में सब उसी बृहत् शब्द-ब्रह्म-रूप देव के सिर रूप प्रथम तत्त्व से ही हुए। ये सात सप्ततियाँ उसी के अंशु, अंश या विकास हैं।

विशेष

अथर्ववेद ने अपने पुरुष सूक्त में इस मन्त्र को नहीं दिया है, अपितु यह अथर्ववेद सप्तम काण्ड के पंचम सूक्त की पहली ऋचा है। अन्य सभी वेदों में इसका पाठ अपरिवर्तित मिलता है। यह ऋचा बहुत प्राचीन है। यह ऋग्वेद 1-164 की 50वीं ऋचा है। पुरुष सूक्त में यह दुबारा उद्धृत है तथा प्रसिद्ध ऋचा है। प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसका अर्थ या भाष्य लिखा है, प्रायः सभी प्राचीन उपनिषद् इसका उद्धरण देते आये हैं। पुरुष सूक्त की रचना की प्रेरणा का मूल-स्रोत यही मन्त्र प्रतीत होता है। इसके 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' पद को पुरुष सूक्त कई बार दुहरा कर देता है। इसका यज्ञ शब्द पुरुष सूक्त की कुंजी है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

यज्ञेन – यज्+न। यज्ञेन–तृतीया विभक्ति, एकवचन। यज्ञेन=यज्ञ के द्वारा।

तानि – तद्–न. प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। तानि=वे सब।

धर्माणि – (धर्मन्) धर्माणि–न. धृञ् (धारणे)+मन्, 'अर्तिस्तुहुभ्रिति' मन्। धृ+मनिन्। धरति लोकान्, ध्रियते पुण्यात्मभिः इति। पुण्ये, सुकृते, आत्मनि, जीवे, यागादौ। धर्माणि–प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। धर्माणि=नियम, सृष्टि उत्पत्ति के विधान।

प्रथमानि – प्रथम त्रि. प्रथ् (प्रख्याते)+अमच् 'प्रथेरमच्' इति अमच्। प्रथते प्रसिद्धा भवति इति। प्रधाने, आद्ये, प्रथमानि–प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। प्रथमानि=सबसे मुख्य।

ते – तद्–पु. प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। ते=वे सब।

नाकं – नाक: – पु. न+अकं=नाकं। (कं=सुखम्, अकं=दु:खं)। अकं दु:खं तन्नास्त्यत्रेति। स्वर्गे। नाकं–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। नाकं=दिव्य स्वर्ग को।

महिमान: – महिमन्–पु. महत्+इमनिच्, महती भाव: इमनिच् डित्वेन टि लोप:। महत्त्वे, ईश्वरैश्वर्यभेदे। महिमान: – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। महिमान: = महिमा को प्राप्त करने वाले।

सचन्ते – षच् (सच्)–लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। सचन्ते=प्राप्त करते हैं। वैदिक रूप है। धातु के पूर्व अ लुप्त है। वर्तमान के अर्थ में लङ् लकार है।

यत्र – यत्र–अव्यय। यद्+त्रल्। यस्मिन् इति। यत्र=जहाँ पर।

पूर्वे – त्रि. पूर्व (पूरणे निवासे वा)+अच्। प्रथमे, आदौ। पूर्वे–प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। पूर्वे=प्राचीन काल के।

सन्ति – अस् भुवि–लट्, प्रथम पुरुष, बहुवचन। सन्ति=हैं।



ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में पूर्वोक्त 16 ऋचायें ही हैं। यजुर्वेद इन सोलह ऋचाओं को 'षोडशकल-ब्रह्मोपासना' और 'पूर्व-नारायणी' नाम से संबोधित करता है। इससे आगे यजुर्वेद में छः मन्त्र संकलित हैं, जिनको शतपथ ब्राह्मण (13-6-2-20) 'उत्तर-नारायणी' कहता है।

अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥17॥

अन्वय

अद्भ्यः पृथिव्यैः विश्वकर्मणः रसात् अग्रे समवर्तत। त्वष्टा तस्य रूपम् विदधत् एति। मर्त्यस्य तत् आजानम् देवत्वम् अग्रे एति।

अनुवाद

समस्त संसार के कर्ता परमेश्वर के प्रेरक बल से पृथ्वी के लिए जल से सर्वप्रथम जो ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ, वह विधाता ही स्वयं विविध रूपों को धारण करता हुआ उसके रूप को प्राप्त होता है। मरणधर्मा पुरुष के उस समस्त जनों के करने योग्य कर्म और दर्शन करने योग्य ज्ञान को सबसे पहले वह स्वयं प्राप्त करता है।

व्याख्या

प्रेरक बल और जल से विश्वकर्मा जगत् स्रष्टा ने उस ब्रह्माण्ड को बनाया। फिर स्वयं बनाने वाला वह त्वष्टा तदनुरूप हो गया। यही उस मरणधर्मा विनाशी पदार्थ का भी पहले से ही अर्थात् जन्म से ही देवरूप है। वह स्वतः ईश्वर की दिव्यशक्ति का स्वरूप है।

पृथ्वी तत्त्व, रस, गुण इत्यादि पंचभूतों के मिश्रण से उत्पन्न होता है। इनके मिश्रण से ही विश्वकर्मा की उत्पत्ति होती है। यहाँ दो सूत्रों में सृष्टि प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न किया गया है। जब पदार्थ और गुण उत्पन्न होते हैं तो वे एक क्रिया के, एक कारण के और परिणाम के प्रतीक होते हैं। पदार्थ की प्रत्येक अभिव्यक्ति में गुण बदलते हैं। दृश्य जगत् पदार्थ और गुण का जगत् है। विश्वकर्मा विश्व को बनाने वाला है। विश्वकर्मा से जगत् की उत्पत्ति हुई है। त्वष्टा सूर्य का एक नाम है। त्वष्टा से तात्पर्य यहाँ दिखलाने वाला है, जो

विविध रूपों को, पदार्थों को प्रकाशित करता है, दिखलाता है। यह अखिल विश्व उसी पुरुष के आलोक से प्रकाशित हो रहा है। पदार्थ किसी भी रूप में (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि) स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता है। वह चेतन सत्ता द्वारा ही आलोकित है, उसके माध्यम से ही देखा जा सकता है। सूर्य ही बाह्य सब कुछ प्रकाशित करता है। चेतना के बिना हमें पदार्थ, रूप, गुण आदि का बोध नहीं हो सकता है।

विश्वकर्मा यहाँ चतुर्थ सप्तक का आदि पुरुष है, जहाँ से 'आप:' 'नार' या 'नृषद्' का निर्माण होता है। यही आपो देवता सर्वप्रथम भौतिक सृष्टि का गर्भ धारण करता है (ऋ. 10-82-5)। यही आप: पृथ्वी या भौतिकात्मा की योनि बनकर, भौतिकात्मा रूप रस अर्थात् 'रसो वै स:' के रसमय-ब्रह्म का विकास करता है। विश्वकर्मा और त्वष्टा, ये दोनों तत्त्व इस सृष्टि के अग्रदूत हैं, जिनको विश्वकर्मा ने आपो रूप और पृथ्वी के रस रूप में सम्भूत कर रखा था।

त्वष्टा इन दोनों को त्रिशिरा के पिता, रूप, मूर्तता या खाका का स्वरूप देता है। इससे रूप, मर्त्य, नर, नृषद्, सप्तक के तत्त्वों अथवा देवों को वह सर्वप्रथम भौतिकता के आवरणीय खाके में अर्थात् बौद्धिक साकारता में उस प्रकार उत्पन्न करता है, जिसके पूर्वार्द्ध में आजान देवता, मायामय, समन्तात्-ज्ञानमय-मात्र-शरीर या अमृत शरीर कहते हैं।

विशेष

यह उत्तर-नारायणी पुरुष-सूक्त की ऋचा है। ऋग्वेद में यह नहीं है। श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास से प्रकाशित 'तैत्तिरीय मन्त्र-कोश' में थोड़ा पाठान्तर है। वहाँ 'संभूत:, अधि:, पुरुषस्यविश्वम्' पाठान्तर है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

अद्भ्य: – आप्–न. आप्लृ (व्याप्तौ)+अण्। 'तस्य समूह:' इत्यण्। आप्+अण्। अपा समूह: आप:। अद्भ्य: – पंचमी विभक्ति, बहुवचन। अद्भ्य: = जल से।

पृथिव्यै – पृथ्वी–स्त्री. प्र. (प्रख्याने)+षिवन्। 'प्रथे: षिवन्-संप्रसारणं च' इति षिवन्, सम्प्रसारणं च ङीष्। प्रथमे विस्तारं–याति इति। पृथुत्वगुण-युक्ता। भूमौ। पृथिव्यै–चतुर्थी विभक्ति, एकवचन। पृथिव्यै=पृथ्वी के लिए।

रसात् – रसः – पु. रस् (स्वने), रस् (आस्वादने)। रस्+अच् 'पचाद्यच्' इति अच्। रसति इति। रस्+अच्। रस्यते इति–'पुंसि संज्ञायां चः प्रायेण' इति ध रस् (आस्वादने)+ध। आस्वाद्ये, जले, राये, वीर्य्ये। रसात्–पंचमी विभक्ति, एकवचन। रसात्=रस से, प्रेरक बल से।

विश्वकर्मणः –विश्वकर्मन्–पु.विश्वः–त्रि.विश्(प्रवेशने),(विष्लृव्याप्तौ) विश्+क्वन्। समग्रे, सकले। कर्मन्–न. डुकृञ् (करणे) कृ+मनिन्, क्रियते तत्। विश्व+कर्मन्=विश्वकर्मन विश्वेषु कर्म्म व्यापारो यस्य। सूर्ये, देवशिल्पिनि, मुनिभेदे, परमेश्वरे च। विश्वकर्मणः – षष्ठी विभक्ति, एकवचन। विश्वकर्मणः = परमेश्वर के।

अग्रे – अग्रः – त्रि. अग् (कुटिलायां गतौ)+अंग+रक्, नलोपः। अग्रयते जगति वा। प्रथमे, श्रेष्ठे, प्रधाने, उपरिभागे। अग्रे–सप्तमी विभक्ति, एकवचन। अग्रे=सबसे पहले, सर्वप्रथम।

तस्य – तद्–पु. क्ली.–षष्ठी विभक्ति, एकवचन। तस्य=उसका।

त्वष्टा – त्वष्ट्ट–पु. त्वक्ष (तनूकरणे)+तृच्। त्वक्ष+तृन्। त्वक्षति काष्ठादिकं शिल्पकार्यत्वात् देवशिल्पिनि, विश्वकर्म्मणि द्वादशादित्यमध्येआदित्यभेदे, तक्षणकारिणी, महादेवे। त्वष्टा–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। त्वष्टा=विधाता परमेश्वर।

विदधत् – वि+डुधाञ् (धारणपोषणयोः)+शतृ। (वैदिक रूप)। विदधत्=स्वयं विविध रूपों को धारण करता हुआ।

रूपम् – क्ली. रू (शब्दे)–'स्वष्पशिल्पशष्पेति' प दीर्घश्च। रूयते कीर्त्यते रौति इति वा। रूप्+अच्–रूपयति इति। रूपान्वित–करणे। सौन्दर्ये, स्वभावे पशौ, शब्दे। रूपम्–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। रूपम्=रूप को।

एति – इण् (गतौ)–लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। एति=प्राप्त होता है।

मर्त्यस्य – मर्त्यः –पु. मृङ् (प्राणत्यागे)–मृ+तन् 'हसिमृग्रिण्' इति तन् स्वार्थे यत्। मर्त+यत्–म्रियन्ते अत्र इति मर्तः। भूलोकः तत्र भवः मर्त्यः। मनुष्ये, भूलोके। मर्त्यस्य–षष्ठी विभक्ति, एकवचन। मर्त्यस्य=मरणधर्मा पुरुष का।

देवत्वम् – देवः–पु. दिव्+अच्। देव+त्व। देवत्वम्–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। देवत्वम्=देवत्व को।

आजानम्–अज्+घञ्=आज+ल्युट्(अन)।आज+अन=आजन।आजानम्–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। आजानम्=जन्म से ही।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय॥18॥

अन्वय

अहम् महान्तम् तमस: परस्तात् आदित्यवर्णं एतं पुरुषं वेद। तम् एव विदित्वा मृत्युम् अति एति। अन्य: पन्था: अयनाय न विद्यते।

अनुवाद

मैं उस महान् अन्धकार से परे, सूर्य के समान तेजस्वी, ब्रह्माण्ड में व्यापक परमेश्वर को जानता हूँ। उसको ही जानकर जीव मृत्यु को पार कर जाता है। दूसरा कोई मार्ग मोक्ष प्राप्ति के लिए नहीं है।

व्याख्या

मैंने उस पुरुष को समझ लिया है। यह आदित्य वर्णी, ज्ञानपूर्ण, अन्धकार से परे है। जो विद्वान् उसे जान लेगा वह अमरता को प्राप्त करेगा। उसका ज्ञान ही मुक्ति का द्वार है। यहाँ परम पुरुष के ज्ञान की महिमा का गायन हुआ है। मुझे उस महान पुरुष का ज्ञान हो गया है, मैंने उसे जान लिया है। वह अज्ञानता से ऊपर है। उसका शरीर सूर्य के समान देदीप्यमान, भास्वर, प्रकाशमान है। उसी ने सभी रूपों में अपने आपको प्रकट किया है। मन:चतुष्टय के माध्यम से जो कुछ अनुभव होता है, वह उसी की अभिव्यक्ति है। अपनी ही माया से उसने अपने को प्रकट किया है। उसके गुणों को हमने अलग-अलग नामों से जाना है।

महतो-महीयान्, अतिशय तेजस्वी, आदित्य रूप, त्रिपादामृत-स्वरूप, सदा भौतिकता की तामसिकता और अन्धकार दोनों से कोसों दूर उस परम पुरुष को मैं जानता हूँ। उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है, अर्थात् भौतिकता की माया जीती जा सकती है। उस पुरुष को जानने का यही एक मार्ग है। दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

विशेष

यह उत्तर-नारायणी पुरुष सूक्त की ऋचा है। ऋग्वेद की नहीं। तैत्तिरीय मन्त्र-कोष में 'विद्वानामृत इह भवति' का पाठान्तर है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

वेद – विद् (जाने), लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। वेद=जानता हूँ।

अहम् – अस्मद्–त्रि. अस् (गति दीप्त्यादानेषु)–अस्+मदिक्=अस्मद्। अहं प्रत्यय अवलम्बनत्वेन वेद्ये प्रत्यगात्मनि, जीवे। अहम्–अस्मद् शब्द–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। अहम्=मैं।

एतं – त्रि. इण् (गतौ)+तन्। एतं–पु., द्वितीया विभक्ति, एकवचन, (वैदिक रूप)। एतं=उसको।

महान्तम्–महत्–त्रि. मह् (पूजायाम्)+'वर्तमाने पृषद्-बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' इति अति निपात्यते। मह्यते पूज्यते असौ इति। महान्तम्–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। महान्तम्=महान् को।

आदित्यवर्णं – आदित्यः – पु. अदितौ भवः – अदितेः, आदित्यस्य वा अपत्यम्–अदिति+ण्य=आदित्य, सूर्ये, देवे।

वर्णं – वर्णम्–क्ली. वर्ण (स्तुतौ विस्तारे शुक्लादि वर्ण कारके उद्योगे दीपने) च+अच्। वर्णयति इति। आदित्यवर्णं–आदित्य इव वर्ण यस्य–बहुब्रीहि। आदित्यवर्णं=सूर्य के समान तेजस्वी।

तमसः – तमस्–क्ली. तमुच्चाङ्क्षाययाम्+असुन्। 'सार्वधातुभ्योऽसुन्' इति असुन्। ताभ्यति अनेन इति तमः। पापे, शोके, अन्धकारे। तमसः–पंचमी विभक्ति, एकवचन। तमसः=अन्धकार से।

परस्तात् – परस्तात्–अव्यय। पर त्रि. पृ–भावे अप् कर्तरि अच् वा। परस्तात्=दूर, भिन्न।

तम् – तद्–पु. द्वितीया विभक्ति, एकवचन। तम्=उसको।

एव – एव – अव्यय। इण्+वन्। सादृश्ये, अवधारणे, ईषदर्थे। एव=ही।

विदित्वा – विद् (ज्ञाने)+क्त्वा। विदित्वा=जानकर।

मृत्युम् – मृत्युः–पु. क्ली. मृङ् (प्राण त्यागे)+त्युक्। 'भुजिमृङभ्यां युक्त्युकौ' इति त्युक्। म्रियते अस्मात् इति। प्राणवियोगे, मरणे। मृत्युम्–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। मृत्युम्=मृत्यु को।

न – अव्यय। नह् (बंधने)+ड। निषेधे। न=नहीं।

अन्यः – अन्यः–त्रि. अन्+यत् (भिन्ने, सदृशे)। अन्यः = दूसरा।

पन्थाः – पथिन्–पथः पु. पथ (गतौ)+'अधिकरणे' क। पथति गच्छति अत्र। पथ्+इनि। मार्गे, अध्वनि। पन्थाः–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। पन्थाः = मार्ग, रास्ता।

विद्यते – विद् (सत्तायाम्)–लट्, प्रथम पुरुष, एकवचन। विद्यते=है।

अयनाय – अय् (गतौ)+भावे ल्युट्=अयनम्–क्ली., गतौ। अयनाय–चतुर्थी विभक्ति, एकवचन। अयनाय=अभीष्ट मोक्ष प्राप्ति के लिए।



प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥19॥

अन्वय

प्रजापतिः गर्भे अन्तः चरति। अजायमानः बहुधा विजायते। तस्य योनिं धीराः परिपश्यन्ति। तस्मिन् ह विश्वा भुवनानि तस्थुः।

अनुवाद

समस्त प्रजा का पालक वह प्रजापति गर्भ, गर्भस्थ जीवात्मा अथवा हिरण्यगर्भ के भीतर व्यापक होकर विचरता है। वह स्वयं कभी उत्पन्न न होते हुए भी अनेक प्रकार से विविध रूपों में प्रकट होता है। उसके उस परम कारण स्वरूप योनि का धीर, ध्यान-निष्ठ योगीजन ही साक्षात्कार करते हैं। उस मूल कारण रूप परमेश्वर में ही समस्त भुवन, नाना ब्रह्मण्ड एवं सूर्यादिलोक स्थित हैं।

व्याख्या

प्रजापति अजन्मा होते हुए भी सृष्टिकर्ता के रूप में विचरण करता है। वह अजन्मा है फिर भी सबके भीतर है। उसका कोई रूप नहीं है। उस शक्ति को योनि या उत्पत्ति स्थान के रूप में जाना गया है, जहाँ उस का अनुभव किया जा सकता है। उस शक्ति का कोई उद्गम स्थान या स्रोत नहीं है। वह अव्यक्त सत्ता है। प्राण-शक्ति, जीवनी-शक्ति हमें चलायमान, गतिमान, क्रियमान रखती है। यही जीवनी-शक्ति प्रजापति है – दृश्य, अदृश्य जगत् का, चर-अचर का, स्थावर-जंगम का। मानवीय चेतना के समान ही पेड़-पौधों, पत्थरों में भी वह चेतना मौजूद है। सबमें है, किसी के न होते हुए भी रहेगी। सभी उस पर आधारित हैं। वह सब में है, पर वह किसी पर भी आधारित नहीं है। जो बुद्धिमान मनुष्य इस सत्य को, इस जीवनी-शक्ति को, इस प्राण-शक्ति को जानता है, वही ज्ञानी है। यहाँ कहा गया है कि प्रजापति उस निऋति रूप गर्भ में स्वयं अजन्मा होते हुए भी बहुप्रजा बीजरूप में प्रविष्ट हुआ। उस गर्भ की योनि को केवल धीर (दार्शनिक योगी) ही देख या समझ सकते हैं। उस योनि के गर्भ अर्थात् निऋति में अखिल ब्रह्माण्ड विद्यमान है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के सम्मिलन बिन्दु के मध्य भाग का नाम योनि है। इसे ओष्ठ, अश्विनी, गर्त, विषुवत्, सूर्यः, चक्षुः, सोमः, चन्द्रः आदि भी कहते हैं। इसको वही

समझ सकता है जिसको वैदिक दर्शन का ढाँचा भलीभाँति विदित है। इसे धीर दार्शनिक योगी ही देख या समझ सकते हैं। इसी योनि में अखिल ब्रह्माण्ड का मूल बीज भौतिकात्मा के रूप में विद्यमान है। इसके पहले वे सब केवल आत्मा के रूप में, एक रूप में, त्रिपादामृत रूप में थे।

विशेष

यह ऋचा उत्तर नारायणी पुरुष-सूक्त में है, ऋग्वेद में संकलित नहीं है। तैत्तिरीय मन्त्र-कोश के तृतीय पाद में 'धीराः परिजानन्तियोनिम्' और चतुर्थ पाद में 'मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः' का पाठान्तर है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

प्रजापतिः – प्रजापतिः –पु. प्र.+जनी (प्रादुर्भावे)+'उपसर्गे च संज्ञायाम्' इति ड। प्र+जन्+ड=प्रजा। ब्रह्मणि, सूर्ये। प्रजानां पतिः = प्रजापतिः – षष्ठी–तत्पुरुष समास। प्रजापतिः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। प्रजापतिः = प्रजा का पालक।

चरति – चर्–लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। चरति=विचरता है।

गर्भे – गर्भः –पु. गृ (निगरणे)+'अर्तिगृभ्यां मन्' इति कर्मणि मन्। गृ+मन्। गीर्यते जीवसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिबलात् जठरगह्वरे स्थाप्यते पुरुषशुक्रयोगेणासौ। भ्रूणे, अग्नौ, पुत्रे। गर्भे–सप्तमी विभक्ति, एकवचन। गर्भे=गर्भ में।

अन्तः – अन्तः – अव्यय। अन्+अरन् तुडागमश्च। मध्ये, प्राप्ते, स्वीकारे। अन्तः = मध्य में, अन्दर।

अजायमानः – न+जनी (प्रादुर्भावे)+णिच्+शानच्। अजायमानः = कभी उत्पन्न न होता हुआ।

बहुधा – बहुधा–अव्यय। बहु+'प्रकारे धाच्' धाच्। अनेक प्रकारे। बहुधा=अनेक प्रकार से।

विजायते – वि+जनी (प्रादुर्भावे)–लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। विजायते=विविध रूपों में प्रकट होता है।

योनिं – योनिः – पु. स्त्री. यु (मिश्रणाऽमिश्रणयोः)+नि 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्ला-हात्वरिभ्यो नित्' इति नि। यौति संयोजयति इति। कारणे, जले, उपस्थे। योनिं–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। योनिं=कारण स्वरूप को।

परिपश्यन्ति – परि–अव्यय, पृ+इन्। सर्वतः। परि+दृशिर् (प्रेक्षणे)=लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। परिपश्यन्ति=साक्षात्कार करते हैं।

धीराः – धीरः – त्रि. ईर् (गतौ कम्पने च)+अण्। धियम् ईरयति इति। ई+अण्। धियं राति ददाति इति। रा+क। धर्य्यान्विते, विनीते, पण्डिते। धीराः– प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। धीराः = धीर, ध्यान निष्ठ।

तस्मिन् – तद्–पु. क्ली.–सप्तमी विभक्ति, बहुवचन। तस्मिन्=उसमें।

तस्थुः – ष्ठा (गति निवृत्तौ)–लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। तस्थुः = स्थित हैं।

भुवनानि – भुवनम्–क्ली. भू (सत्तायाम्)+क्युन् 'भू सू धूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि' इन्यत्र क्यून्। भवन्ति अस्मिन् भूतानि इति। जगति, जने, आकाशे। भुवनानि-प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। भुवनानि=ब्रह्माण्ड।



यो देवेभ्यः आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातः नमो रुचाय ब्राह्मये॥20॥

अन्वय

यः देवेभ्यः आतपति। यः देवानाम् पुरः हितः। यः देवेभ्यः पूर्वः जातः। ब्राह्मये रुचाय नमः।

अनुवाद

दिव्य गुण वाला जो पृथ्वी, अग्नि, जल, तेज, वायु आदि को उत्पन्न करने के लिए स्वयं तप करता है, जो पृथ्वी आदि लोकों एवं पंच महाभूतों से भी पहले उनका मूल कारण होकर विद्यमान था, जो तेजोमय सूर्यादि पदार्थों से भी पहले हिरण्यगर्भ रूप से प्रकट होता है, वेद द्वारा प्रतिपादित उस परब्रह्म, स्वयं प्रकाश रूप परमेश्वर को नमस्कार करता हूँ।

व्याख्या

मैं उस ब्रह्म द्वारा उत्पन्न ऊर्जा को नमस्कार करता हूँ, जिसका जन्म देवताओं की उत्पत्ति के पूर्व हुआ है, जो देवताओं का पुरोहित या मार्गद्रष्टा है और जो देव शक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ है। यदि ध्यान से सोचें तो देवताओं की उत्पत्ति के पूर्व प्राणशक्ति के बिना जीवन नहीं है, और यदि जीवन नहीं है तो जीवन के गुण-परिणाम भी नहीं हैं। जीवन के लिए जीवनी शक्ति आवश्यक है। इसके बिना सब कुछ निष्क्रिय है। अतः प्रथम उत्पत्ति प्राण की है। देवता इन्द्रिय सुख के प्रतीक हैं। दृश्य देखने से जो सुख प्राप्त होता है, वह आँखों से सम्बन्धित चेतना को होता है। कान से जो सुनते हैं, उसका ज्ञान उससे सम्बन्धित चेतना को होता है। सुख-दुःख, विचार, कर्म, सभी पदार्थों में द्वैत का अनुभव होता है। सुख-दुःख से तात्पर्य द्वैत की अनुभूति से है। जीवनी-शक्ति परब्रह्म से उद्भूत होती है।

इसी प्रकार जो सूर्य पृथ्वी आदि लोकों के लिए तपता है, जो सबके बीच पुरोहित, प्रवर्तक प्रकाश है, पहले उत्पन्न हुआ।

वह पुरुष जो सात ऋषि रूप तत्त्वों के विकास के लिए तप करता है, जिसकी चर्चा 16वीं ऋचा में भी की गई है, वही बृहस्पति या वाग्पति रूप में देवताओं का पुरोहित या आदि प्राण-रूप है। यहाँ बृहस्पति को ब्रह्म नाम से

पुकारा गया है। यही इध्म रूप में सब देवताओं से पहले उत्पन्न होता है और इन्द्र नाम से पुकारा जाता है। वह रोचिष्मान् अमृतमय प्राणमय इध्मवान् ब्रह्म है। उसको हम नमस्कार करते हैं।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

यः – यद्–पु. प्रथमा विभक्ति, एकवचन। यः = जो।

देवेभ्यः – देवः पु. चतुर्थी विभक्ति, बहुवचन। देवेभ्यः = देवताओं के लिए।

आतपति – आ–अव्यय, आप्+क्विप्। पृषोद, पलोपः। समन्तात्, मर्यादायाम्, ईषदर्थे। आ+तप् (सन्तापे)–लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। आतपति=तप करता है।

देवानां – देवः–पु. षष्ठी विभक्ति, बहुवचन। देवानां=देवताओं का।

पुरोहितः – पुरोहितः–पु. पुर् (अग्रगमने)+क। पुर+दुधाञ् (धारण पोषणयोः)+क्त। पुरः अग्रे दृष्टादृष्टफलेषु कर्मसु धीयते आरोप्यते यः। पुरोहितः–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। पुरोहितः = पुरोहित है।

पूर्वः – पूर्व–त्रि.पूर्व (पूरणे निवासे वा)+अच्। प्रथमे, आदौ। पूर्वः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। पूर्वः = प्रथम।

नमः – अव्यय। नम्+असि। नतौ, त्यागे। नमः = नमस्कार है।

रुचाय – रुचः –पु.–रुच् (प्रीतौ प्रकाशे च)+अच्। दीप्तौ, प्रकाशे, शोभायां। रुचाय–चतुर्थी विभक्ति, एकवचन। रुचाय=स्वयं प्रकाशमान।

ब्राह्मये – ब्राह्म–न. ब्रह्मणः इदम्–ब्रह्मन्+अण्। 'तस्येदं', 'तेन प्रोक्तम्' वा अण् टिलोपः = ब्राह्म। चतुर्थी के अर्थ में वैदिक प्रयोग। ब्राह्मये=ब्रह्म के लिए।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तः देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात् तस्य देवाः असन् वशे॥21॥

अन्वय

देवाः ब्राह्मम् रुचम् जनयन्तः अग्रे तत् अब्रुवन्। एवम् त्वाः यः ब्राह्मणः विद्यात् तस्य वशे देवाः असन्।

अनुवाद

विद्वद्गण परब्रह्म संबंधी तेजोमय ज्ञान को उत्पन्न करते हुए सर्वप्रथम उस परब्रह्म परमेश्वर का ही बखान करते हैं। जो ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् परब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, उसके अधीन समस्त देवगण, उत्तम व्यवहार और दिव्य आत्मिक एवं भौतिक शक्तियाँ रहती हैं।

व्याख्या

जो मनीषी उस परब्रह्म को जानने की इच्छा रखता है और जो उस परम पुरुष को ज्ञान के माध्यम से प्राप्त करता है, वह देवताओं से भी ऊँची अवस्था, आत्म-तत्त्व को प्राप्त करता है। विद्या शब्द ध्यान की एक विशेष अवस्था है, इसका अर्थ होता है 'जानना'। ध्यान की अवस्था में हम जो अनुभव प्राप्त करते हैं वह अनुभव एक जीवन्त अनुभव होता है। वह न विचारात्मक अनुभूति होती है न भौतिक, न आन्तरिक और न बाह्य। वह जीवन्त अनुभव, जिसे हम अपने आप में देखते हैं, एक तो भौतिक तरीके से, जैसे स्नान करते समय जब जल की धारा हमारे शरीर पर से होकर गुजरती है तो हमारा शरीर गीला हो जाता है। पानी पूरे शरीर पर ऊपर से नीचे तक फैल जाता है। शरीर पानी से ढक जाता है और शरीर में पानी के प्रवाह का अनुभव होने लगता है। यह जीवन्त अनुभव है। इसी प्रकार विद्या की जानकारी होना, उसके बारे में सोचना एक पहलू है और ध्यान की अवस्था में उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करना दूसरा पहलू है। यहाँ विद्या का जीवन्त अनुभव होता है। यह जीवन्त अनुभूति ही वास्तविक विद्या है। यह बौद्धिक या विचारात्मक स्तर से नहीं अपितु प्रत्यक्ष, अनुभवगम्य होता है। यह मानसिक और आध्यात्मिक दोनों होता है।

प्रत्यक्ष अनुभूति का दूसरा उदाहरण ईश्वरीय चर्चा को ले सकते हैं। बौद्धिक स्तर पर हम अनेक प्रकार से सोच सकते हैं कि ईश्वर होता है, नहीं

होता है, वह ऐसा होता है, वैसा होता है आदि। किन्तु यदि वह हठात् सामने प्रत्यक्षत: खड़ा हो जाए, तो वह एक प्रत्यक्ष उदाहरण कहलायेगा।

हम लोगों को प्रथमत: किसी बात की बौद्धिक जानकारी होती है। किन्तु पूर्णत: विश्वस्त हो जाने के बाद प्रयास करते-करते यदि वास्तव में प्रत्यक्षत: दर्शन हो जाए तो वह जीवन्त अनुभूति होती है।

आत्मज्ञान पाने के लिए आत्म-शोध के मार्ग पर चलता हुआ, खोजते-खोजते जब मनुष्य उस जीवनी शक्ति, जीवन-तत्त्व के पास पहुँच जाता है, उस उच्च अवस्था का अनुभव करने लगता है तो वह अवस्था देवताओं से भी ऊँची अवस्था होती है। वही कैवल्य-पद की प्राप्ति कहलाती है। कैवल्य प्राप्ति की अवस्था में दैविक, आसुरी और मानवीय गुण नहीं रह जाते हैं। ये तो भौतिक और मानसिक जगत् के तत्त्व हैं, जिसे अन्नमय, मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोश कहा जाता है। इन कोशों में ही दैविक, आसुरी और मानवीय गुणों की अनुभूति होती है। जो व्यक्ति कैवल्य पा लेता है, अपने व्यक्तित्व की सीमा से ऊपर चला जाता है, उसे इन गुणों का अनुभव ही नहीं हो पाता है। ये सभी गुण नीचे ही रह जाते हैं। उस समय का व्यापक दृष्टिकोण ही कैवल्य की अनुभूति होती है। दृष्टिकोण की व्यापकता को सात मंजिले इमारत के उदाहरण से समझा जा सकता है। इस विशाल आश्रम भवन के सबसे नीचे हिस्से में रहने पर भूमि, पेड़-पौधे आदि के प्रति हमारा दूसरा दृष्टिकोण होता है। सभी वस्तुएँ सामने, एकदम समीप, प्रत्यक्षत: दिखलाई देती हैं। पेड़ हमारे सामने में सबसे ऊँचे होते हैं। भवन हमारे सामने बड़ा, लम्बा-चौड़ा, हमसे ऊँचा होता है। उससे ऊपरी मंजिल पर चढ़ जाने पर पेड़, भवन की अवस्था वही रहती है, किन्तु हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। पेड़ और भवन हमारे बराबर में दिखलाई देने लगते हैं, भवन अतिशय छोटा दिखता है। ऊपर चढ़कर हम उस स्थान के आस-पास के ज्यादा विस्तृत दृश्य का अवलोकन करने लगते हैं। एक सीमित अनुभव व्यापकता में बदल जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति जब उस जीव-तत्त्व का अनुभव करता है तो वह धरातल से ऊपर उठकर उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है, उच्चतम चेतना को प्राप्त कर लेता है। यही 'कैवल्य पद' है। यह गुणातीत, असीम अवस्था है।

जो ब्रह्मनिष्ठ मनीषी उस परम पुरुष को ज्ञान के माध्यम से प्राप्त करता है, उस तेजोमय ज्ञान की अनुभूति कर, परब्रह्म सम्बन्धी उस तेजोमय ज्ञान का, 'रुचममृतत्वं वै रुग्', 'प्राणो वै रुक्' 'प्राणेन हि रोचते' (श.ब्रा. 7-4-2-21,

7-5-2-12) त्रिपादामृत रूप और प्राण रूप का विकास करते हुए, ब्रह्म के इन ब्राह्मणों या ब्राह्म-विकास को समझ लेता है, वह इन सभी देवताओं और तत्त्वों के विकास को भली-भाँति समझने लगता है। वह ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी मनीषी हो जाता है। सभी देवता उसके वश में हो जाते हैं।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

रुचं – रुच: –पु. द्वितीया विभक्ति, एकवचन। रुचं=परब्रह्म सम्बन्धी तेज को।

ब्राह्मं – द्वितीया विभक्ति, एकवचन। ब्राह्मम्=परब्रह्म सम्बन्धी।

जनयन्तः – जनी (प्रादुर्भावे)+शतृ। जनयन्त: – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। जनयन्त: = उत्पन्न करते हुए।

अब्रुवन् – ब्रूञ् (व्यक्तायां वाचि)–लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। अब्रुवन्=उपदेश देते हैं।

त्वा – त्वा–त्रि. तन्+विच् 'अनश्च' व:। भिन्ने, अन्यस्मिन् अर्थे, सर्वनामानम्।

एवं – एवं–अव्यय। इण्+वमु। सादृश्ये, इत्थं प्रकारे, स्वीकारे, प्रश्ने। एवं=इस प्रकार।

विद्यात् –विद् (ज्ञाने)–विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन। विद्यात्=जानता है।

असन् – अस् (भुवि)–लट् लकार के अर्थ में वैदिक प्रयोग। असन्=रहती हैं।

वशे – वश: पु., क्ली. वश् (स्पृहायाम्)+अच्। वष्टि इति। आयत्ते, प्रभुत्वे। वशे–सप्तमी विभक्ति, एकवचन। वशे=वश में।



श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ अहोरात्रे
पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुंमेऽइषाण सर्वलोकं मेऽइषाण ॥22॥

अन्वय

श्री: च लक्ष्मी: च ते पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम्। अश्विनौ व्यात्तम् इष्णन् इषाण। अमुम् मे इषाण। सर्वलोकं मे इषाण।

अनुवाद

हे परमेश्वर! श्री और लक्ष्मी तेरी दोनों शक्तियाँ संसार का पालन करने वाली अहोरात्र रूपी तुम्हारी दो पार्श्व हैं। सब नक्षत्र तुम्हारे प्रतिरूप हैं। आकाश और पृथ्वी दोनों खुले मुख के समान हैं। तुम ही समस्त जगत् को प्रेरित कर रहे हो। उस परम-प्राप्तव्य मोक्ष-पद को मुझे प्राप्त करा दो। मुझे समस्त लोक, ज्ञान-विज्ञान का सुख प्रदान करो।

व्याख्या

हे परब्रह्म परमेश्वर! सबको आश्रय देने वाली और सबमें तुझे व्यापक और शक्तिमान् दिखाने वाली श्री और लक्ष्मी, तुम्हारी दोनों शक्तियाँ संसार की पालनहारी पत्नी स्वरूपा हैं। दिन और रात दोनों तुम्हारे पार्श्व हैं। जब तुम साक्षात् होते हो तब हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो जाना दिन के समान है और तामस-आवरण से जब तुम प्रत्यक्ष नहीं होते हो तब रात्रि है। जैसे नक्षत्रगण सब सूर्य के रूप हैं, उसी प्रकार सब तेजोमय पदार्थ परमेश्वर के प्रतिरूप हैं। आकाश और पृथ्वी दोनों जबड़े वाले खुले मुख के समान हैं। तुम ही समस्त जगत् को प्रेरणा दे रहे हो। तुम सबको प्रेरित करो। उस परम प्राप्तव्य मोक्ष-पद को मुझे प्राप्त करवा दो और मुझे समस्त लोक-लोकान्तर, समस्त दर्शन, ज्ञान-विज्ञान और समस्त लोकों का भोग्य-सुख प्रदान करो।

यहाँ जीवनी-शक्ति की प्राप्ति के लिए आराधना की गई है। सूर्य रूपी जीवनी-शक्ति जिसके कारण सृष्टि क्रियान्वित होती है, वही सृष्टि की संरक्षणकर्ता है। सौभाग्यदायिनी लक्ष्मी व्यक्ति की कामना, यश और समृद्धि की पूर्ति करती है। दिन-रात, प्रकाश-अंधकार, विद्या-अविद्या, जागृति-सुषुप्ति उसके दायें-बायें अंग हैं। चाँद-तारे, ग्रह-नक्षत्र सब उसी के रूप हैं।

अश्विनी कुमार, जो देवताओं के वैद्य हैं, जिनका काम है चिकित्सा करना, वे उपचार-शक्ति, आरोग्य दायिनी शक्ति के रूप में मुख में निवास करते हैं। वही आरोग्य प्रदाता हैं। इन सभी तत्त्वों से युक्त परब्रह्म हमारी अभिलाषा पूर्ण करे, यहाँ यही प्रार्थना की गई है।

इस ऋचा में श्री: नाम यज्ञ, दर्शन और शिर का है। यज्ञ और दर्शन के रूप में श्री: शब्द पूरे यज्ञ और दर्शन के सभी तत्त्वों का प्रतिनिधि है। सम्पूर्ण यज्ञ, दर्शन एक यूप, स्तूप है। इस यूप को 'अष्टाश्रि:' कहते हैं। जब श्री: शब्द का अर्थ शिर होता है तब यह गायत्री, ब्रह्म तथा पूर्वार्द्ध का सूचक होता है।

'यज्ञस्य यो उत्तर (उत्तरायण:) आधार: श्रीर्वैशिर: श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति असौ अमुस्यस्यार्द्धस्य शिर इत्याहु:' (श.ब्रा. 1-4-1-5) तथा 'चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री तस्या एष शिर:, श्रीर्वैशिर: श्रीर्हि वैशिर:' (श.ब्रा. 4-2-3-20), 'सोऽष्टाश्रि: कर्तव्य: अष्टाश्रिर्वै वज्र:' (ऐ.ब्रा. 5-1-1), 'अष्टाश्रिर्यूपो भवति' (श.ब्रा. 5-1-1-6-5)।

यहाँ श्री पूर्वार्द्ध है और लक्ष्मी उत्तरार्द्ध। लक्ष्मी नाम लक्ष्मीवती, लक्षणवती और चिह्नवती का है।

पूर्वार्द्ध अमूर्त, अरूप, अलिंग, आध्यात्मिक और अलक्ष्म है, वह केवल श्री रूप, एक रूप है। उत्तरार्द्ध मूर्त है, रूप है, सलक्ष्म है, सलिंग है, भौतिक है, सर्वलोकमय है, अत: लक्ष्मी, लक्ष्मवान् या लक्ष्मवती है 'भद्रैषां लक्ष्मी निहिताधिवाचि' (ऋ. 10-11-2)।

ये श्री: और लक्ष्मी दोनों दर्शन, यज्ञ या पुरुष की दो पत्नी रूप में हैं। एक उजली, दूसरी काली, एक शुक्ल पक्षिणी और दूसरी कृष्ण पक्षिणी, एक दिनस्वरूपिणी, दूसरी रात्रिरूपिणी है।

इनके मध्य बिन्दु अश्विनी हैं, जिनसे रूपम् अर्थात् मूर्त या भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। इस बिन्दु से अगल-बगल, उत्तर-दक्षिण की ओर (पार्श्वे), अश्विनी से उलटे-सुलटे नक्षत्र गणना करके, प्रत्येक तत्त्व एक नक्षत्र का प्रतिनिधि होता है। पूर्वार्द्ध में कृत्तिका से रेवती तक द्विधा नक्षत्र गणना की जाती है। यही 'पार्श्वे नक्षत्राणि' का भाव है। ये सब तत्त्व व्यत्त अर्थात् व्यापक हैं। इनकी व्यापकता अर्थात् विवृतता रूप फल प्राप्ति की इच्छा करते हुए प्रार्थना की गई है कि 'हे परब्रह्म परमेश्वर! तुम मेरे लिए पूर्वार्द्ध (अमुम्) और उत्तरार्द्ध (सर्वलोकं) दोनों लोकों की प्राप्ति की कामना करो और मुझे समस्त लोक-लोकान्तरों का भोग्य सुख देकर मोक्ष प्रदान करो।

विशेष

यह ऋचा ऋग्वेद में संकलित नहीं है। यजुर्वेद में उत्तर-नारायणी पुरुष सूक्त में 22वीं और अन्तिम ऋचा है। तैत्तिरीय मन्त्र कोश में भी यह अन्तिम है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ

श्रीः – श्रीः – स्त्री. श्रिञ् (सेवायाम्)+क्विप्। 'क्विवचिप्रच्छीति' क्विप्, दीर्घश्च। हरिं श्रयति इति। शोभायां, वाण्यां, धर्मार्थकामेषु, लक्ष्म्यां, सम्पत्तौ, बुद्धौ, सिद्धौ। श्रीः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। श्रीः = श्री, शोभा।

लक्ष्मीः – स्त्री. लक्ष् (दर्शने अंकने च)+मुत्+ई। 'लक्षेर्मुट् च' इति ई प्रत्ययो मुडागमश्च। लक्षयति पश्यति उद्योगिनम् इति। कान्तौ, सम्पतौ, द्रव्यै, विष्णोः पत्न्याम्। लक्ष्मीः – प्रथमा विभक्ति, एकवचन। लक्ष्मीः = सम्पत्ति।

पत्न्यौ – पत्नी–स्त्री., पतिः – पु. पा (पाने), पा (रक्षणे)+ड्ति। पत्युः यज्ञे संबन्धो यया सा पत्नी। 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे' इति नकारादेशः डीप् च। पति्+नुक्+ङीप्। पतिकृतयज्ञवत्यां विधिना ऊढायां योषिति। पत्न्यौ–प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। पत्न्यौ=स्त्रियाँ।

अहोरात्रे – अहोरात्रः – पु.। अहः – अहन्-क्ली. अह (गतौ), अह् (दीप्तौ) न+हन्–(हिंसागत्योः) न+ओहाङ् (गतौ), न+ओहाक् (त्यागे)+कनिन्। न जहोति सर्वथा परिवर्तमानत्वात् न त्यजति इति अहः। रात्रम्–क्ली. रात्रिः–स्त्रीः। रा (दाने)+त्रिप् 'राशदिभ्यां त्रिप्' इति त्रिप्। राति ददाति कर्मेभ्योऽवसरं निद्रादिसुखं वा इति रात्रिः। अहोरात्रः – अहश्च रात्रिश्च द्वयोः समाहारः। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'। 'अहः सर्वैकदेशेति' टच्। अहोरात्रे–प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। अहोरात्रे=दिन और रात।

पार्श्वे – पार्श्वः – त्रि. स्पृश्+श्वण् धातोः पृ आदेशश्च। पर्शू+णस्=पार्श्व। समीपे, पाशे, चक्रे। पार्श्वे-प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। पार्श्वे=पार्श्व हैं।

नक्षत्राणि – नक्षत्रम् – क्ली. णक्ष् (गतौ)+अत्रन् 'अभिनक्षियजि वधि-पतिभ्योऽत्रन्' इति अत्रन्। ष्ट्रन् प्रत्यये सति 'नम्राण्नपादिति' निपातितः। नक्षत्राणि–प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। नक्षत्राणि=नक्षत्र।

रूपम् – रूपम् – क्ली. रू (शब्दे)+'स्वष्पशिल्पशष्पेति' प, दीर्घश्च। रूयते कीर्त्यते, रौति इतिवा, रूपयति इति। रूप्+अच्। रूप्+क। शब्दे, स्वभावे, सौन्दर्ये, पशौ, नाम्नि। रूपम्–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। रूपम्=रूप है।

अश्विनौ – अश्विन्–पु. अश्वः – पु. अशू (व्याप्तौ)+'अशूप्रुषिलटीति' क्वन्। अश्–क्वन्। अश्नुते मार्गं व्याप्नोति इति अश्वः। घोटके। प्रशस्ता अश्वाः सन्ति ययोः – इनि – अश्व+इनि। अश्विन्याम् जातौ। 'सन्धिवेलेत्यणो', 'नक्षत्रेभ्यो बहुलमिति' लुकि, लुक्तद्धित लुकीति ङीपो लुक्। अश्विनी कुमारौ, देवभिषजौ। अश्विनौ–प्रथमा विभक्ति, द्विवचन। अश्विनौ=अश्विनी कुमार।

व्यात्तम् – वि+आ+अद् (भक्षणे)+क्त। व्यात्तम्–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। व्यात्तम्=खुले मुख के समान।

इष्णन् – इष् (गतौ, सर्पणे च), इष् (वांचायाम्), इष् (पौनः पुन्ये),इष् (इच्छायाम्)+शतृ। इष्णन्–प्रथमा विभक्ति, एकवचन। वैदिक प्रयोग। इष्णन्=प्रेरित करते हुए।

इषाण – इष् (इच्छायाम्) – लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन के रूप में वैदिक प्रयोग। इषाण=प्राप्त कराओ, प्रेरित करो।

अमुम् – अदस्–पु.– द्वितीया विभक्ति, एकवचन। अमुम्=उसको।

मे – अस्मद्–त्रि.–चतुर्थी विभक्ति, एकवचन–मह्यम्, मे। मे=मेरे लिए।

सर्वलोकं – सर्वः पु. सर्व (सर्पणे)+अच्। लोकः – पु. लोक् (दीप्तौ), लोक् (दर्शने)+घञ्। लोकयति इति, लोकयते इति। सर्वेषां लोकानां समाहारः। सर्वलोकं–द्वितीया विभक्ति, एकवचन। सर्वलोकं=समस्त लोकों को।



नोट

नोट



सन् 2013 में बिहार योग विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर बिहार योग परम्परा के मौलिक प्रकाशनों को 'स्वर्णिम संग्रह शृंखला' के नाम से पुनर्प्रकाशित किया गया है।

इस शृंखला के अंतर्गत यह तीसरी पुस्तक, श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती और स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती की वेद, योग तथा तंत्र दर्शन सम्बन्धी रचनाओं का स्वर्णिम संकलन है।



ISBN : 978-93-81620-59-5